UNIVERSAL
LIBRARY
OU_186597
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 551.1 / V 33 B Accession No. G.H. 1829

Author वशिष्ठ, रामस्वरूप

Title भूगोल के दार्शनिक आधार

This book should be returned on or before the date last marked below.

भूगोल के भौतिक आधार

सादर समालोचनार्थ

☞ हमारा उपयोगी साहित्य ☜

प्रेमचन्द	(जीवन और कृतित्व)	हंसराज 'रहबर'	६॥)
सुमित्रानन्दन पन्त	(काव्यकला और जीवन-दर्शन)	शचीरानी गुर्टू	६)
महादेवी वर्मा	,, ,,	शचीरानी गुर्टू	६)
महाकवि सूरदास		नन्ददुलारे वाजपेयी	४)
आलोचक रामचन्द्र शुक्ल		गुलाबराय तथा स्नातक	६)
हिन्दी कविता में युगान्तर		डा. सुधीन्द्र	८)
साहित्य, शिक्षा और संस्कृति		डा. राजेन्द्र प्रसाद	५)
रोमाण्टिक साहित्य-शास्त्र		देवराज उपाध्याय	३॥।)
काव्य के रूप		गुलाबराय	४॥।)
सिद्धान्त और अध्ययन		गुलाबराय	६)
हिन्दी-काव्य-विमर्श		गुलाबराय	३॥)
हिन्दी के नाटककार		जयनाथ 'नलिन'	५)
कहानी और कहानीकार		मोहनलाल 'जिज्ञासु'	३)
हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति		स्नातक तथा सुमन	३)
समीक्षायण		कन्हैयालाल सहल	३)
साहित्य-विवेचन		सुमन तथा मल्लिक	७)
प्रबन्ध-सागर		यज्ञदत्त शर्मा	५॥)
आदर्श पत्र-लेखन		यज्ञदत्त शर्मा	७॥)
जीवन-स्मृतियां		क्षेमचन्द्र 'सुमन'	३)
कला और सौन्दर्य		रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख'	३॥।)
मैंने कहा		गोपालप्रसाद व्यास	३)
प्रगतिवाद की रूपरेखा		मन्मथनाथ गुप्त	७)
मैं इनसे मिला		पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'	किश्त १, २॥); किश्त २, ३॥)
साहित्य-जिज्ञासा		ललिताप्रसाद शुक्ल	३)
भारत का चित्रमय इतिहास		महावीर अधिकारी	६)
कामायनी-दर्शन		सहल तथा स्नातक	४)
आपका मुन्ना	(प्रथम भाग)	सावित्री देवी वर्मा	३॥)
आपका मुन्ना	(द्वितीय भाग)	सावित्री देवी वर्मा	५)
आपका मुन्ना	(तृतीय भाग)	सावित्री देवी वर्मा	६)
बालक का भाव-विकास		एस. पी. कनल	५)
शिक्षालय की घाटियों में		श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार	५)

आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली ६

भूगोल
के
भौतिक आधार

लेखक
रामस्वरूप वशिष्ठ

सादर समालोचनार्थ

१९५३
आत्माराम एण्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता
काश्मीरी गेट
दिल्ली ६

प्रकाशक
रामलाल पुरी
आत्माराम एण्ड संस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

मूल्य छः रुपये

मुद्रक
अमरजीतसिंह नलवा
सागर प्रेस
काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

भूमिका

पृथ्वी मनुष्य का रहस्यमय घर है । इस घर में मानव को भोजन, वस्त्र आवास आदि अनेक सुख-सुविधाये प्राप्त है । फिर क्या आश्चर्य कि मानव को इस धरती से गहरा प्रेम हो । अपनी इस कौतूहलपूर्ण क्रीड़ाभूमि पृथ्वी के बारे मे अधिकाधिक जानने की इच्छा मनुष्य के मन मे सदा ही बनी रही है । इसी अतृप्त जिज्ञासा के कारण प्रारम्भकाल से ही मानव-मन में मन्थन होता आया है । हमारा पृथ्वी सम्बन्धी ज्ञान इसी जिज्ञासा का परिणाम है ।

केवल जिज्ञासा इस ज्ञान की विधातृ भले ही रही हो, किन्तु जिज्ञासा-पूर्ति के अतिरिक्त यह ज्ञान हमारे लिए लाभप्रद भी है । भौतिक वातावरण मानव-जीवन पर काफ़ी महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है । सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री प्रो० सिरिल बर्ट ने मनुष्य और वातावरण का सम्बन्ध बताते हुए लिखा है—"जब तक मिट्टी और जलवायु उपयुक्त नही होगी तब तक बीज न तो अंकुरित होगा और न प्रस्फुटित होगा । फिर मानव की स्थिति तो भिन्न होती है । वह बीज की तरह जड़ नही किन्तु चेतन है । मनुष्य पर वातावरण का प्रभाव तो होता ही है । वह स्वयं भी वातावरण का उपयोग करता है और अपनी ज्ञानवृद्धि करता है । हमें बालकों को ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे वे व्यक्ति और वातावरण का सम्बन्ध भलीभाँति समझ सकें ।" प्रो० सिरिल बर्ट ने यहाँ वातावरण शब्द में भौतिक एवं सामाजिक दोनों प्रकार के वातावरण को सम्मिलित किया है । बहुत से व्यक्ति भौतिक वातावरण के प्रभाव को नगण्य मानते हैं । मेरा विश्वास है कि उनकी धारणा मिथ्या है । सुप्रसिद्ध भूगोलवेत्ता प्रो० ग्रिफथ टेलर के शब्दो में मनुष्य का महत्व चौराहे पर खड़े हुए पुलिसमैन से अधिक नहीं है । वह भौतिक वातावरण के प्रभाव को केवल घटा या बढ़ा सकता है, उसको सर्वथा निर्मूल नहीं कर सकता और न उसे बदल ही सकता है ।

प्रस्तुत पुस्तक व्यक्ति के भौतिक वातावरण के विभिन्न रूपो की व्याख्या करती है । हमारी पृथ्वी कैसी है, इसके विभिन्न आकार-प्रकारों के पीछे क्या रहस्य है, उनसे व्यक्ति का कैसा जीवन प्रस्फुटित होता है, आदि अनेक समस्याओं पर इस पुस्तक में विचार किया गया है । इसीलिए, इसका नाम 'भूगोल के भौतिक आधार' रखा गया है ।

यह पुस्तक भूगोल की पाठ्य-पुस्तिका के रूप में लिखी गई है । अतः कहीं-कहीं पर बात को भलीभाँति समझाने के लिए उसे विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है । कई बार एक ही बात दूसरे अध्यायों में भी आ गई है । मेरी धारणा है कि

पाठ्य-पुस्तकों में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता। वर्ण्य-विषय की गहनता की अनिवार्यतावश कहीं-कहीं पर पुस्तक की भाषा कुछ क्लिष्ट हो गई है। परन्तु पुस्तक जिन कक्षाओं के लिए लिखी गई है उनके लिए सर्वथा उपयुक्त है।

मुझे विश्वास है कि मातृभाषा द्वारा शिक्षा मिलने पर शैक्षणिक स्तर में अभूतपूर्व उन्नति होगी। इसी आशा और विश्वास के आधार पर इस पुस्तक की रचना की गई है। पुस्तक-रचना के समय मैंने इस विषय पर अंग्रेज़ी की प्रायः सभी प्रामाणिक पुस्तकों को पढ़ने का प्रयत्न किया है। मैं उन सभी विद्वानों का अत्यन्त आभारी हूँ। किन्तु जिस सीमा तक पाठ्य-पुस्तक में मौलिकता सम्भव हो सकती है उस सीमा तक यह पुस्तक भी मौलिक कही जा सकती है। कई पारिभाषिक शब्दों के गढ़ने में डा० रघुवीर के शब्दकोष से सहायता ली गई है।

मैं पूज्य प्रो० डा० के० पी० रोड़े, उदयपुर, का अत्यन्त आभारी हूँ जिनके कृपापूर्ण आग्रह एवं आदेश से प्रेरित होकर यह पुस्तक लिखी गई है। अपने मित्रों में मैं प्रो० श्यामस्वरूप जी कुलश्रेष्ठ, महाराणा भूपाल कालेज, उदयपुर, तथा श्री चन्द्रप्रकाश जी भारद्वाज लैक्चरार, जैन हायर सैकण्डरी स्कूल, दिल्ली, का भी आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर अपनी अमूल्य सम्मति प्रदान की।

अन्त में मैं प्रकाशक श्री रामलाल पुरी जी का अत्यन्त आभारी हूँ जिनके हिन्दी-प्रेम एवं सौजन्य के कारण पुस्तक शीघ्र प्रकाशित हो सकी है।

बाज़ार सीताराम, दिल्ली
कार्तिक-पूर्णिमा, संवत २०१०

रामस्वरूप वशिष्ठ

विषय-सूची

खण्ड १. पृथ्वी-परिचय

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	पृथ्वी की उत्पत्ति, आकार और आधार	१–९
२.	पृथ्वी के सौर-सम्बन्ध	१०–२४
३.	भूगर्भ की झाँकी	२५–४०
४.	धरातल की प्रधान रूपरेखा	४१–५२
५.	पृथ्वी के धरातल का इतिहास	५३–६०

खण्ड २. स्थलमण्डल

६.	स्थलमण्डल	६१–७२
७.	भू-आकार और उनका परिवर्तन	७३–७८
८.	भौगर्भिक शक्तियाँ (१) दीर्घकालिक घटनायें	७९–८४
९.	भौगर्भिक शक्तियाँ (२) आकस्मिक घटनायें	८५–१०५
१०.	समतलस्थापक शक्तियाँ (१)	१०६–११६
११.	समतलस्थापक शक्तियाँ (२) नदी	११७–१३०
१२.	समतलस्थापक शक्तियाँ (३) हिम	१३१–१४३
१३.	समतलस्थापक शक्तियाँ (४) लहरें और वायु	१४४–१५३
१४.	मैदान	१५४–१६४
१५.	पर्वत	१६५–१७४
१६.	पठार	१७५–१८१
१७.	तटरेखा	१८२–१८९
१८.	झील	१९०–१९५

सादर समालोचनार्थ

खण्ड ३. वायुमण्डल

१९.	वायुमण्डल	१९६–२००
२०.	वायुमण्डल का तापक्रम	२०१–२१९
२१.	वायुभार और हवायें	२२०–२३३
२२.	वायुमण्डल की आर्द्रता और वर्षा	२३४–२५०
२३.	वायु-विक्षोभ और उनका मौसम पर प्रभाव	२५१–२६३
२४.	जलवायु के अनुसार पृथ्वी के विभाग	२६४–२७५

२५. शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम प्रदेशों में . . २७६–२८०
२६. शीतोष्ण कटिबन्ध के शीतल भागों में . . २८१–२८५
२७. अधिकतम ठण्डे देशों में २८६–२८७

खण्ड ४. जलमण्डल

२८. जलमण्डल २८८–२९६
२९. समुद्र-जल में गतियाँ (१) लहरें और धारायें २९७–३०५
३०. समुद्र-जल में गतियाँ (२) ज्वारभाटा ३०६–३१२
३१. प्रवाल-द्वीप ३१३–३१६
अनुक्रमणिका ३१७–३२१

भूगोल के भौतिक आधार

खण्ड १

पृथ्वी परिचय

पहला अध्याय

पृथ्वी की उत्पत्ति, आकार और आधार

१. ब्रह्माण्ड (Universe)—हमारी पृथ्वी सौरमण्डल या सूर्य के परिवार का एक सदस्य ग्रह है। अनन्त ब्रह्माण्ड में सौरमण्डल जैसे अनगिनत नक्षत्र-मण्डल घूम रहे है। असंख्य नक्षत्र हमारे सूर्य से कई गुना बड़े हैं। इन नक्षत्रों की तुलना में हमारी पृथ्वी इतनी छोटी है जितना मनुष्य के मुकाबले में धूल का एक कण। जेष्ठा नक्षत्र इतना बड़ा है कि उसमें ७,००,००,००,००,००,००० पृथ्वियाँ समा जायँगी। ये नक्षत्र हमसे इतनी दूर हैं कि हम उनके आकार की कल्पना भी नहीं कर सकते। यदि हम एक वायुयान में बैठ कर ४०० मील प्रति घण्टा की गति से बिना रुके चलें, तो चन्द्रमा तक एक महीने में, सूर्य तक २७ वर्षों में और अपने निकटतम तारे (Star) तक ७३०० वर्षों में पहुँच सकेंगे। कुछ तारे तो इतनी दूर हैं कि उनका प्रकाश भी पृथ्वी तक लाखों बर्षों में पहुँच पाता है। प्रकाश की गति प्रति सैकिण्ड १,८६००० मील है। इसलिये ज्योतिषी नक्षत्रों की दूरी प्रकाश वर्षों (Light years) में नापते हैं। सूर्य पृथ्वी से सवा नौ करोड़ मील दूर है। उसके प्रकाश को पृथ्वी तक आने में ८½ मिनट लगते हैं, अतः सूर्य पृथ्वी से ८½ मिनट की प्रकाश-दूरी पर है। पृथ्वी के निकटतम तारे से प्रकाश को पृथ्वी तक आने में ४½ वर्ष लगते हैं, अतः वह तारा हमसे ४½ प्रकाश-वर्ष दूर है।

रात्रि में चमकने वाले प्रकाश-पिण्डों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं:—

(१) **तारे** (Stars) या स्वयं प्रकाशवान पिण्ड—ये पिण्ड अपने-आप ही प्रकाश निकालते रहते हैं। हमारा सूर्य भी ऐसा ही एक तारा है।

(२) **ग्रह** (Planets)—इनमें अपना निजी प्रकाश नहीं होता, किन्तु किसी तारे के प्रकाश को ग्रहण करके प्रतिबिम्बित किया करते हैं। ये ग्रह किसी न किसी तारे की परिक्रमा भी किया करते हैं। हमारी पृथ्वी भी एक ग्रह है।

(३) **उपग्रह** (Satellites)—ये भी स्वयं प्रकाशवान नहीं हैं, किन्तु किसी

तारे के प्रकाश को ग्रहण कर उसे प्रतिबिम्बित करते हैं। उपग्रह किसी ग्रह की परिक्रमा करते है। चन्द्रमा एक उपग्रह है।

२. **सौरमण्डल** (Solar System)—प्रत्येक तारे के चारों ओर कुछ ग्रह चक्कर काटते है। इस तारे और उसकी परिक्रमा करने वाले ग्रहों को मिलाकर एक मण्डल या तारा-परिवार बनता है। ये सभी तारा-मण्डल एक अज्ञात केन्द्र की परिक्रमा किया करते है। हमारा सूर्य भी एक तारा है। नौ ग्रह हमारे सूर्य की परिक्रमा करते है। इन सभी को सौर-मण्डल या सौर-परिवार कहते हैं। सौर-मण्डल भी अन्य तारा-मण्डलों की तरह ७२० मील प्रति मिनट की गति से किसी केन्द्र के चारों ओर दौड़ रहा है।

३. **सौरमण्डल की उत्पत्ति**—सौरमण्डल की उत्पत्ति अत्यन्त रहस्यपूर्ण घटना है। विद्वानों ने इस पहेली को बुझाने के लिए निरीक्षण, तर्क और कल्पना के आधार पर अनेक प्रकार के सिद्धान्त स्थापित किए, परन्तु अभी तक कोई सिद्धान्त सर्वमान्य नही हो सका है। यह तो सभी मानते हैं कि सौर-परिवार का एक सदस्य होने के कारण पृथ्वी की उत्पत्ति सौरमण्डल के अन्य सदस्यों के साथ हुई होगी। परन्तु उत्पत्ति-सम्बन्धी अन्य बातों में बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान सौरमण्डल की उत्पत्ति वायव्य पिण्ड (Gaseous mass) से मानते हैं। दूसरों की राय में सौरमण्डल ठोस उल्का पिण्डों (Meteor) से उत्पन्न हुआ है। सौरमण्डल की उत्पत्ति के बारे में कुछ सिद्धान्त निम्नलिखित है :—

(१) **लाप्लास का नीहारिका सिद्धान्त** (Nebular Theory of Laplace)—१७८६ ई० में फ्रॉस के एक विद्वान् लाप्लास ने सौरमण्डल की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक सिद्धान्त उपस्थित किया। इस सिद्धान्त के अनुसार सूर्य आरम्भ में गैस के एक बहुत बड़े पिण्ड के रूप में फैला हुआ था। गैस के धधकते हुए महापिण्ड को नीहारिका (Nebula) कहते हैं। नीहारिका या धधकते हुए वायव्य महापिण्ड (Gaseous mass) के रूप में सूर्य इतना अधिक फैला हुआ था कि सौरमण्डल के सबसे दूर वाले प्लूटो ग्रह के परिक्रमा क्षेत्र से बहुत आगे तक इसका विस्तार था। यह गैसमय महापिण्ड आकाश (Space) में अपनी धुरी पर घूमता हुआ बड़े वेग से चक्कर लगा रहा था। बड़ी तेजी से घूमने के कारण इसके ऊपरी भाग की गर्मी आकाश में फैलने लगी और ऊपरी भाग ठंडा होने लगा। ठंडा होने के कारण ऊपरी भाग घना होने लगा जिससे इसका आयतन (Volume) घटने लगा। दूसरे शब्दों में महापिण्ड सिकुड़ने लगा। सिकुड़ने के साथ इसके नाचने का वेग भी बढ़ता गया। ऊपरी भाग ठंडा होते-होते काफी घना हो गया, परन्तु भीतरी वायव्य पदार्थ (Gaseous contents) गर्मी से धधकता

रहा। ऊपरी घना भाग अब भीतरी भाग के साथ नहीं दौड़ सका। अतः एक समय ऐसा आया कि ऊपर की एक गोलाकार पट्टी केन्द्रीय पिण्ड से अलग हो गई और उसके ऊपर तेजी से नाचती रही। कालान्तर में यह गोलाकार पट्टी ठंडी होते होते एक पिण्ड के रूप में सिकुड़ गई और केन्द्रीय नीहारिका का चक्कर पूर्ववत् काटती रही। बचे हुए नीहारिका का ऊपरी भाग पहिले की तरह सिकुड़ता रहा और ऊपर लिखे हुए तरीके से उस महापिण्ड में से एक एक करके नौ पिण्ड अलग हो गये। जो पिण्ड नीहारिका से अलग हुए, वे ग्रह कहलाये और अवशेष नीहारिका ग्रहपति सूर्य बन गया। ये पिण्ड आज भी पूर्ववत् सूर्य के चारों ओर नाच रहे हैं। सूर्य अभी तक उसी तरह गर्म है, परन्तु उसके ग्रह ऊपर से काफी ठंडे हो गये हैं। फलतः गैसमय भाग घना होते होते पहिले द्रव अवस्था (Liquid state) में बदला और अन्त में ठोस (Solid) बन गया। हमारी पृथ्वी अभी पूर्णतया ठंडी नहीं हो पायी है। भीतरी भाग अभी द्रव अवस्था में है और धीरे-धीरे सिकुड़ रहा है।

अपनी उत्पत्ति के समय पृथ्वी वायव्य अवस्था में थी और इसका आकार सूर्य के बराबर था। इसके ऊपरी भाग से भी एक कुण्डली (Ring) अलग हो गयी जिसके एकत्र होने पर चन्द्रमा बना। इसी प्रकार अन्य कई ग्रहों में से उपग्रह बने।

(२) **उल्का पिण्डों की नीहारिका का सिद्धान्त**—हम नित्य प्रति आकाश में तारों को टूटते हुये देखते हैं। इन टूटते हुए तारों को उल्का कहते हैं। टूटे हुए तारों के कुछ टुकड़े हमारी पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से खिंचकर पृथ्वी पर गिर जाते हैं। इन टुकड़ों के अध्ययन से पता चला है कि इनमें वे ही पदार्थ है जो हमारी पृथ्वी की चट्टानों में मिलते हैं। अस्तु, लाकयर नामक विद्वान् ने सौरमण्डल के जन्म की कल्पना इन्हीं ठोस उल्काओं से की। इस सिद्धान्त के अनुसार सुदूर अतीत में दो महाकाय तारे आपस में टकराये। इस टक्कर से तारे टूट-फूट गये और जोरदार घर्षण के कारण भीषण ज्वाला उत्पन्न हुई। ज्वाला की अति तीक्ष्ण गर्मी से बहुत से टुकड़े पिघल कर द्रव बन गए और कुछ गैस बनकर बादल की तरह छा गये। परन्तु ये सब आकर्षण-शक्ति के प्रभाव के कारण अलग नहीं हो पाये। इस प्रकार एक बहुत बड़े महापिण्ड का निर्माण हुआ। टक्कर के कारण महापिण्ड घूमने भी लगा और धीरे-धीरे कुण्डलाकार नीहारिका (Spiral Nebula) के रूप में बदल गया। ऐसी कुण्डलाकार नीहारिकायें आज भी आकाश मण्डल में दिखाई पड़ती हैं। कुछ काल के बाद हमारी नीहारिका (Nebula) का ऊपरी भाग ठंडा होकर केन्द्रीय भाग से अलग हो गया। इसी प्रकार धीरे-धीरे नौ भाग अलग हो गये। ये ही नौ भाग नौ ग्रह हैं और केन्द्रीय पिण्ड सूर्य बन गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार अनंत ब्रह्माण्ड के सभी नक्षत्रमण्डल इसी तरह से बने हैं।

(३) **जेम्स जीन्स का ज्वार वाला सिद्धान्त** (Tidal Hypothesis of James Jeans)—इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारंभ में सूर्य गैस का एक विशाल गोला था। अतीत काल में सूर्य से भी कई गुना बड़ा तारा सूर्य के समीप आने लगा। इस तारे के आकर्षण से सूर्य में ज्वार उठा। ज्यों-ज्यों तारा अधिक निकट आता गया, त्यों-त्यों ज्वार की ऊँचाई और आकार बढ़ता गया। धीरे-धीरे तारे की आकर्षण शक्ति सूर्य के आकर्षण से अधिक हो गई। फलतः लम्बाई के आकार में ज्वार का भाग सूर्य

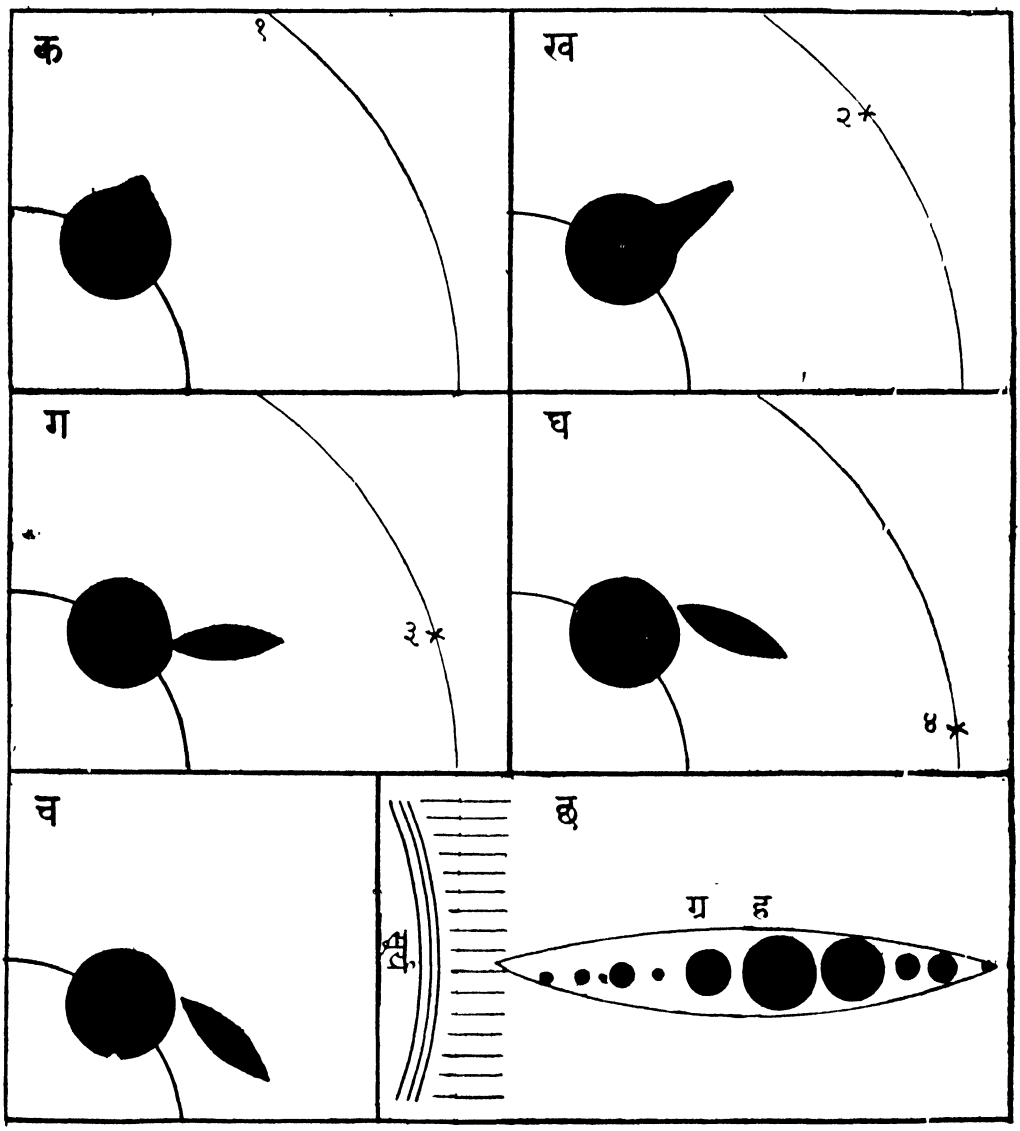

चित्र १. सौरमण्डल की उत्पत्ति।

से अलग होकर तारे की ओर खिंचा। किन्तु अब तारा अपने मार्ग से जाता हुआ सूर्य से दूर निकल गया और सूर्य से टूटा हुआ ज्वार-भाग पीछे ही रह गया। तारे के अधिक दूर हो जाने पर ज्वार-भाग की आकर्षण-शक्ति क्रियाशील हुई और यह भाग सूर्य की

शक्ति से उसके चारों ओर नाचने लगा। यह भाग धीरे-धीरे ठंडा हुआ और इसमें से छिटक कर कई टुकड़े अलग हो गये। ये टुकड़े ही पृथ्वी आदि ग्रह बने। सूर्य के आकर्षण से इन ग्रहों में भी ज्वार आये और टूट कर उपग्रह बन गये।

[जेफरे (Jeffreys) नामक विद्वान् के अनुसार सूर्य के समीप आने वाले विशाल तारे की सूर्य से टक्कर हुई जिससे सूर्य और उस तारे के कुछ अंश आकाश में छिटक गये। इन्हीं से ग्रहों का निर्माण हुआ।]

आज कल ज्वार वाला सिद्धान्त ही अधिक माना जाता है। कई प्रमाणों से इसकी पुष्टि होती है। कुछ प्रमाण निम्नलिखित हैं :—

(१) सूर्य में उत्पन्न ज्वार का आकार सिगार की तरह मध्य में मोटा और दोनों सिरों पर पतला होना चाहिये। सौरमण्डल के ग्रहों की व्यवस्था सिगार के आकार के समान ही है। सूर्य के समीप बुध ग्रह छोटा है। इसके बाद ग्रहों का आकार बड़ा होता जाता है और बीच में बृहस्पति ग्रह सबसे बड़ा है। इसके बाद ग्रह फिर छोटे होने लगते हैं और अन्तिम ग्रह प्लूटो सबसे छोटा है। इस तरह सभी ग्रह यह प्रमाणित करते हैं कि उनका जन्म ज्वार से हुआ है।

(२) उपग्रहों की व्यवस्था भी इसी मत की पुष्टि करती है। जिस ग्रह के कई उपग्रह हैं उनमें बीच वाला उपग्रह सबसे बड़ा है। इससे स्पष्ट है कि ग्रहों और उपग्रहों की उत्पत्ति एक ही तरह हुई।

(३) इस मत के अनुसार बड़े ग्रह अधिक काल तक गैस रूप में रहे, अतः उनके उपग्रह अधिक संख्या में बने परन्तु उनका आकार छोटा रहा। बड़े ग्रहों के आस पास वाले ग्रहों के उपग्रह कम संख्या में बने परन्तु आकार में बड़े बने। सिरे वाले ग्रह (सूर्य के सबसे पास और सबसे दूर वाले ग्रह) आकार में छोटे होने के कारण जल्दी ठंडे होगये। अतः उनके उपग्रह नहीं बने।

४. सौरमण्डल के सदस्य—सौरमण्डल का आदि जनक सूर्य है। समस्त ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। ग्रहों की परिक्रमा के मार्ग अण्डाकार (Elliptical) हैं। सूर्य से ग्रहों का क्रम निम्न है—बुध (Mercury), शुक्र (Venus), पृथ्वी (Earth), मंगल (Mars), अवान्तर (Asteroids), बृहस्पति (Jupiter), शनि (Saturn), अरुण (Uranus), वरुण (Neptune) और कुबेर (Pluto)। इन ग्रहों के उपग्रहों की संख्या इस प्रकार है। पृथ्वी के एक, मंगल के दो, बृहस्पति और शनि के नौ-नौ, अरुण के चार, और वरुण के एक।

५. सूर्य—सौरमण्डल के प्रकाश और गर्मी का मूल स्रोत सूर्य ही है। यदि सूर्य न हो तो हमारे वायु मण्डल की सम्पूर्ण भाप दो दिन में ठंडी होकर पानी या बर्फ के रूप में बदल जायगी और फिर इतनी ठंड पड़ेगी कि (अधिक-से-अधिक) तीन दिन के

वाद चराचर जगत में कोई जीवित न बचेगा। सूर्य का आकार भी अत्यन्त विशाल है। इसका व्यास ८,६०,००० मील के लगभग है। यह व्यास हमारी पृथ्वी के व्यास से १०९ गुना बड़ा है। सूर्य में से तेरह लाख पृथ्वियां बन सकती हैं। विशाल आकार के कारण सूर्य की आकर्षण शक्ति भी अद्भुत है। पृथ्वी पर डेढ़ मन भारी आदमी सूर्य पर ४२ मन का हो जायगा। अर्थात् सूर्य की आकर्षण शक्ति पृथ्वी की शक्ति से २८

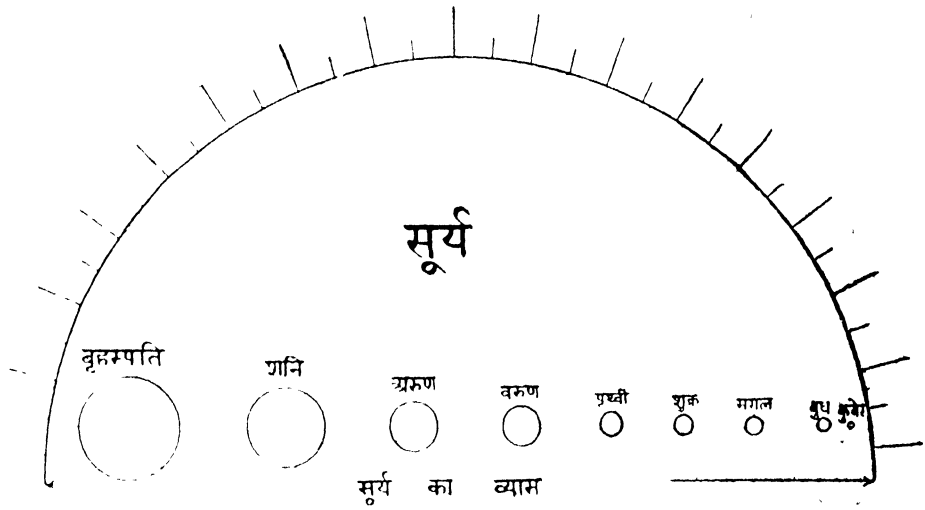

चित्र २. सौरमण्डल के सदस्य अपने-अपने आकार के अनुसार।

गुना अधिक है। इस महान आकर्षण के कारण ही समस्त ग्रह अपने-अपने परिक्रमा-मार्ग या कक्षा (Orbits) में टिके हुए है। ऐसी महान शक्ति के अभाव में सौर-मण्डल न जाने कब का नष्ट होगया होता।

सूर्य का तापक्रम भी कल्पनातीत है। सूर्य के धरातल पर ही तापक्रम लगभग १०,००० फा० है। सूर्य के केन्द्र में न जाने कितनी प्रचण्ड गर्मी होगी। सूर्य के धरातल पर प्रति वर्ग इंच से ५४ अश्वबल (H. P.) की शक्ति निकलती रहती है। अधिक दूरी के कारण इस महान शक्ति का दो अरबवाँ भाग ही हमारी पृथ्वी को प्राप्त होता है। सूर्य पृथ्वी से लगभग ९ करोड़ ३० लाख मील दूर है। यदि हम ६० मील प्रति घण्टा की चाल से दिन रात सूर्य की ओर चलते रहे तो १७५ वर्षों में वहाँ पहुँच सकेंगे।

पहले लोगों का यह विचार था कि सूर्य अपनी कीली पर नहीं घूमता। परन्तु सूर्य के धब्बों और उस पर उठने वाली लपटों के अध्ययन से पता चला है कि सूर्य अपनी कीली पर २७½ दिन में घूम जाता है। सूर्य के धब्बे पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हैं और बीच के धब्बे अधिक तेज चलते हैं। बहुत से लोगों ने सूर्य के धब्बों का सम्बन्ध पृथ्वी की घटनाओं से जोड़ने का प्रयत्न किया है। अमरीका के प्रो० मिचैल का मत है कि यह सम्बन्ध केवल कल्पना की उड़ान है।

६. पृथ्वी का आकार—एक समय था जब लोग पृथ्वी को चपटी समझते थे। परन्तु अब से हजारों वर्ष पहले ही लोग जान गये थे कि पृथ्वी गोल है। बाहरवीं शताब्दी में भारत के प्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्य ने यह सिद्ध किया था कि पृथ्वी गोल है और उसमें आकर्षण शक्ति है। आज तो यात्रा के अनेकों साधन सुलभ हैं। आधुनिक विज्ञानिकों ने न जाने कितनी बार सम्पूर्ण पृथ्वी तल को नाप डाला है।

पृथ्वी के आकार का पता सबसे पहले इराटस्थनीज नामक यूनानी विद्वान ने अब से २२०० वर्ष पहले ही लगा लिया था। यह विद्वान मिस्र देश में रहता था। एक दिन वह अस्वान शहर में था। दोपहर के समय उसने देखा कि सूर्य ठीक सिर पर है। अकस्मात् ही उसे याद आई कि उसने एक वर्ष पहले ठीक इसी दिन सिकन्दरिया में सूर्य को दोपहर के समय ७ अंश झुका हुआ देखा था। उसने अस्वान और सिकन्दरिया के बीच की दूरी मालूम की तथा गणित की सहायता से पृथ्वी की परिधि निकाल डाली। अस्वान से सिकन्दरिया ४८० मील दूर है। पृथ्वी गोल है, इसलिये उसके केन्द्र पर बने समस्त कोणों का योग ३६०° होना चाहिये। ७ अंश के अन्तर ४८० मील का पड़ता है। अतः ३६० अंशों पर $\frac{४८० \times ३६०}{७}$ मील अर्थात् लगभग २५,००० मील का अन्तर होगा।

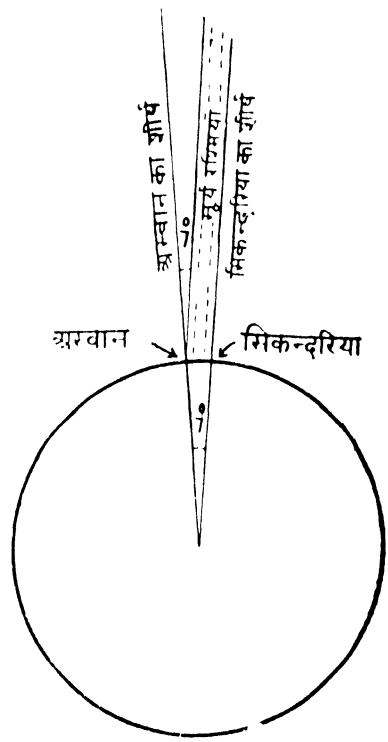

चित्र ३.
पृथ्वी की परिधि नापना।

अस्तु, हमारी पृथ्वी एक बिशाल गोला है। इसका व्यास ७९०० मील है। यदि हम अपनी तुलना आध मील व्यास वाली एक विशालकाय गेंद पर रेंगने वाली मक्खी से करें, तो हमें पृथ्वी की विशालता का कुछ अनुमान हो सकता है। विद्वानों ने सारी पृथ्वी की अनेकों परिक्रमायें लगा कर यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी पूर्णतया गोल नहीं है। इसका आकार नारंगी से मिलता-जुलता है। यह ध्रुवों के पास कुछ चपटी है। भूमध्यरेखा के पास इसका व्यास ७९२६·६ मील है और ध्रुवीय व्यास ७८९९·९ मील है। अर्थात् दोनों व्यासों में २६·७ मील का अन्तर है। इस अन्तर का कारण पृथ्वी की दैनिक गति है। अपनी कीली पर नाचते रहने के कारण भूमध्य रेखा के पास वाला भाग कुछ अधिक बड़ा होगया है और ध्रुवों के आस पास का भाग कुछ नीचे ठस गया है। फलतः भूमध्य रेखा के पास पृथ्वी की परिधि २४९०२ मील है और ध्रुवीय परिधि २४८६० मील

है। दोनों परिधियों में ४२ मील का अन्तर है। यदि हम एक बाल्टी में पानी भरलें और उसमें हाथ डालकर पानी को घुमायें तो पृथ्वी के दोनों भागों का अन्तर साफ तौर से समझ में आजावेगा।

पृथ्वी के सम्पूर्ण धरातल का क्षेत्रफल १९,७०,००,००० वर्ग मील है। धरातल का ७१ प्रतिशत भाग जलमग्न है और शेष २९ प्रतिशत स्थल भाग हैं। सम्पूर्ण धरातल पर लगभग ४०० मील मोटा एक वायव्य परत (Gaseous layer) चढ़ा हुआ है जिसे हम वायुमण्डल कहते हैं।

पृथ्वी के इस विशाल पिण्ड का उसके केन्द्र पर कितना दबाव पड़ता होगा इसकी कल्पना भी हम नही कर सकते। केन्द्र के प्रत्येक वर्ग फुट स्थान पर लगभग ८ करोड़ मन बोझ लदा हुआ है। इस भार से केन्द्र कितना घनीभूत होगया होगा इसका अनुमान लगाना भी अत्यन्त कठिन है।

७. पृथ्वी का आधार—प्राचीन काल में ही पृथ्वी के आधार के बारे में बहुत-सी कल्पनायें की गयी थीं। प्राचीन काल के लोगों की धारणा थी कि कोई न कोई विशाल जीव हमारी पृथ्वी को उठाये हुए है। अलग-अलग देशों के लोगों ने अपने वातावरण के अनुसार पृथ्वी के उठाने के लिये अलग-अलग जानवर ढूंढ़ निकाले। कहीं भैसा तो कहीं सूअर, कहीं कछुआ तो कहीं केंकड़ा पृथ्वी के आधार मान लिये गये। हमारे भारत में भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित रहे। कुछ लोगों के मत से बाराह भगवान ने पृथ्वी को रसातल से निकाल कर जल के ऊपर रख दिया था। दूसरे लोगों के मत से ब्रह्मा जी ने तप करके इस सृष्टि की रचना की और फिर शेषनाग को यह भार सौंपा कि वह अपने फन पर पृथ्वी को उठाये रहे। कुछ लोगों के अनुसार दस दिशाओं में दस हाथी एक विशाल कछुये की पीठ पर खड़े होकर अपनी पीठ पर पृथ्वी के छोरो को उठाये हुए है। ये सभी कल्पनायें बड़ी मनोरंजक हैं।

आधुनिक विज्ञान ने पृथ्वी के आधार की समस्या को सुलझा दिया है। हम नित्य प्रति देखते है कि हम पृथ्वी से बँधे हुए हैं। कोई अदृश्य शक्ति प्रत्येक वस्तु को पृथ्वी की ओर खीच रही है। न्यूटन नामक वैज्ञानिक ने इस शक्ति का नाम गुरुत्वाकर्षण शक्ति रक्खा। न्यूटन के मत से विश्व के प्रत्येक कण में आकर्षण शक्ति है। अनन्त ब्रह्माण्ड का प्रत्येक पदार्थ अन्य सभी पदार्थों को अपनी ओर खींच रहा है। **परस्पर एक दूसरे को खींचने की यह शक्ति वस्तुओं के भार और उनके बीच की दूरी पर निर्भर है।** पदार्थ जितना अधिक भारी होगा, उसकी आकर्षण शक्ति भी उतनी ही अधिक होगी। दो पदार्थों के बीच की दूरी जितनी अधिक होगी, आकर्षण शक्ति भी उतनी ही कम होती जायगी।

हमारी पृथ्वी बहुत विशाल पदार्थ-पिण्ड है। अतः इसकी आकर्षण शक्ति भी अधिक है। पृथ्वी की आकर्षण शक्ति से ही जलमण्डल और वायुमण्डल पृथ्वी पर टिके हुए हैं। यदि पृथ्वी का आकर्षण एक क्षण के लिये भी बन्द होजाय, तो पृथ्वी का समस्त जल और वायु न जाने किस दिशा में विलीन होजाये। पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के कारण कभी-कभी छोटे मोटे ग्रह पृथ्वी की ओर खिचे चले आते हैं वायुमण्डल की रगड़ से इनमें आग लग जाती है और हमें प्रकाश की रेखा-सी खिचती हुई दिखाई पड़ती है। आप पूछ सकते हें कि वायुमण्डल की रगड़ इतनी भयंकर क्यों है ? शायद आपको ज्ञात होगा कि पृथ्वी ६०,००० मील प्रति घण्टे की भयंकर गति से सूर्य के चारों ओर दौड़ रही है। पृथ्वी के साथ ही वायुमण्डल भी इसी गति से दौड़ रहा है। इस प्रचण्ड गति के कारण प्रत्येक बाहिरी पदार्थ का वायुमण्डल से रगड़ खाना स्वाभाविक है।

इसी अद्भुत आकर्षण शक्ति के कारण सौरमण्डल के सम्पूर्ण ग्रह टिके हुए हैं। हम सूर्य के विशाल आकार का वर्णन कर चुके हैं। इस विशाल आकार के कारण सूर्य अपने परिवार के सदस्यों को अपनी ओर खींचता है। इसी आकर्षण शक्ति के प्रभाव से सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाते है। यदि सूर्य की आकर्षण शक्ति कुछ कम हो जाय, तो ग्रहों की उसके चारों ओर चक्कर काटने की गति भी कम हो जायगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर्य और उसके सदस्य ग्रहों की आकर्षण शक्ति के कारण ही सौरमण्डल आकाश में टिका हुआ है। सौरमण्डल ही क्या इस अखिल ब्रह्माण्ड के असंख्य नक्षत्रमण्डल अपनी-अपनी आकर्षण शक्ति के कारण ही टिके हुए है। आकर्षण के समाप्त होते ही सारा ब्रह्माण्ड समाप्त हो जायगा। प्रकृति-नटी के खेल में सूक्ष्म नियम व्याप्त है। इन नियमों के कारण प्रकृति का खेल सुचारु रूप से चलता रहता है। प्रकृति के ये नियम मनुष्य के लिये रहस्य-मय हैं। मनुष्य अनादि काल से इन नियमों को समझने का प्रयत्न करता आया है। इन नियमों का जितना अधिक रहस्य वह जान पाता है, उतना ही प्रकृति का खेल उसकी समझ में आता जाता है। इन्हीं नियमों को जानकर मनुष्य ने अभूतपूर्व उन्नति की है।

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति से ही मनुष्य का दिशा और भार सम्बन्धी ज्ञान विकसित हुआ। प्रत्येक पदार्थ का भार आकर्षण-शक्ति ही निश्चित करती है। इसी शक्ति के द्वारा सीस रेखा (Plumb line) ठीक लम्ब रूप में स्थिर होजाती है।

दूसरा अध्याय

पृथ्वी के सौर-सम्बन्ध

(Planetary Relations of the Earth)

८. **महत्त्व**—हमारी पृथ्वी का सूर्य और चन्द्रमा से विशेष सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध हमारे लिए बहुत महत्त्व का है क्योंकि इसी सम्बन्ध के कारण हमारे जीवन पर विशेष प्रभाव डालने वाली बहुत सी घटनाएँ घटित होती है। उदाहरण के लिए दिन रात का होना, ऋतुएँ बदलना, ज्वार-भाटा आना तथा ग्रहण आदि अनेक घटनाएँ इन सम्बन्धों का प्रत्यक्ष परिणाम हैं। जल-वायु और उससे पैदा होने वाली विशेषताएँ इन सम्बन्धों के अप्रत्यक्ष फल है। अतः प्राकृतिक वातावरण (Natural Environment) को ठीक रूप से समझने के लिए इन सम्बन्धों की जानकारी परमावश्यक है।

पृथ्वी की गतियाँ (Movements of the Earth)

९. **पृथ्वी की दो गतियाँ**—सूर्य, चन्द्रमा आदि तारे हमें क्षितिज के एक ओर से उदय होकर दूसरी दिशा में अस्त होते दिखाई देते हैं। आकाश में यह परिवर्तन नित्य नियमित रूप से होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि (१) या तो पृथ्वी स्थिर है और सूर्य आदि उसकी परिक्रमा करते हैं; अथवा (२) सूर्य और तारे स्थिर हैं और हमारी पृथ्वी ही चक्कर लगाती है। प्राचीन काल में लोगों का विश्वास था कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य आदि उसकी परिक्रमा करते हैं। किन्तु धीरे-धीरे निरीक्षण, कल्पना और तर्क के आधार पर कोपरनिकस, गेलिलियो प्रभृति विद्वानों ने यह नतीजा निकाला कि आकाश में जो परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं वे तभी संभव हो सकते हैं जब पृथ्वी की कम से कम दो भिन्न गतियाँ हों। आज तो उन विद्वानों के अनुमान अकाट्य प्रमाणों द्वारा प्रमाणित हो चुके हैं। अस्तु, पृथ्वी की दो गतियाँ हैं—(१) एक गति के अनुसार पृथ्वी अपनी धुरी पर लट्टू की तरह चक्कर काट रही है। इसे पृथ्वी की दैनिक गति कहा जाता है। (२) दूसरी गति के अनुसार पृथ्वी सूर्य के चारों ओर एक अण्डाकार मार्ग पर, जिसे पृथ्वी की कक्षा (Orbit) कहते है, घूमती रहती है। पृथ्वी की इस गति को उसकी बार्षिक गति कहते हैं।

१०. **पृथ्वी की दैनिक गति या आवर्तन** (Rotation)—हमारी पृथ्वी एक कल्पित धुरी के चारों ओर घूमती रहती है। पृथ्वी किसी धुरी या कीली (Axis) पर टिकी हुई नहीं है। सच तो यह है कि पृथ्वी अपनी जिस काल्पनिक रेखा के चारों ओर घूमती है उसी को धुरी कहा जाता है। धुरी के दोनों सिरों को ध्रुव

(Poles) कहते हैं। अपनी धुरी के चारों ओर निरन्तर घूमते रहने के कारण पृथ्वी ध्रुवों के समीप कुछ चपटी हो गई है और भूमध्यरेखा के पास कुछ ऊँची उठ गई है। इसलिए धुरी पृथ्वी का सबसे छोटा व्यास है।

पृथ्वी को अपनी कल्पित धुरी के चारों ओर पूरा एक चक्कर लगाने में जितना समय लगता है उसको एक दिन कहा जाता है। दिन को २४ भागों में बाँटते हैं और प्रत्येक भाग को एक घण्टा कहते हैं। गोलाई के कारण पृथ्वी का आधा भाग सूर्य के सामने रहता है। और शेष आधा भाग सूर्य की विपरीत दिशा में रहता है। जो भाग सूर्य के सामने रहता है उसमें दिन होता है और जो भाग सूर्य से ओझल रहता है उस में रात रहती है। दिन रात को विभाजित करने वाली रेखा को **प्रकाश-चक्र** (Circle of Illumination) कहते हैं। प्रत्येक स्थान दिन में दो बार प्रकाश-चक्र के पास पहुँचता है। इनमें प्रथम अवस्था को **प्रभात** और दूसरी दशा को **संध्या** कहते हैं।

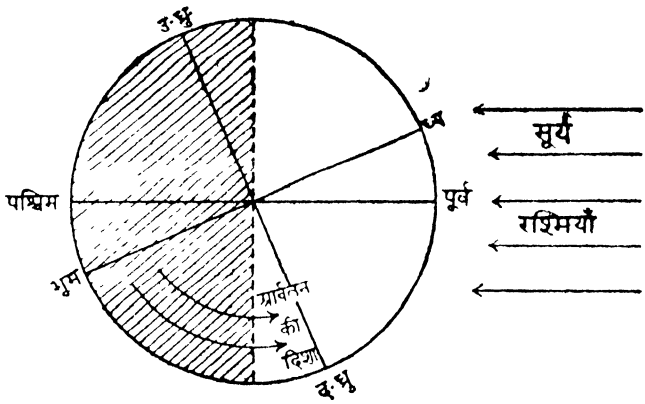

चित्र ४.

चित्र में विन्दुदार रेखा प्रकाश-चक्र है। तीर द्वारा आवर्तन की दिशा बताई गई है। उ. ध्रु. और द. ध्रु. के बीच की रेखा पृथ्वी की धुरी है।

पृथ्वी के सभी भाग समान गति से नहीं घूमते। ध्रुवों के पास तो पृथ्वी की चाल बहुत धीमी होती है, किन्तु भूमध्यरेखा की ओर उसकी चाल बढ़ती जाती है। भूमध्यरेखा पर पृथ्वी की चाल सब से अधिक है क्योंकि यहाँ पृथ्वी को २४ घण्टों में २५,००० मील का चक्कर काटना पड़ता है। पृथ्वी की दैनिक गति **पश्चिम से पूर्व** की ओर होती है।

११. दैनिक गति का प्रभाव—(१) पृथ्वी की दैनिक गति से दिन-रात होते हैं। पृथ्वी के गोले का आधा भाग सूर्य के सामने रहता है जिससे वहाँ प्रकाश रहता है। शेष आधे भाग में अँधेरा रहता है। प्रकाश वाले भाग में दिन और अँधेरे वाले भाग में रात होती है।

(२) इसी गति के कारण हमारे समय का विभाग होता है। जब एक स्थान पर सूर्य दिखाई देता है तो वहाँ प्रातःकाल, सूर्य ठीक सिर पर आ जाने पर मध्याह्न काल और सूर्यास्त होने पर सायंकाल होते है।

(३) इसी गति से हमें दिशाओं का ज्ञान होता है। पृथ्वी के पश्चिम से पूर्व की ओर घूमने के कारण हमें सूर्य पूर्व में निकलता हुआ प्रतीत होता है। क्षितिज में एक दिशा (सूर्योदय का स्थान अर्थात् पूर्व दिशा) निश्चित हो जाने पर क्षितिज को चार भागों में बाँट दिया गया और इस प्रकार चार मुख्य दिशाएँ ज्ञात हुईं। चंद्रमा और अन्य तारों के उदय और अस्त होने की दिशाएँ भी पहली चार दिशाओं के आधार पर निश्चित की जाती हैं।

(४) इसी गति से देशान्तरों का ज्ञान हुआ। पृथ्वी एक गोला है। गोले में ३६० अंश होते हैं। पृथ्वी २४ घण्टे में ३६० अंश घूमती है अर्थात् चार मिनट में एक अंश। यदि भूमध्यरेखा को ३६० भागों में बाँट दें और प्रत्येक भाग को दोनों ध्रुवों से मिलादें, तो ३६० ऐसी रेखाएँ बन जायँगी जिन पर प्रति ४ मिनट बाद सूर्योदय हाता जायगा। इन्हीं रेखाओं को देशान्तर रेखाएँ कहते है।

(५) पृथ्वी के एक विशेष दिशा में घूमने के कारण हवाओं और धाराओं आदि के चलने की दिशा में परिवर्तन हो जाता है। इसका वर्णन हवाओं के साथ किया जायगा।

१२. पृथ्वी की वार्षिक गति (Revolution)—अपनी धुरी पर घूमने के अतिरिक्त पृथ्वी की दूसरी गति भी है। पृथ्वी एक अण्डाकार मार्ग पर सूर्य के चारों ओर चक्कर काटती है। पृथ्वी की इस गति को उसकी वार्षिक गति कहते हैं। पृथ्वी जिस मार्ग से सूर्य के चारों ओर घूमती है उसे पृथ्वी की **कक्षा** या **परिभ्रमण-मार्ग** कहते हैं। पृथ्वी इस मार्ग से इधर-उधर नहीं भटक सकती। यह मार्ग गोल नहीं है किन्तु **अण्डाकार** (Elliptical) है। अण्डाकार आकृति (Ellipse) के दो केन्द्र हुआ करते हैं। पृथ्वी की कक्षा के भी दो केन्द्र हैं। सूर्य इनमें से एक केन्द्र पर स्थित है। इसका परिणाम यह होता है कि एक समय पृथ्वी सूर्य से अधिक दूर चली जाती है। इस स्थिति को **उत्तरायण** या **सूर्य से अधिक दूर होना** (Aphelion) कहते हैं। इस समय सूर्य और पृथ्वी के बीच की दूरी ९ करोड़ ४५ लाख मील होती है। उत्तरायण में सूर्य १८७ दिन रहता है। इस

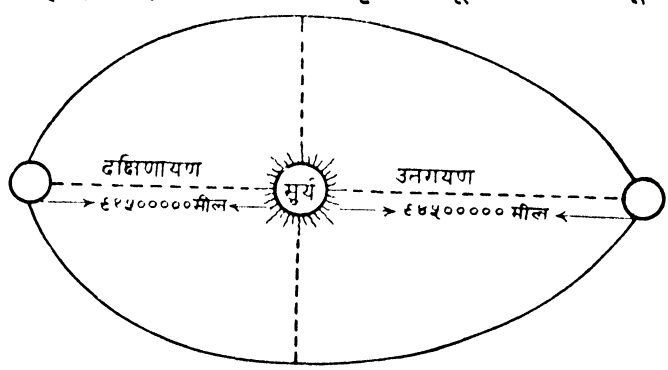

चित्र ५. उत्तरायण और दक्षिणायण।

समय उत्तरी गोलार्द्ध में गर्मी की ऋतु होती है। दूसरे समय पृथ्वी सूर्य के कुछ निकट पहुँच जाती है। इस स्थिति को **दक्षिणायण** या सूर्य की समीपता (Perihelion) कहते हैं। इस समय दोनों के बीच की दूरी ९ करोड़ १५ लाख मील होती है। इस दशा में सूर्य १७८ दिन रहता है। इस समय उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़ा तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में गर्मी होती है। आम तौर पर गणना करने के लिये सूर्य और पृथ्वी के बीच की औसत दूरी ९ करोड़ ३० लाख मील ही प्रयोग की जाती है।

पृथ्वी और सूर्य की बीच की दूरी में घटा-बढ़ी होते रहने से पृथ्वी की परि-भ्रमण-गति (सूर्य के चारों ओर दौड़ने की चाल) भी घटती-बढ़ती रहती है। जब पृथ्वी सूर्य से अधिक दूर रहती है, तो हमें सूर्य की चाल धीमी मालूम होती है।

पृथ्वी अनन्त आकाश (Space) में अपनी कक्षा पर बड़ी तेजी से घूम रही है। इसकी औसत चाल ६०,००० मील प्रति घण्टा है। इस प्रचण्ड चाल के कारण पृथ्वी में सूर्य से विपरीत दिशा में भागने की शक्ति उत्पन्न होती है। यदि हम किसी धागे के एक सिरे पर पत्थर का टुकड़ा बाँध कर और धागे के दूसरे सिरे को पकड़ कर घुमावें, तो हमें इस प्रकार की शक्ति का स्पष्ट अनुभव होगा। इस शक्ति का नाम केन्द्रोन्मुखी शक्ति (Centrifugal force) है। सूर्य की आकर्षण-शक्ति पृथ्वी को अपनी ओर खींचती है, किन्तु केन्द्रोन्मुखी शक्ति उसे विपरीत दिशा में ले जाती है। इन दोनों के संतुलन के कारण ही पृथ्वी अपनी कक्षा में ही घूमती है और इधर-उधर भटक नहीं पाती।

सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाने में पृथ्वी को जितना समय लगता है उसे वर्ष कहते है। सूर्य की एक परिक्रमा करने में पृथ्वी अपनी धुरी पर लगभग ३६५$\frac{1}{4}$ बार घूम जाती है। इसीलिये एक वर्ष में ३६५ दिन होते हैं और प्रति चौथे वर्ष साल में ३६६ दिन होते हैं। इसे लौद की साल (Leap year) कहते हैं।

पृथ्वी की कक्षा के तल (Plane) को क्रान्तिमण्डल या कक्षा-तल (Plane of orbit) कहते हैं। पृथ्वी की धुरी अपने कक्षा-तल पर सीधी स्थित नहीं है किन्तु उसके साथ ६६$\frac{1}{2}$ **अंश का कोण** बनाती है। सूर्य के चारों ओर घूमते समय पृथ्वी को धुरी सदैव एक ही तरफ को झुकी रहती है अर्थात् धुरी के झुकाव की दिशा कभी नहीं बदलती। दूसरे शब्दों में धुरी का झुकाव हमेशा इस प्रकार रहता है कि कक्षा-मार्ग में किसी भी स्थान पर धुरी की स्थिति अन्य सभी स्थितियों के समानान्तर होती है। धुरी का इस प्रकार झुका रहना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसी के कारण दिन-रात छोटे बड़े होते है और ऋतुयें बदलती हैं।

१३. पृथ्वी की वार्षिक गति का प्रभाव—(१) दिन-रात छोटे-बड़े होना—यदि पथ्वी की धुरी अपने कक्षा-तल (Plane of Orbit) पर समकोण बनाती तो

पृथ्वी की प्रत्येक अक्षांस का आधा भाग प्रकाश में और आधा अंधकार में रहता। फलतः सर्वत्र दिन-रात बराबर होते। किन्तु धुरी के झुकाव के कारण ऐसा नहीं होता। २१ जून को सूर्य कर्क रेखा पर ठीक सिर के ऊपर होता है। इस दिन भूमध्य-रेखा से उत्तरी ध्रुव की ओर प्रत्येक अक्षांस पर प्रकाश का भाग बढ़ता जाता है यहाँ तक कि उत्तरी ध्रुव-वृत्त से उत्तरी ध्रुव तक की अक्षांस रेखाओं पर २४ घण्टे प्रकाश रहता है। इसके विपरीत दक्षिणी ध्रुव की ओर अँधेरे का भाग बड़ा होता जाता है। अन्त में दक्षिणी ध्रुव-वृत्त पर चौबीसों घण्टे अंधेरा रहता है। इस अवस्था को **ग्रीष्म सम्पात** (Sunmer Solstice) कहते हैं।

२३ दिसम्बर की अवस्था २१ जून से ठीक उलटी होती है। दक्षिणी ध्रुव-वृत्त के दक्षिण में सभी अक्षाँसों पर चौबीसों घण्टों तक प्रकाश रहता है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में दिन बड़े और रातें छोटी होती है। इस अवस्था को **शरद-सम्पात** (Winter Solstice) कहते हैं।

(२) वार्षिक गति का मुख्य परिणाम ऋतुओं का बदलना है—दिये हुये चित्र को ध्यान से देखो। इसमें पृथ्वी की चार स्थितियाँ दिखायी गयी हैं। २१ जून को सूर्य कर्क रेखा पर ठीक सिर पर है। अतः किरणें लम्बवत् पड़ रही हैं और उत्तरी

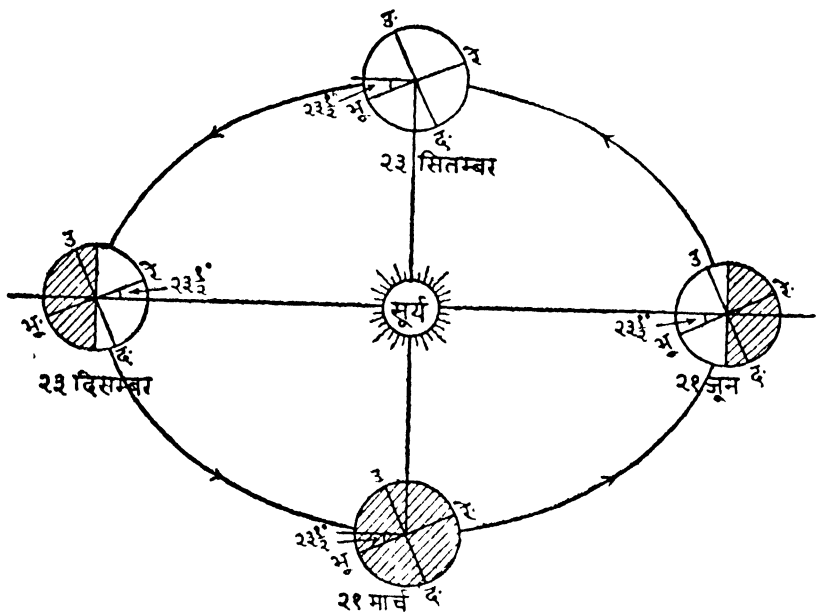

चित्र ६. पृथ्वी की वार्षिक गति और ऋतुयें बदलना।

गोलार्द्ध में गर्मी की ऋतु है। २३ दिसम्बर को दक्षिणी गोलार्द्ध सूर्य के सामने है। अब सूर्य की किरणें दक्षिणी ध्रुव से २३½ अंश आगे तक पहुँच रही हैं, किन्तु उत्तरी ध्रुव तक पहुँच भी नहीं पाती। सूर्य की किरणें इस समय उत्तरी ध्रुव से २३½° दूर

ही रह जाती है। अतः दक्षिणी गोलार्द्ध में गर्मी और उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़े की ऋतु होती है।

२१ मार्च और २३ सितम्बर को पृथ्वी का कोई भाग सूर्य की ओर झुका हुआ नहीं है। सूर्य इस समय भूमध्यरेखा पर सीधा चमकता है और किरणें दोनों ध्रुवों तक पहुँच जाती हैं। इस समय प्रत्येक अक्षांस का आधा भाग प्रकाश में है जिससे समस्त भूमण्डल पर दिन-रात बराबर होते है। इस अवस्था को **समाहर्निश** (Equinox) कहते है। २१ मार्च को **बसन्त समाहर्निश** और २३ सितम्बर को **शरद समाहर्निश** होती है।

(३) वार्षिक गति से अक्षांस और कटिबन्ध बने—धुरी के झुकाव के कारण हमें भूमध्यरेखा तथा चार मुख्य अक्षांस रेखायें प्राप्त होती है। २१ मार्च और २३ सितम्बर को सूर्य जहाँ सीधा सिर पर होता है वहाँ भूमध्यरेखा होती है। २१ जून को जहाँ सूर्य की किरणें सीधी पड़ती है वहाँ कर्क-रेखा (२३½° उत्तर) तथा उत्तरी ध्रुव को पार कर जहां तक किरणें पहुँचें उसको उत्तरी ध्रुववृत (६६½°) कहते है। इसी प्रकार २२ दिसम्बर को मकर-रेखा और दक्षिणी ध्रुव-वृत्त मिले। अब कर्क और मकर अयन रेखाओं के बीच में उष्ण कटि-बन्ध, अयनरेखाओं और ध्रुव-वृत्तों (Arctic and Antarctic Circles) के बीच शीतोष्ण कटिबन्ध तथा ध्रुव-वृत्तों और ध्रुवों के बीच शीत कटिबन्ध होता है।

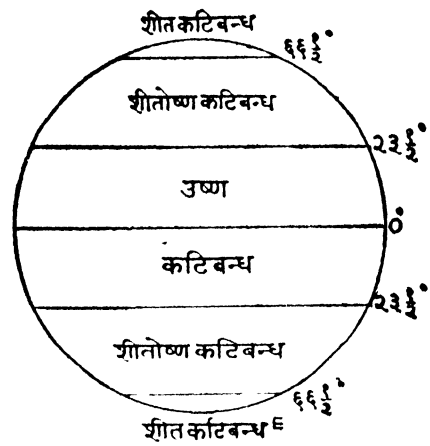

चित्र ७. कटिबन्ध

अक्षांस रेखायें (Latitudes)

१४. अक्षांस क्या है—पृथ्वी के किसी स्थान की स्थिति जानने के लिए हमें भूमध्यरेखा से उसकी दूरी जाननी चाहिए। यह दूरी अक्षाँस रेखाओं द्वारा नापी जाती है। हम जानते है कि पृथ्वी एक गोला है और एक गोले में ३६० अंश होते हैं। भूमध्यरेखा से उत्तरी ध्रुव तक चौथाई वृत हुआ अर्थात् ९० अंश हुए। इसी तरह भूमध्यरेखा से दक्षिणी ध्रुव तक भी ९० अंश हुए। यही कारण है कि उत्तरी ध्रुव का अक्षाँस ९०° उत्तर और दक्षिणी ध्रुव का ९०° दक्षिण होता है। यदि भूमध्यरेखा और उत्तरी ध्रुव के ठीक बीच में एक रेखा भूमध्यरेखा के समानान्तर खींच दी जाए, तो वह ४५° उत्तरी अक्षांस रेखा होगी। इसी प्रकार भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण ९०-९० रेखायें खिंच सकती है इन रेखाओं को अक्षाँस रेखायें कहते है। क्योंकि पृथ्वी की परिधि २५००० मील है, अतः चौथाई परिधि लगभग ६२५० मील हुई अर्थात्

९० अक्षांसों में ६२५० मील हुए और १ अक्षांस में ६९ मील हुए।

१५. सूर्य की ऊँचाई और अक्षाँस—हम पढ़ चुके हैं कि २१ मार्च और २३ सितम्बर को सूर्य भूमध्यरेखा पर सीधा चमकता है। इन दोनों दिन दोपहर के समय सूर्य भूमध्यरेखा पर ठीक सिर पर रहता है। भूमध्यरेखा से हम जितने अंश उत्तर या दक्षिण को जावेंगे, सूर्य ठीक सिर के ऊपर (शीर्ष) से उतने ही अंश नीचे झुका हुआ दिखाई देगा। यदि कोई मनुष्य २१ मार्च या २३ सितम्बर को दोपहर के समय सूर्य को ठीक सिर पर नहीं देखता, किन्तु १०° नीचे को झुका हुआ देखता है, तो वह १०° अक्षाँस पर खड़ा है। क्षितिज से सूर्य की ऊँचाई सैक्सटेन्ट (Sextent) यन्त्र द्वारा नापी जाती है। ९०° में से इस ऊँचाई को घटा देने से सूर्य का झुकाव निकल आता है और यही उस स्थान का अक्षाँस होता है।

परन्तु सूर्य सदैव भूमध्यरेखा पर नही रहता किन्तु उत्तर या दक्षिण की ओर जाता रहता है। २१ जून को सूर्य कर्क रेखा (२३½° उत्तर) पर ठीक सिर पर चमकता है। अतः २१ जून को उत्तरी गोलाई के स्थानों पर सूर्य २१ मार्च की अपेक्षा २३½ अंश अधिक ऊँचा होगा और दक्षिणी गोलार्द्ध के स्थानों पर २३½ अंश नीचा रह जायगा। उदाहरण के लिए यदि तुम उत्तरी गोलार्द्ध के किसी स्थान पर सूर्य को क्षितिज से ५३½° ऊँचा देखते हो, तो ५३½ में से २३½ घटाने पर ३०° रहे जो २१ मार्च को सूर्य की ऊँचाई होती। इस ऊँचाई को ९०° में से घटाने पर सूर्य का शीर्ष से झुकाव या उस स्थान का अक्षाँस मालूम होता है। इस तरह घटाने पर ज्ञात हुआ कि तुम (९०-३०) अर्थात् ६० उत्तरी अक्षाँस पर खड़े हो। इसी दिन दक्षिणी गोलार्द्ध में खड़े हो कर यदि तुम सूर्य की ऊँचाई २१½° नापते हो, तो इसमें २३½ जोड़ने पर ४५° हुये। यह ऊँचाई २१ मार्च को होती। अब ९० में से घटाने पर पता चला कि शीर्ष से सूर्य का झुकाव ४५° है और यही उस स्थान का अक्षांस (४५° द.) निकला। २३ दिसम्बर को सूर्य मकररेखा पर सीधा चमकता है। अतः दक्षिणी गोलार्द्ध में सूर्य २१ मार्च की अपेक्षा २३½ अंश ऊँचा चमकेगा और उत्तरी गोलार्द्ध में २३½ अंश नीचा। इस दिन दक्षिणी गोलार्द्ध अक्षाँस जानने लिये सूर्य की ऊँचाई में से २३½ घटा कर उसे ९० में से घटाओ और उत्तरी गोलार्द्ध के लिए सूर्य की ऊँचाई में २३½ जोड़ कर ९० में से घटाओ।

साल के अन्य दिनों में सूर्य किस अक्षाँस पर ठीक सिर पर है यह जानना जरूरी है। कुछ जंत्रियों में यह लिखा रहता है कि सूर्य अमुक दिन किस अक्षाँस पर है। इन जंत्रियों में भिटेकर की जंत्री (Whitaker Almanac) प्रसिद्ध है। इस अक्षाँस को जानकर निम्न फारमूले का प्रयोग करो :—

९०—(सूर्य की ऊँचाई ± सूर्य वाला अक्षाँस)

यहाँ पर हमें याद रखना चाहिए कि जिस गोलार्द्ध में हम खड़े हैं उसी में सूर्य सीधा चमक रहा हो, तो सूर्य की ऊँचाई में से सूर्य वाला अक्षांश घटेगा। परन्तु यदि सूर्य विपरीत गोलार्द्ध में है तो ऊँचाई में सूर्य वाला अक्षांश जुड़ेगा।

देशान्तर रेखायें (Longitudes)

१६. देशान्तर क्या है—किसी स्थान की स्थिति जानने के लिए अक्षांश रेखायें ही पर्याप्त नहीं हैं। मान लीजिए कोई स्थान १५° उत्तरी अक्षांश पर है। उसे ढूँढ़ने के लिए १५° अक्षांश वृत्त के सहारे-सहारे ग्लोब का पूरा चक्कर काटना पड़ेगा। अतः स्थिति को जानने के लिए उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक रेखायें होनी चाहिए। एक गोले में ३६० अंश होते है। अस्तु, भूमध्यरेखा के ३६० भाग करके प्रत्येक भाग को उत्तरी ध्रुव और दक्षिणी ध्रुव से मिला दिया जाय, तो ३६० रेखायें बन जायँगी। इन रेखाओ को देशान्तर रेखायें कहते हैं। लन्दन के पास ग्रीनविच (Greenwich) होती हुई जो देशान्तर है उसे प्रधान देशान्तर कहते है। इस देशान्तर के पूर्व में १८० अंश तक पूर्वी देशान्तर और पश्चिम में पश्चिमी देशान्तर कहे जाते है। १८०° पूर्वी और पश्चिमी देशान्तर रेखा एक ही है।

जिस प्रकार दो अक्षांश रेखाओं के बीच की दूरी सर्वत्र बराबर होती है उस तरह दो देशान्तर रेखाओं के बीच की दूरी सब जगह बराबर नही होती। भूमध्यरेखा की लम्बाई २५,००० मील है इसलिए भूभध्यरेखा पर देशान्तर के एक अंश में २५०००÷३६०=६९ मील होते है। किन्तु भूमध्यरेखा से ध्रुवों तक अक्षांशों की लम्बाई घटती जाती है, अतः देशान्तर के एक अंश में मीलों की संख्या भी घटती जाती है। उदाहरण के लिए ६०° अक्षांश की परिधि १२,५०० मील ही है। अतः यहाँ देशान्तर के एक अंश में १२५००÷३६०=३४$\frac{१}{२}$ मील ही होंगे। तुम स्वयं किसी अक्षांश की परिधि जानकर वहाँ पर देशान्तर के एक अंश में मील निकाल सकते हो।

१७. देशान्तर और समय—हमारी पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है अतः प्रत्येक देशान्तर बारी-बारी से सूर्य के सामने पड़ता है। प्रत्येक देशान्तर पर एक साथ मध्याह्न होने के कारण देशान्तर रेखाओं को मध्याह्न रेखायें भी कहते है। ३६० देशान्तर रेखाओं पर २४ घण्टे का अन्तर है, इसलिए दो स्थानों में १५ अंश देशान्तर का अन्तर होने पर दोनों के समय में एक घण्टे का अन्तर होगा और १ अंश के अन्तर पर ४ मिनट का अन्तर पड़ेगा।

क्योंकि पृथ्वी पश्चिम से पूर्व की ओर घूम रही है, अतः जो स्थान पूर्व की ओर है वहाँ सूर्य पहिले निकलेगा। मद्रास ८०° पू० देशान्तर पर है। मान लीजिए वहाँ इस समय सुबह के ६ बजे है और अरब सागर में हमारे एक जहाज़ के कप्तान की घड़ी में अभी ५ ही बजे है अर्थात् वहां पर अभी सूर्य निकलने में १ घण्टा बाकी है।

अतः हमने जान लिया कि कप्तान मद्रास से १५° पश्चिम की ओर है अर्थात् कप्तान का देशान्तर ६५° पू० है। इसी प्रकार मान लीजिए जिस समय मद्रास में दोपहर के १२ बजे हैं उसी समय एक कप्तान सूचित करता है कि उसके जहाज़ पर अभी सूर्य अस्त हुआ है और घड़ी में शाम के ६ बजे हैं। निश्चित है कि वह जहाज़ मद्रास से ६×१५=९० अंश पूर्व में है अर्थात् उसका देशान्तर ८०+९०=१७०° पूर्व है।

१८. देशान्तर और प्रामाणिक समय (Longitudes and Standard Time)—प्रत्येक स्थान पर अपने देशान्तर के अनुसार जो समय होता है उसे वहाँ का स्थानीय समय (Local Time) कहते हैं। धूपघड़ी इस को ठीक-ठीक बताती है। परन्तु यदि कोई मनुष्य पूर्व या पश्चिम की ओर यात्रा करे तो उसे प्रत्येक देशान्तर के बाद अपनी घड़ी को ४ मिनट आगे या पीछे करना पड़ेगा जैसा कि बताया जा चुका है, ६०° अक्षांश पर देशान्तर के एक अंश में ३४½ मील ही होते हैं। वहाँ पर ३५० मील चलने के बाद घड़ी में पौन घण्टे का अन्तर पड़ जायगा। यदि प्रत्येक स्थान पर स्थानीय समय ही लिया जाय, तो रेल, तार आदि कार्यों में बाधा उपस्थित हो। इसलिए प्रत्येक देश में एक प्रामाणिक देशान्तर मान ली जाती है और उसका स्थानीय समय ही देश भर का प्रामाणिक समय (Standard Time) माना जाता है। ग्रीनविच का स्थानीय समय सारे ब्रिटेन में प्रामाणिक समय माना जाता है। भारत में ८८½ पू० दे० का समय ही प्रामाणिक समय माना जाता है।

१९. समय-कटिबन्ध या काल-क्षेत्र (Time Zones)—कोई-कोई देश इतने बड़े हैं कि उनमें एक प्रामाणिक समय पर्याप्त नहीं होता। कनाडा और संयुक्त राष्ट्र जैसे देशों में कुछ स्थानों के स्थानीय समय में ४-५ घण्टे का अन्तर पड़ जाता है। समुद्री जहाज़ों को भी प्रत्येक स्थान का स्थानीय समय रखने में बड़ी कठिनाई होती है। इन असुविधाओं के कारण समस्त भूमण्डल को २४ काल-क्षेत्रों (Time Zones) में बाँट दिया गया है। प्रत्येक क्षेत्र में एक ही प्रामाणिक समय (Standard Time) रहता है। इन काल-क्षेत्रों में एक-एक घण्टे का अन्तर रहता है। क्योंकि गोले में २६० अंश होते हैं, अतः प्रत्येक काल-क्षेत्र में १५ अंश देशान्तर होते हैं। कनाडा के लोगों ने अपने देश को ५ क्षेत्रों में बाँटा है, और उनमें ६०°, ७५°, ९०°, १०५° और १२०° प० देशान्तर रेखाओं का समय ही प्रामाणिक समय माना जाता है। योरोप के निवासियों ने अपने महाद्वीप को ३ क्षेत्रों में बाँटा है, और प्रत्येक क्षेत्र में ग्रीनविच के समय से १-१ घण्टे का अन्तर कर दिया है।

२०. अन्तर्राष्ट्रीय तिथिरेखा (International Date Line)—प्रत्येक नया दिन पूर्व दिशा में किसी-न-किसी स्थान से प्रारंभ होता है। परन्तु यह पूर्व

कहाँ पर है इसका कोई ठिकाना नहीं। हम चाहे जिस स्थान से पृथ्वी पर नवदिनारंभ मान सकते हैं। अस्तु, हमें एक ऐसी रेखा माननी पड़ेगी जहाँ से नया दिन प्रारंभ होता हो। लोगो ने यह रेखा १८०° देशान्तर पर होती हुई मान ली है।

मान लो ग्रीनविच (०° देशान्तर) पर मंगलवार ११ दिसम्बर को दोपहर के ठीक १२ बजे हैं तो १६५° पूर्वी देशान्तर पर मंगलवार ११ दिसम्बर को रात के ११ बजे होंगे और १६५° पश्चिमी देशान्तर पर सोमवार १० दिसम्बर को रात का १ बजा होगा। यदि हम १८०° देशान्तर का समय ज्ञात करें, तो १६५° पू० दे० के हिसाब से मंगलवार ११ दिसम्बर की रात के १२ बजे होंगे और १६५° प० दे० के हिसाब से १० दिसम्बर सोमवार की रात के १२ बजे होंगे। इस गड़बड़ी से समुद्र में चलने वाले जहाज़ों को बड़ी कठिनाई होती है। १६५° प० दे० से १८०° दे० की ओर आने वाला जहाज़ अगले दिन को मंगल गिनेगा, जब कि वहाँ पर बुध का दिन होगा। इसी प्रकार १६५° पू० दे० से १८०° दे० की ओर चलने वाला जहाज़ अगले दिन को बुध समझेगा जब कि वहाँ मंगल का दिन होगा।

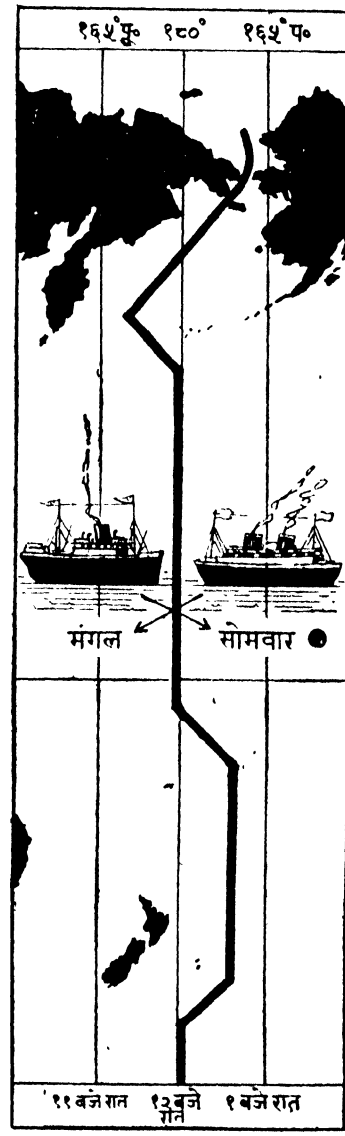

चित्र ८.
अन्तर्राष्ट्रीय तिथिरेखा।

इस गड़बड़ी को दूर करने के लिए संयुक्त राष्ट्र के प्रो० डेविडसन ने विभिन्न देशों से लिखा-पढ़ी की। फिर सब की सम्मति से १८०° देशान्तर पर गुजरती हुई एक रेखा ऐसी मानली जिसके दोनों ओर दो अलग-अलग दिन रहते हैं। इस रेखा को अन्तर्राष्ट्रीय तिथिरेखा कहते है। पूर्व से पश्चिम को जाता हुआ जहाज़ इस रेखा को पार करने पर एक दिन छोड़ देता है। उदाहरण के लिए, यदि एक जहाज़ ४ जनवरी शुक्रवार को इस रेखा को पार करता है, तो वह ५ जनवरी शनिवार छोड़ देगा और अगला दिन ६ जनवरी रविवार होगा। इस जहाज़ की लाग बुक में ४ जनवरी शुक्रवार के बाद ६ जनवरी रविवार मिलेगा अर्थात् यह सप्ताह केवल ६ दिन का ही होगा। इसके विपरीत जब कोई जहाज़ पश्चिम से पूर्व की ओर जाते समय इस रेखा को पार करता है, तो दूसरे दिन भी पहले दिन को फिर गिनता है। जैसे ४ जनवरी शुक्रवार को इस रेखा को पार करनें वाला जहाज़ अगले दिन को भी ४ जनवरी

शुक्रवार ही फिर गिनेगा। जहाज़ की लाग बुक में ४ जनवरी शुक्रवार प्रथम और ४ जनवरी शुक्रवार द्वितीय लिखा जायगा। इस प्रकार यह सप्ताह ८ दिन का होगा।

इस रेखा को पार करते समय रविवार या अन्य छुट्टियों को न तो दोबारा गिना जाता है और न छोड़ा ही जाता है। पूर्व से पश्चिम को जाने वाला जहाज़ शनिवार को इस रेखा को पार करेगा, तो रविवार को नहीं छोड़ेगा बल्कि सोमवार को छोड़ेगा। पश्चिम से पूर्व को जाने वाला जहाज़ इस रेखा को रविवार को पार कर रहा है तो उसका अगला दिन सोमवार प्रथम होगा। उसके बाद सोमवार द्वितीय आयगा।

चन्द्रमा (Moon)

२१. **परिचय**—चन्द्रमा हमारी पृथ्वी का उपग्रह है। इसका व्यास लगभग २,१६० मील है जो हमारी पृथ्वी के व्यास का चौथाई के करीब होता है। पृथ्वी से इसकी औसत दूरी २ लाख ४० हज़ार मील है। यह एक अण्डाकार मार्ग पर पृथ्वी की परिक्रमा करता है और २७ दिन ७ घण्टे में पूरा एक चक्कर काट लेता है। परन्तु इतने समय में पृथ्वी अपनी कक्षा पर कुछ आगे निकल जाती है। इस बढ़े हुए मार्ग को पार करने में चन्द्रमा को कुछ समय और लगता है। इस प्रकार ठीक उसी स्थान पर पहुँचने में चन्द्रमा को लगभग २९½ दिन लगते हैं। इस समय को चान्द्रमास (चन्द्रमा का महीना) कहते है। पृथ्वी की परिक्रमा के साथ-ही-साथ चन्द्रमा अपनी धुरी पर भी घूमता है। अपनी धुरी पर पूरा एक चक्कर लगाने में चन्द्रमा को उतना ही समय लगता है जितना उसे पृथ्वी की पूरी एक परिक्रमा करने में लगता है। इसीलिए पृथ्वी पर से हमेशा चन्द्रमा का केवल एक भाग ही दिखाई पड़ता है।

२२. **चन्द्रकलायें** (Phases of the Moon)—चन्द्रमा स्वयं प्रकाश उत्पन्न नहीं करता, किन्तु सूर्य की रोशनी को प्रतिबिम्बित करता है। चन्द्रमा का आकार गोल है, इसलिए उसके आधे भाग पर सूर्य का प्रकाश पड़ता है और आधा भाग अंधकार में रहता है। चन्द्रमा का प्रकाशमय भाग हमेशा पृथ्वी के सामने नहीं पड़ता। बल्कि यह प्रकाशमान भाग हमेशा घटते-बढ़ते रूप में दिखाई पड़ता है। चन्द्रमा के इस घटते-बढ़ते रूप को चन्द्रकलायें कहते हैं।

अमावस्या के दिन चन्द्रमा की स्थिति पृथ्वी और सूर्य के बीच में होती है। इसलिये चन्द्रमा का सम्पूर्ण प्रकाशमान भाग पृथ्वी की विपरीत दिशा में होता है। ऐसी दशा में पृथ्वी पर से चन्द्रमा बिल्कुल दिखाई नही पड़ता—देखो (१)। दो दिन बाद चन्द्रमा पहली स्थिति से चलकर इतना आगे पहुँच जाता है कि उसके प्रकाशमय भाग का कुछ थोड़ा-सा अंश पृथ्वी पर से हँसिये के आकार-जैसा दीख पड़ता है। इसे द्वितीया का चन्द्रमा कहते है—देखो (२)। ज्यों-ज्यों चन्द्रमा अपने परिक्रमा मार्ग

(Orbit) में आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसका प्रकाशयुक्त भाग हमें अधिकाधिक दिखाई देने लगता है। एक सप्ताह के बाद हमें चन्द्रमा का आधा प्रकाशमय भाग दिखाई देता है। इसे अष्टमी का चन्द्रमा कहते हैं—देखो (३)। इस दिन पृथ्वी से

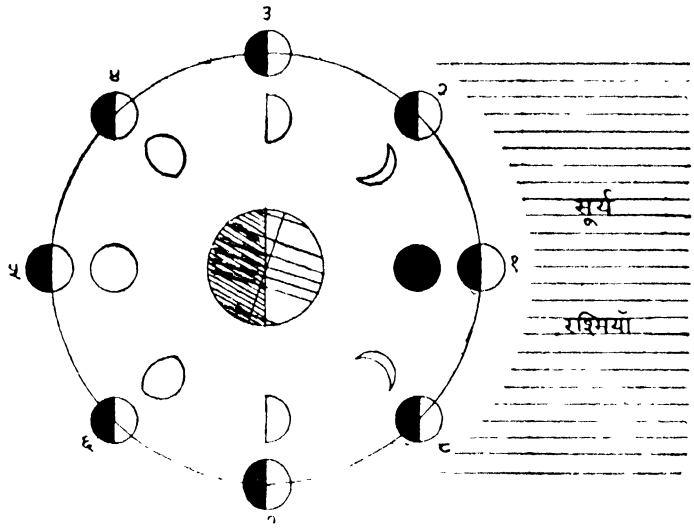

चित्र ९. चन्द्रकलायें।

सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति समकोण पर (At Right Angle) होती है। दूसरे सप्ताह बाद चन्द्रमा फिर पृथ्वी और सूर्य की सीध में पहुँच जाता है। इस दिन सीधी रेखा के एक सिरे पर चन्द्रमा होता है और दूसरे सिरे पर सूर्य। पृथ्वी दोनों के बीच में होती है। इस दिन चन्द्रमा का प्रकाशमय भाग पूर्णतः पृथ्वी के सामने रहता है और हमें पूरा गोल चन्द्रमा नज़र आता है। इस स्थिति को पूर्णिमा कहते हैं—देखो (५)। इस के बाद चन्द्रमा की कलायें घटने लगती हैं। तीसरे सप्ताह बाद फिर आधा चन्द्रमा दिखाई देता है और चौथे सप्ताह बाद पुनः अमावस्या की स्थिति में पहुँच जाता है जब कि वह बिल्कुल नहीं दीखता। यही चक्र निरन्तर चलता रहता है।

२३. **ग्रहण** (Eclipse)—किसी साल में एक समय ऐसा आता है जब सूर्य या चन्द्रमा के प्रकाशमय भाग का कोई अंश थोड़ी देर के लिए अंधकार से ढँक जाता है, ऐसी अवस्था को ग्रहण कहते हैं। चन्द्रमा के अंधकार मे ढँकने पर चन्द्रग्रहण और सूर्य के ढँकने पर सूर्यग्रहण होता है।

हम जानते हैं कि प्रकाश देने वाली प्रत्येक वस्तु से प्रकाश की किरणें चारों ओर सीधी रेखाओं के रूप में दौड़ती हैं जिस से उसके चारों ओर प्रकाश फैलता रहता है। परन्तु यदि प्रकाश देने वाली वस्तु के सामने कोई ठोस चीज़ रख दी जाय, तो ठोस वस्तु के पीछे अँधेरा हो जाता है जिसे छाया कहते हैं। यदि हम किसी

बल्ब या लालटेन के आगे एक तख्ता खड़ा कर दें तो तख्ते के पीछे अँधेरा हो जायगा जिसे तख्ते की छाया कहेंगे। यह छाया एक सिरे से दूसरे सिरे तक एक-सी काली होगी और कहीं भी कम या अधिक काली नहीं होगी। इस छाया की सीमा भी साफ दिखाई देगी। आप जानते हैं कि लालटेन बहुत छोटी-सी प्रकाश देने वाली चीज़ है। परन्तु जब प्रकाश देने वाली चीज़ का आकार बड़ा होता है, तो छाया में भी भेद होजाता है। जब किसी बड़े आकार के प्रकाशोत्पादक पदार्थ के सामने कोई ठोस वस्तु पड़ती है, तो ठोस वस्तु की छाया सब जगह एक-सी काली नहीं होती। इस छाया के बीच में कुछ भाग बिल्कुल काला होता है क्योंकि प्रकाशोत्पादक पदार्थ के किसी भी भाग से वहाँ पर रोशनी नहीं पहुँच पाती। छाया के इस मध्यवर्ती, बिल्कुल काले भाग को प्रच्छाया कहते हैं। प्रच्छाया के दोनों तरफ छाया का वह भाग होता है जहाँ प्रकाशोत्पादक पदार्थ के सम्पूर्ण भाग से तो प्रकाश की किरणें नहीं पहुँचतीं परन्तु उसके कुछ भाग से रोशनी पहुँच जाती है। इसी वजह से छाया के ये दो भाग प्रच्छाया की तरह बिल्कुल काले नहीं होते किन्तु कुछ धुंधले-से बने रहते है। इन भागों को अर्द्ध छाया या उपच्छाया कहते हैं।

आप जानते हैं कि पृथ्वी और चन्द्रमा दोनों में से कोई भी प्रकाशोत्पादक पिण्ड नहीं है। दोनों सूर्य के प्रकाश को प्रतिबिम्बित करते हैं। ठोस पिण्ड होने के कारण दोनों की छाया पड़ती है। हम पढ़ चुके हैं कि दोनों का आकार बहुत बड़ा है और इनको प्रकाश पहुँचाने वाला सूर्य इनसे करोड़ों मील दूर है। फलतः इनकी छाया भी लाखों मील लम्बी पड़ती है। साथ ही प्रकाशोत्पादक सूर्य आकार में इन दोनों से बहुत ज़्यादा बड़ा है। अतः इन दोनों की छाया में प्रच्छाया और उपच्छाया दोनों मौजूद रहती हैं।

२४. **चन्द्रग्रहण** (Lunar Eclipse)—पूर्णिमा के दिन पृथ्वी की स्थिति सूर्य और चन्द्रमा के बीच में होती है जिससे पृथ्वी की छाया चन्द्रमा की तरफ पड़

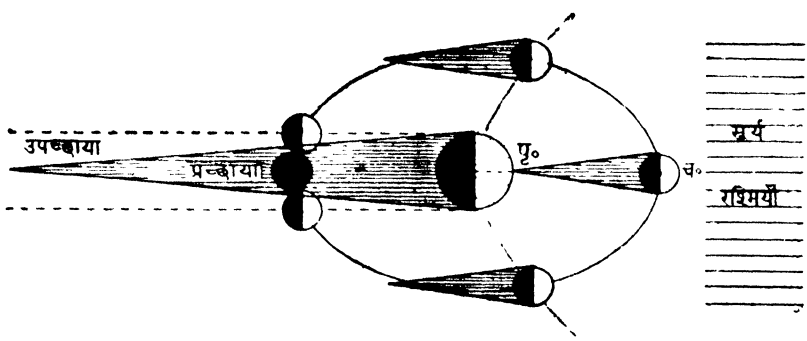

चित्र १०. सूर्य और चन्द्र-ग्रहण।

रही होती है। यदि इस दिन चन्द्रमा उस छाया में होकर गुजरता है तो उसका कुछ

भाग पृथ्वी की छाया में छिप जाता है अर्थात् चन्द्रमा के उस भाग पर सूर्य की रोशनी नहीं पहुँच पाती। चन्द्रमा का यह प्रकाशहीन भाग हमें काला दीख पड़ता है। इसी को चन्द्रग्रहण कहते हैं। कुछ काल बाद चन्द्रमा अपनी कक्षा पर दौड़ता हुआ पृथ्वी की छाया से बाहर पहुँच जाता है और ग्रहण शान्त हो जाता है। यदि चन्द्रमा का सम्पूर्ण भाग पृथ्वी की छाया में छिप जाता है, तो खग्रास या पूर्ण चन्द्रग्रहण कहते हैं। परन्तु जब चन्द्रमा का कुछ भाग ही छाया से ढँक पाता है तो उसे खण्ड-ग्रहण कहते हैं।

चन्द्रग्रहण केवल पूर्णिमा के दिन ही लग सकता है। परन्तु सभी पूर्णिमाओं को ग्रहण नहीं लगता। यदि चन्द्रमा की कक्षा और पृथ्वी की कक्षा एक ही समतल (Plane) में होतीं, तो प्रत्येक पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण और प्रत्येक अमावस्या को सूर्यग्रहण लगता। वास्तव में चन्द्रमा की कक्षा का तल पृथ्वी की कक्षा के तल से ५ अंश का कोण बनाता है। अतः दोनों एक दूसरे को केवल दो स्थानों पर काटते हैं। यदि पूर्णिमा के दिन इन स्थानों पर चन्द्रमा हो और पृथ्वी बिल्कुल सामने पड़े तो ग्रहण अवश्य लगेगा। परन्तु सदैव ऐसा नहीं हो पाता। प्रायः पृथ्वी की छाया चन्द्रमा की अगल-बगल होकर निकल जाती है और ग्रहण नहीं पड़ता।

२५. **सूर्यग्रहण** (Solar Eclipse)—अमावस्या के दिन चन्द्रमा की स्थिति सूर्य और पृथ्वी के बीच में होती है अतः चन्द्रमा की छाया पृथ्वी की ओर पड़ रही होती है। चन्द्रमा आकार में पृथ्वी से बहुत छोटा है अतः उसकी छाया का विस्तार भी छोटा होता है। यह छाया पृथ्वी के बहुत थोड़े से भाग तक ही पहुँच पाती है। पृथ्वी के जिस भाग में यह छाया पहुँच जाती है वहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पातीं और उस स्थान पर सूर्यग्रहण दिखाई पड़ता है। सारी पृथ्वी पर एक साथ सूर्यग्रहण कभी नहीं हो सकता। जैसे-जैसे चन्द्रमा अपनी कक्षा पर आगे चलता है, वैसे-ही-वैसे उसकी छाया भी पृथ्वी-तल पर आगे बढ़ती जाती है। पृथ्वी के जो भाग चन्द्रमा की प्रच्छाया में पड़ते हैं वहाँ पूर्ण ग्रहण होता है जिसे सर्वग्राही सूर्यग्रहण कहते हैं। सर्वग्राही सूर्यग्रहण एक स्थान पर कुछ मिनटों तक ही रहता है। कभी भी ७½ मिनट से अधिक समय तक सर्वग्राही ग्रहण नहीं लग सकता।

चन्द्रमा की प्रच्छाया के दोनों ओर उपच्छाया रहती है। पृथ्वी-तल के जो भाग इस उपच्छाया में पड़ते हैं उनमें आंशिक ग्रहण दिखाई देता है। सूर्य के जिस भाग से किरणें नहीं पहुँच पातीं, उतना भाग कुछ धुँधला पड़ जाता है। ऐसे खण्ड-ग्रहण के समय धूप की तेजी में भी कमी आ जाती है।

ज्योतिष शास्त्र के विद्वान् गणित द्वारा हिसाब लगाकर यह बता देते हैं कि चन्द्र या सूर्यग्रहण कब लगेगा और उसका कितना भाग पृथ्वी के कौन से भाग पर

ओझल रहेगा। प्राचीन काल में लोगों को ग्रहण का कारण मालूम न था। अतः वे इस सम्बन्ध में अनेक भयसूचक कल्पनायें किया करते थे। आज भी हमारे देश के अपढ़ लोगों का विश्वास है कि राहु और केतु दैत्य चन्द्रमा और सूर्य देवता को पकड़ लेते हैं और इसी कारण ग्रहण पड़ा करते हैं।

तीसरा अध्याय

भूगर्भ की झाँकी

(Interior of the Earth)

२६. **रहस्योद्घाटन में कठिनाइयाँ**—पृथ्वी के भीतर क्या है यह आज भी मनुष्य के लिए रहस्यमय है। इस भेद को जानने के लिए मनुष्य कोई यन्त्र या कोई एक्स-किरण आज तक नहीं खोज पाया है। भूगर्भ के बारे में मनुष्य का प्रत्यक्ष ज्ञान तो बहुत थोड़ी-सी गहराई तक सीमित है। अधिक-से-अधिक वह ढाई-तीन मील गहरी खान खोद सका है। यद्यपि यह गहराई बहुत ही नगण्य है, फिर भी इन खानों की बदौलत मनुष्य ने न केवल सोना-चाँदी आदि धातुओं के रूप में रत्नगर्भा पृथ्वी की अतुल धन-राशि को ढूँढ़ निकाला है बल्कि पृथ्वी के भीतरी भेदों को समझने का एक सूत्र भी पा लिया है। ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गार और भूकम्प की कंपन-लहरों जैसी भूगर्भ की हलचलों ने पृथ्वी का भेद खोलने में बड़ी सहायता पहुँचाई है।

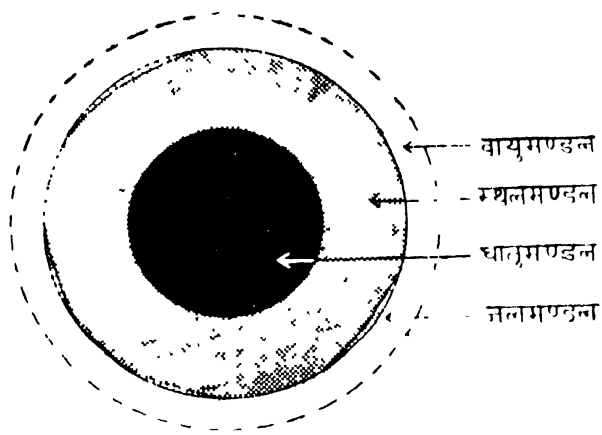

चित्र ११. पृथ्वी के विभिन्न परत।

२७. **रहस्य विवेचन**—सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सम्बन्ध में यह नियम निर्धारित किया था कि आकर्षण-शक्ति पदार्थों के द्रव्य की मात्रा के अनुपात में बढ़ती है और उनके बीच की दूरी के अनुपात में कम होती है। इस नियम के आधार पर पृथ्वी को तौला गया और ज्ञात हुआ कि समस्त पृथ्वी-पिण्ड का घनत्व ५·५२ है अर्थात् पृथ्वी का भार अपने बराबर आकार (Volume) वाले जलपिण्ड के भार से ५·५ गुना है। किन्तु पृथ्वी के धरातल की चट्टानों का घनत्व निकालने पर मालूम हुआ कि उनका घनत्व २·७ ही है। यदि सारी पृथ्वी ऊपरी चट्टानों-जैसे पदार्थों से बनी होती तो उसका भार अब के भार का आधा ही रह जाता। इस से यह निष्कर्ष निकला कि केन्द्र के आसपास जो पदार्थ हैं वे ऊपरी चट्टानों से बहुत ज़्यादा भारी हैं।

(क) प्रथम रहस्य (पदार्थ का भार)—उपर्युक्त विवेचन से यह तो स्पष्ट पता चलता है कि ऊपर से जैसे-जैसे केन्द्र की ओर जाते हैं पदार्थों का भार निरन्तर

बढ़ता जाता है। इस भार-वृद्धि का क्या कारण हो सकता है ? भूगर्भ के भीतरी पदार्थों के भारी होने के दो कारणों में से ही कोई कारण हो सकता है—(१) भूगर्भ के पदार्थ धरातल की चट्टानों से रचना में तो भिन्न नहीं है किन्तु उनके ऊपर भारी दबाव रहता है जिस से अधिक घने हो गये है। अथवा (२) भूगर्भ के पदार्थ रचना में ही धरातल की चट्टानों से भिन्न है। भूगर्भ के पदार्थ भारी तत्त्वों से बने हैं और ऊपरी चट्टानें हल्के तत्त्वों से बनी है।

पहली संभावना के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह समझ लिया कि भूगर्भ के पदार्थ ऊपर से भारी दबाव पड़ने के कारण अधिक दब गये है और भारी हो गये हैं। लाप्लास ने हिसाब लगाकर बताया कि ऊपर के दबाव के कारण भूगर्भ के पदार्थ पानी से पौने ग्यारह गुने भारी होने चाहिए। यह तो सच है कि ज्यों-ज्यों हम पृथ्वी के केन्द्र की ओर जाते है ऊपर की चट्टानो का भार बढ़ता ही जाता है। हिसाब लगाने पर पता चला है कि केन्द्र के प्रति वर्गफुट स्थान पर ८ करोड़ मन बोझ लदा है। इतने भारी बोझ से भूगर्भ के पदार्थो के घनत्व पर प्रभाव पड़ना असंभव नहीं है। परन्तु दबाव से बढ़ने वाली सघनता की कोई सीमा तो होनी ही चाहिए। बहुत से विद्वान् इस बारे में शंकाशील है कि घनत्व पर इतना दबाव पड़ सकता है कि वह २·७ से १० या ११ हो सके। यद्यपि मनुष्य किसी भी प्रयोगशाला में इतने अधिक दबाव की परिस्थिति उत्पन्न नहीं कर पाया है और विज्ञान की इतनी अधिक उन्नति हो जाने पर भी यह कार्य बहुत ही कठिन समझा जाता है, फिर भी इतना तो निश्चय है कि घनत्व में इस सीमा तक वृद्धि नितान्त असंभव है।

दूसरी संभावना के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह धारणा बनायी कि पृथ्वी के ऊपर विभिन्न घनत्व के कई परत हैं। केन्द्रीय पिण्ड सब से भारी है क्योंकि उसकी रचना भारी तत्त्वों से हुई है। केन्द्रीय पिण्ड के ऊपर बीच वाला परत है जो केन्द्रीय पिण्ड से हल्का है। इसका आपेक्षिक घनत्व २·७ है। भूकम्प की लहरों (Earthquake waves) के अध्ययन ने इस धारणा की पुष्टि करने में बहुत सहायता पहुँचाई है।

(ख) द्वितीय रहस्य (पदार्थ की अवस्था)—दूसरी समस्या यह है कि पृथ्वी के भीतरी भाग में पदार्थ ठोस (Solid) अवस्था में हैं अथवा द्रव (Liquid) या वायव्य (Gaseous) अवस्था में। हम ज्यों-ज्यों पृथ्वी के केन्द्र की ओर जाते हैं पृथ्वी का तापक्रम भी बढ़ता जाता है। अनुमान है कि लगभग प्रति ५५ फीट की गहराई पर १° फा० तापक्रम बढ़ जाता है। इस हिसाब से १ मील की गहराई पर १००° फा० और ५०·मील की गहराई पर ५०००° फा० की वृद्धि हो जायगी। इतने अधिक तापक्रम में कोई भी खनिज ठोस रूप में नहीं रह सकता। इसी हिसाब के आधार पर और इसके प्रमाण में ज्वालामुखी के उद्गारों से पिघला हुआ लावा निकलता देखकर

लाप्लास प्रभृति विद्वानों ने यह अनुमान लगाया कि पृथ्वी का ऊपरी पपड़ा ठोस है किन्तु केन्द्रीय पदार्थ द्रव अवस्था में हैं। ज्वालामुखी के उद्गारों से निकले पदार्थों का निरीक्षण करके स्वीडन के अरीनिउस नामक वैज्ञानिक ने यह कल्पना की थी कि पृथ्वी धातुओं से बनी है और इसके अत्यन्त गहरे भाग में भारी धातुयें भरी हुई हैं। इसका ऊपरी भाग ठोस है, बीच में द्रव पदार्थ हैं और सब से नीचे के भाग वायव्य अवस्था में हैं। इस कथन को स्वीकार करने में दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं :—

(१) ज्वार आने के समय समस्त पृथ्वी-पिण्ड एक ठोस गोले के समान बना रहता है।

(२) भूकम्प की लहरें पर्याप्त गहराई तक उसी प्रकार चली जाती हैं जिस प्रकार उन्हें एक ठोस पिण्ड में जाना चाहिए।

उपर्युक्त कारणों से पृथ्वी के गर्भ में पदार्थों के द्रव अवस्था में समझने की कल्पना त्याग दी और यह विचार किया गया कि पृथ्वी के भीतर द्रव पदार्थों की कल्पना करते समय उसके ऊपर पड़ने वाले अपरिमित दबाव का ध्यान नहीं रक्खा गया है। दबाव दो प्रकार से अपना प्रभाव डालता है। (१) दबाव बढ़ते जाने के कारण पदार्थ को पिघलाने के लिए अधिक तापक्रम की आवश्यकता पड़ती जाती है। (२) दूसरे पिघलने पर प्रत्येक वस्तु अधिक स्थान घेरती है और अधिक स्थान घेरने की सुविधा न मिलने पर वह वस्तु अपनी ठोस दशा में ही दबी पड़ी रहती है। इस तर्क के आधार पर कुछ लोगों ने पृथ्वी को ठोस बतलाया। परन्तु पृथ्वी की ठोस स्थिति को स्वीकार करने में ज्वालामुखी से निकलने वाला द्रव लावा कुछ कठिनाई उत्पन्न करता है। अतः उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि केन्द्रीय भाग दबाव के कारण ठोस है और ऊपरी भाग ठण्डा होकर ठोस बन गया है, परन्तु बीच वाले भाग में द्रव पदार्थ भरे पड़े हैं जो ज्वालामुखी के उद्गार के समय बाहर निकल आते हैं।

कुछ लोगों ने उपर्युक्त सुझाव को मिथ्या ठहराया। उन्होंने कहा कि तापक्रम के अधिक बढ़ने पर एक अवस्था ऐसी आ सकती है जब दबाव के अधिक-से-अधिक बढ़ जाने पर भी वस्तु का ठोस या द्रव बने रहना असंभव है। अतएव केन्द्रीय भाग में वायव्य पदार्थ भरे पड़े हैं। यह सुझाव भी प्रयोगों के आधार पर सिद्ध नहीं होता। यदि केन्द्रीय पदार्थ वायव्य अवस्था में होंगे भी, तो उन में धरातल के वायव्य पदार्थों से सर्वथा भिन्न गुण होंगे। इन गुणों में एक प्रमुख गुण स्थिरता (Rigidity) भी अवश्य होना चाहिए जिसके कारण केन्द्रीय पदार्थ वायव्य होते हुए भी स्थिर (Rigid) बने रहते हैं। यदि ऐसा न होता तो ज्वार-भाटे के समय पृथ्वी पर भी द्रव या वायव्य पदार्थों के समान ही प्रभाव पड़ता।

२८. भूकम्प-तरंगों का प्रभाव—भूगर्भ के अन्दर होने वाली किसी अदृश्य घटना के परिणामस्वरूप धरातल का कोई भाग अचानक काँप उठता है। जिस स्थान पर यह घटना घटित होती है उस स्थान से भूपृष्ठ (Crust) को कँपाने वाली लहरें चारों ओर को चलती है। विद्वानों का कथन है कि भूगर्भ में स्थित चट्टानों को किसी कारण से धक्का लगता है। इस धक्के से चट्टानें ग्लेशियर की तरह आगे को खिसकती हैं जिससे चट्टानों में मोड़ पड़ जाती है। परन्तु यदि चट्टानें आगे को नही हट पातीं, तो वे टूट जाती हैं। चट्टानों का इस प्रकार हिलना अत्यन्त सीमित क्षेत्र में ही संभव हो सकता है। परन्तु उनके संघर्ष से कंपन-लहरें (Earthquake waves) चारों ओर फैलती हैं। ये लहरें तीन प्रकार की है। (१) प्रधान या लम्बी (Longitudinal) लहरें, (२) आड़ी (Transverse) लहरें और (३) धरातल पर चलने वाली लहरें (Surface waves)। इन लहरों की चाल और समय सीस्मोग्राफ़ नामक यंत्र से मालूम करते हैं।

कम्पन-लहरों के सम्बन्ध में यह बात याद रखनी चाहिए कि **लहरों के माध्यम का घनत्व जितना अधिक होगा लहरों की चाल भी उतनी ही अधिक बढ़ती चली जायगी**। इन लहरों के अध्ययन से पता चला है कि पृथ्वी के भीतर जाने वाली लहरों की चाल गहराई के साथ बढ़ती जाती है। धरातल से १,८०० मील की गहराई

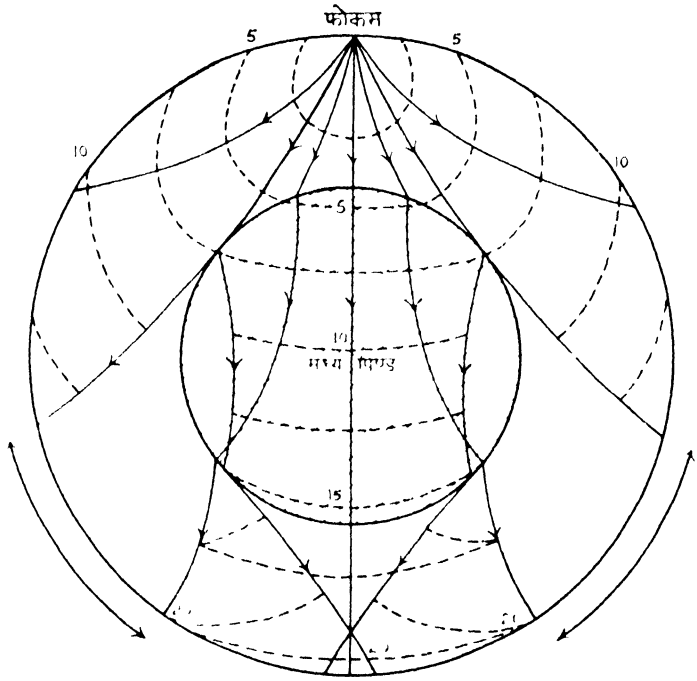

चित्र १२. भूकम्प तरंगों का टेढ़ा मार्ग।

तक तो यह चाल निरन्तर बढ़ती जाती है परन्तु इससे आगे लहरों की गति में

अद्भुत परिवर्तन होने लगता है। १,८०० मील से अधिक गहराई में आडी लहरें घुस ही नहीं पातीं और वहीं समाप्त हो जाती हैं। आडी लहरें द्रव पदार्थ में नहीं घुस पातीं। अतः यह अनुमान किया गया है कि केन्द्रीय पिण्ड, जिसमें ये लहरें नहीं जा पाती, द्रव अवस्था मे होना चाहिए।

प्रधान लहरें केन्द्रीय पिण्ड में प्रवेश तो कर जाती हैं परन्तु उनकी चाल एकदम घट जाती है। दूसरी विशेषता यह होती है कि ४,००० मील व्यास वाले केन्द्रीय पिण्ड के भीतर होते हुए सीधे चले जाना इन लहरों के लिए भी असम्भव है। अतः वे मुड़कर पिण्ड के बाहर निकल जाती हैं।

धरातल पर चलने वाली लहरें उत्पत्ति-स्थान से पहले कंपकेन्द्र (Epicentre) पहुँचती है और फिर धरातल की परिक्रमा किया करती है। देखा गया है कि ये लहरें महाद्वीपो में धीमी चलती है परन्तु समुद्र की तली में चलते समय इनका वेग बढ़ जाता है। प्रशान्त महासागर की तली मे चलते समय इनकी चाल काफी तेज हो जाती है। इससे यह नतीजा निकलता है कि महाद्वीपो की अपेक्षा महासागरो की तली भारी पदार्थों से बनी है।

२६. भूकम्प-तरंगों के अध्ययन के आधार पर भू-परतों के बारे में निकाले हुए निष्कर्ष—(१) पृथ्वी के ऊपरी परत में प्रधान तरंगों (P waves) की गति ३½ मील प्रति सैकिण्ड पायी गई है। आड़ी लहरें (S waves) इस परत में २ मील प्रति सैकिण्ड की गति से चलती है। यह रफ़्तार अन्य सब परतों में देखी गई चाल से धीमी है। इससे प्रकट होता है कि इस परत का घनत्व सब से कम (२·७) है अर्थात् यह पृथ्वी का सब से हल्का परत है। इसकी रचना में मुख्यतया ग्रेनाइट (कणाश्म) चट्टानों का बाहुल्य है। ग्रेनाइट के परत में सिलिका और अल्यूमीनियम इन दो तत्त्वो की अधिकता है। इसलिए इसका संक्षिप्त नाम सिआल है जो दोनों तत्त्वों के प्रथम अक्षरों के मिलाने से बना है। इस परत की मोटाई सभी स्थानों पर एक समान नहीं है। इस परत के भाग कई जगह एक दूसरे से मिले हुए नही हैं किन्तु एक दूसरे से अलग है। भूकम्पविद् विद्वानो (Seismologists) के मत से इस परत की मोटाई केवल २० किलोमीटर के लगभग है।

(२) ग्रेनाइट परत के नीचे बीच का परत है। इस परत में प्रधान लहरों की गति ४ से ४½ मील प्रति सैकिण्ड और आड़ी लहरों की गति २¼ से २½ मील प्रति सैकिण्ड है। यह परत ऊपरी ग्रेनाइट वाले परत से भारी है। इसका आपेक्षित घनत्व ३ है अर्थात् यह पानी से तीन गुना भारी है। इसकी रचना में बसाल्ट या ग्रेबो चट्टानों की अधिकता है। इस परत को सिआल और सिमा का मिश्रण माना जाता है। सिमा शब्द सिलिका और मैगनेशियम तत्त्वों के प्रथम अक्षरों को मिलाने से बना है।

इस परत की मोटाई ३० किलोमीटर समझी जाती है। वह परत पृथ्वी के गोले पर सब स्थानों पर पाया जाता है अर्थात् ग्रेनाइट परत की तरह टूटा या असम्बन्धित नहीं है।

(३) बसाल्ट परत के नीचे निचला परत है। इस परत में प्रधान लहरों की गति ४$\frac{७}{८}$ मील प्रति सैकिण्ड और आड़ी लहरों की गति २$\frac{३}{४}$ मील प्रति सैकिण्ड नापी गई है। इस परत में पेरिडोटाइड या अति-पैठिक चट्टानों की अधिकता है। ये चट्टानें पानी से ३·४ गुना भारी हैं। इन चट्टानों के निर्माण में मुख्य तत्त्व सिलिका और मैगनेशियम है जिनका संक्षिप्त नाम सिमा है।

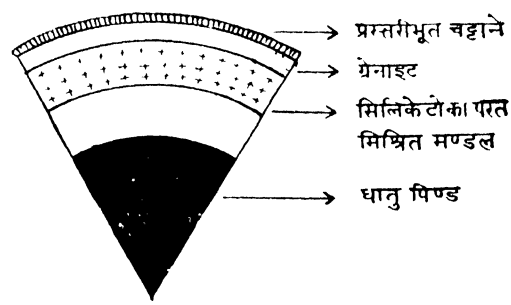

चित्र १३. पृथ्वी के परत।

(४) जैसा कि पहले कहा जा चुका है प्रधान और आड़ी भूकम्प तरंगों की गति १,८०० मील (२,९०० किलोमीटर) तक तो बराबर बढ़ती चली जाती है। किन्तु ४,३०० (या ४,३४८) मील व्यास वाले केन्द्रीय पिण्ड में उनकी गति कुंठित हो जाती है। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि केन्द्रीय भाग में निकिल और लोहा (फेरियम) जैसी कठोर धातुयें भरी पड़ी हैं जिनका आपेक्षिक घनत्व लगभग ८ है। इसी कारण प्रधान लहरें भी इसको भेद नहीं पाती। इसका संक्षिप्त नाम निफे है। पृथ्वी पर गिरे हुए उल्का पिण्डों में भी ऐसी धातुये मिली है जिस से इस विचार की पुष्टि होती है। यह धातुमय भाग बिल्कुल ठोस नहीं है। इसकी बनावट कुछ लचीली है। इसीलिए आड़ी लहरें इसमें नहीं घुस पातीं। इस धातुपिण्ड के ऊपरी भाग में चारों ओर सिमा का पिघला हुआ परत लिपटा है जिसमें धातुयें भी मिली हुई है।

३०. पृथ्वी के भीतर परतों की बनावट (Layers of Earth)—जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ग्राक्ट ने नवीन खोजो के आधार पर पृथ्वी के निम्न परत सुझाये है :—

परत का नाम	घनत्व	परत की मोटाई
१. स्थलमण्डल या ऊपरी सिआल परत	२·७५-२·९	३७$\frac{१}{२}$ मील (महाद्वीपों के नीचे)
२. सिलिकेटों का भीतरी परत (सिमा आंशिक रूप से)	३·१-४·७५	७०० मील
३. मिश्रितमण्डल (जिस में धातुओं और सिलिकेटों का योग है)	४·७५-५	१,०६० मील
४. केन्द्रीयमण्डल (धातुओं का पिण्ड)	११	.....

इन परतों और जेफरे द्वारा सुझाये हुए परतों में साधारण अन्तर है। विशेष अन्तर सिआल परत की मोटाई के सम्बन्ध में है। यदि ग्राक्ट द्वारा सुझाए सिआल परत की मोटाई कम कर दी जाय तो वह जेफरे के ऊपरी परत के अनुकूल हो जाता है। जेफरे के मध्यम परत और निचला परत ग्राक्ट के सिलिकेटो के भीतरी परत के अनुरूप है। भू-आकारों (Landforms) की बनावट आदि कई पेचीदा प्रश्नों का हल इन परतों द्वारा ठीक-ठीक समझ में नहीं आता। इन कठिनाइयों से बचने के लिए हमें प्रो० होम्स द्वारा सुझाये हुए परतो को समझ लेना चाहिए।

ग्राक्ट	जेफरे	होम्स
१. सिआल परत	ऊपरी परत, मध्यम परत	ऊपरी पपड़ी या भूपृष्ठ (Crust)
२. सिमा परत	निचला परत	अधोभाग (Substratum) या अधःस्तर

प्रो० होम्स के अनुसार जेफरे के ऊपरी और मध्यम परत दोनों ही ऊपरी पपड़ी अथवा भूपृष्ठ (Crust) में सम्मिलित है। जेफरे का निचला परत होम्स की सम्मति में अधोभाग (Substratum) है जिसमें भूपृष्ठ की अपेक्षा अधिक गर्मी बनी रहती है जिसके परिणामस्वरूप वह द्रवावस्था में बना रहता है।

३१. **भूगर्भ में गर्मी की अवस्था**—जब हम गहरी खानों मे घुसते हैं तो गहराई के साथ गर्मी भी बढ़ती जाती है। यह गर्मी कहीं अधिक तेजी से बढ़ती है और कही कुछ कम। परन्तु औसत से प्रति ५५ फीट की गहराई पर १ अंश फार्नहाइट गर्मी बढ़ जाती है। इसका अर्थ है कि केन्द्र अत्यन्त गरम है और धरातल की ओर गर्मी घटती जाती है। धरातल पर आकर यह गर्मी विकिरण (Radiation) द्वारा नष्ट हो जाती है। यदि हमें धरातल पर से नष्ट होने वाली गर्मी की मात्रा मालूम हो जाय तो हम यह जान सकेंगे कि भूपृष्ठ कब ठोस होने लगा होगा और कितना ठोस हो चुका होगा। विकिरण द्वारा नष्ट होने वाली गर्मी की मात्रा जानने के लिए हमें तीन बातें जान लेनी चाहिए। (१) केन्द्र से धरातल तक तापक्रम घटने का क्रम, (२) सम्पूर्ण धरातल का क्षेत्रफल तथा (३) चट्टानों की औसत संचालकता (Conductivity)। इस आधार पर गणना करके कैलविन नामक वैज्ञानिक ने भूगर्भ का इतिहास जानने की कोशिश की। किन्तु कुछ चट्टानों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता पर कैलविन का ध्यान नही गया जिस से उनकी सारी मेहनत बेकार गई और उनकी गणना गलत सिद्ध हुई।

वैज्ञानिको को पता चला है कि बहुत सी चट्टानों में कुछ तेजोद्गर (Radio-

active) या रेडियोधर्मी तत्त्व मौजूद है। इन तत्त्वों के अणु अपने आप ही निरन्तर टूटते रहते है। इनके टूटने (Disintegration) से पृथ्वी के भीतर गर्मी (तेज) उत्पन्न होती रहती है। टूटने के बाद बचे हुए भाग का परिवर्तन हो जाता है और वे कई प्रकार के खनिजो का रूप धारण करते रहते है। उदाहरण के लिए हम दो मुख्य तेजोद्गर तत्त्वों का वर्णन करेंगे। ये प्रमुख तत्त्व यूरेनियम और थोरियम अपनी सम्पूर्ण गर्मी के निकल जाने पर हेलियम और सीसा के रूप में बदल जाते है। परन्तु इनका थोड़ा-सा तेज (गर्मी) नष्ट होने पर रेडियम आदि धातुयें बन जाती हैं।

अपने आप निरन्तर टूटते हुए तेज उद्गरित करने वाले या गर्मी निकालन वाले तत्त्वों की खोज ने पृथ्वी के इतिहास की समस्या का रूप ही बदल दिया। तेजोद्गर तत्त्व किसी खनिज में एक निश्चित अनुपात में हुआ करते है। इनके टूटते-टूटते अन्त में हेलियम और सीसा बनता है। यदि यह मान लिया जाय कि शुरू-शुरू में हेलियम और सीसा थे ही नहीं परन्तु एक निश्चित गति से धीरे-धीरे एकत्र होते रहे, तो किसी खनिज के यूरेनियम और सीसा का अनुपात देखकर उस खनिज का निर्माणकाल सरलता से जाना जा सकता है। खनिजों के स्फट या रवे (Crystals) भी किसी चट्टान के ठण्डे होने पर ही बन सके होंगे। इस आधार पर चट्टान के बनने का समय बताया जा सकता है। इसी गणना के आधार पर पृथ्वी के ठण्डे होने का प्रारम्भकाल १५० करोड़ वर्ष पूर्व निश्चित किया गया है।

अब सवाल यह है कि पृथ्वी के भीतरी भाग में तेजोद्गर तत्त्वों की मात्रा कितनी है। धरातल को चट्टानों का विश्लेषण करने पर चट्टानों में इन तत्त्वो का जो अनुपात मिला है उसी अनुपात मे ये तत्त्व यदि भूगर्भ में भी मौजूद हैं, तो धरातल पर आकर नष्ट होने वाली गर्मी से कई गुनी अधिक गर्मी पृथ्वी के भीतर पैदा होती होगी। चट्टानें ताप (गर्मी) की उत्तम सचालक (Good Conductor) नही है। इसी से अधिक पैदा हुई गर्मी फैलकर नष्ट नही हो सकेगी बल्कि भीतर ही इकट्ठी होती रहेगी। परिणाम यह होगा कि पृथ्वी निरन्तर अधिकाधिक गरम होती जायगी। पृथ्वी के अधिकाधिक गरम होने की कल्पना बहुत से तथ्यों के आधार पर झूठी सिद्ध हो चुकी है। अतः यह परिणाम निकाला जा सकता है कि अपने आप टूटकर तेज (गर्मी) उद्गरित करने वाले तत्त्व हल्के हैं और इसीलिए ऊपरी परतो में ही अधिक मात्रा मे पाये जाते है। ग्रेनाइट, बसाल्ट और लौहमिश्रित चट्टानों के विश्लेषण से भी इसी मत की पुष्टि होती है क्योंकि इन चट्टानों में तेजोद्गर तत्त्वों की उत्तरोत्तर न्यूनता (कमी) पायी गई है। इसी आधार पर पृथ्वी के परतों का सिद्धान्त प्रमाणित होता है। प्रारम्भ में पृथ्वी के पदार्थ द्रवावस्था में थे। पिघली हुई अवस्था में ही लोहा और निकिल जैसी भारी धातुयें नीचे बैठ गई और सिलिकेटों के

परत से अलग हो गयीं। सिलिकेटों के परत में से भी दो या दो से अधिक परत अलग हो गये। धातु शोधने की भट्टी में जिस प्रकार मैल सब से ऊपर आ जाता है उसी प्रकार पृथ्वी के हल्के पदार्थ सब से ऊपर आ गये होंगे। इसी क्रिया के कारण तेजोद्गार तत्त्व ऊपरी परत में एकत्र होते गये। इसी आधार पर यदि यह मान लिया जाय कि पृथ्वी के भीतरी भागों में ये तत्त्व इतने कम हैं कि उनसे जितनी गर्मी निकलती है उससे कुछ अधिक धरातल पर आकर नष्ट हो जाती है तो पृथ्वी के ठण्डे होने की क्रिया धीरे-धीरे सम्पन्न हो सकती है।

गहराई के साथ तेजोद्गर तत्त्वों के कम होते जाने वाली धारणा को आधार बनाकर जैफरे नामक वैज्ञानिक ने पृथ्वी के ठण्डे होने का हिसाब लगाया। उनके मत से प्रारम्भ में पृथ्वी पिघली हुई धातुओं और पत्थरों के एक बहुत बड़े कड़ाहे के समान थी। जिस प्रकार पिघले हुए गरम लोहे में उबाल आते हैं उसी तरह पृथ्वी के पदार्थों में भी उबाल आते थे और ऊपर आकर गर्मी कम होती जाती थी। नीचे के गरम कण हल्के होने के कारण ऊपर उठते थे और ऊपर के ठण्डे कण भारी होने से नीचे जाते थे। इस क्रिया को संवाहन (Convection) कहते हैं। इस प्रकार संवाहन द्वारा पृथ्वी धीरे-धीरे ठण्डी होने लगी। अन्त में तापक्रम द्रवांक (Melting Point) पर पहुँच गया अर्थात् अब तापक्रम में कमी होते ही द्रव पदार्थ ठोस बनने लग जाते। इस अवस्था में पहुँचते समय तक समस्त पृथ्वीपिण्ड का तापक्रम एक समान रूप से कम होता रहा। परन्तु इसके बाद परिस्थितियों में अन्तर पड़ गया, पृथ्वी के धरातल पर जिस तापक्रम पर द्रवांक होता है उस तापक्रम पर पृथ्वी के भीतर द्रवांक नहीं हो सकता। भीतरी भाग के पदार्थों पर ऊपर का भारी बोझ लदा रहता है। इस बोझ के कारण भीतर के द्रव पदार्थ साधारण से कुछ भिन्न तापक्रम पर ही ठोस रूप में बदल सकते हैं। अस्तु, ठोस बनने की क्रिया धरातल से कुछ नीचे से ही प्रारम्भ हो सकी होगी। ठोस बनने की क्रिया के शुरू होने पर ठण्डे का तरीका भी बदल गया। संवाहन-क्रिया समाप्त हुई। अब तो गर्मी भू-पदार्थों के एक कण से दूसरे कण में होती हुई धरातल पर पहुँचकर शून्य में विलीन होने लगी। इस प्रकार ताप के चलने को संचालन (Conduction) कहते हैं। ऊपरी परत के ठण्डे होने की क्रिया उसी प्रकार हुई होगी जैसे कढ़ाई के गरम दूध में पहले मलाई पड़ जाती है और धीरे-धीरे मोटी होती जाती है।

जैफरे ने गणित द्वारा हिसाब लगाकर बताया है कि धरातल से लगभग ४०० मील नीचे के भू-पदार्थों में द्रव वस्तुओं की-सी एक विशेषता मौजूद है। हम जानते हैं कि ठोस पदार्थों में कठोरता (Strength) और स्थिरता (Rigidity) ये दो गुण मौजूद होते हैं। धरातल से ४०० मील की गहराई पर के पदार्थों

में ठोस वस्तुओं जैसी स्थिरता (Rigidity) तो मौजूद है परन्तु उनमें कठोरता (Strength) नहीं है। इसके विपरीत उनमें द्रव वस्तुओं जैसा लचीलापन है और बहुत ज्यादा ज़ोर का दबाव पड़ने पर द्रवों की तरह बहने लगते हैं। स्थिरता होने के कारण इस भाग पर ज्वार-भाटे का प्रभाव नहीं पड़ता और भूकंप की लहरें इस लचीले भाग में होकर उसी प्रकार जाती है जिस प्रकार वे ठोस पदार्थ में होकर जाती हैं। ऊपर के ठोस परत और इस लचीले भाग मे कोई स्पष्ट विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। अनुमान है कि दोनों में बहुत धीरे-धीरे ही अन्तर पड़ सकेगा।

बहुत से विद्वान् जैफरे के उपर्युक्त मत से पूर्णतया सहमत नहीं है। इन विद्वानो का कथन है कि जैफरे द्वारा माना हुआ तेजोद्गर तत्त्वों का गहराई के साथ अधिकाधिक न्यून होते जाना सर्वथा सत्य नहीं है। प्रो० होम्स का मत है कि तेजोद्गर तत्त्वो का धरातल के समीप एकत्र होते जाना असंभव-सी घटना है। यह केवल कुछ लोगों की कपोल कल्पना है। प्रयोगशालाओं में पृथ्वी के भीतरी भाग जैसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करके बहुत से प्रयोग किये गये है। इन प्रयोगों से निकले हुए परिणामों के आधार पर कहा गया है कि ऊपरी पपड़ी (Crust) या भूपृष्ठ में मौजूद तेजोद्गर तत्त्वों से इतनी गर्मी उत्पन्न होती रहती है जितनी की धरातल से शून्य में विलीन होती है। यदि भूपृष्ठ की बसाल्ट चट्टानो में पाये जाने वाले तेजोद्गर तत्त्वों का ७००वाँ भाग भी अधोभाग (Substratum) की चट्टानों में मौजूद हो, तो इतने थोड़े तत्त्वों से ही इतनी गर्मी उत्पन्न होती रहेगी कि अधोभाग के पदार्थ हमेशा द्रवावस्था में बने रहें और इस भाग में सवाहन (Convection) क्रिया द्वारा गर्मी ऊपर की ओर चलकर भूपृष्ठ (Crust) के निचले तले तक पहुँचती रहे। यदि प्रो० होम्स के उपर्युक्त मत को स्वीकार कर लिया जाय तो महाद्वीपों के खिसकने और पर्वतों के निर्माण के लिए उचित शक्ति की समस्या हल हो जाय क्योंकि इनके लिए उपर्युक्त शक्ति अधोभाग की संवाहन-तरंगों (Convection Currents) द्वारा प्राप्त हो सकती है।

समतुलन का सिद्धान्त (Theory of Isostasy)

३२. समस्या का महत्त्व—पृथ्वी का इतिहास पढ़ने से पता चलता है कि पृथ्वी के धरातल का रूप हमेशा बदलता रहा है। इन परिवर्तनों में कई प्रकार की शक्तियों और घटनाओं का हाथ है। इन घटनाओं में अदृश्य भूगर्भ की गुप्त घटनायें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महाद्वीपों और महासागरों के नीचे घटित होने वाली इन गुप्त घटनाओं को आइसोस्टेसी द्वारा समझाया जाता है। 'आइसोस्टेसी' शब्द को सबसे पहले डटन नामक एक अमेरिकन वैज्ञानिक ने प्रयोग किया था। उसके अनुसार धरातल के असमतल भागों—अर्थात् ऊँचे पर्वतों, पठारों, मैदानों और समुद्रों के नीचे पृथ्वी

का भार बराबर है। उनकी सम्मति में इसका कारण यह था कि पर्वतों के नीचे का पदार्थ समुद्र के नीचे के पदार्थ की अपेक्षा हल्का है। यदि ऐसा न होता तो निरन्तर परिभ्रमणशील पृथ्वी पर गगनचुम्बी पर्वतों के पड़ौस में समुद्र की गहरी खाई का होना बिलकुल असंभव हो जाता। धरातल की ऊँचाई-निचाई नापने वाले विद्वानों ने इस सिद्धान्त को प्रमाणित करने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई।

३३. अक्षांश की नाप—सीस-रेखा (Plumb Line) प्रत्येक स्थान के आकर्षण की दिशा बताती है। इसलिए सीस-रेखा की मदद से चाहे जिस स्थान का अक्षांश नाप सकते हैं। सीस-रेखा की दिशा और भूमध्यरेखिक तल (Equatorial Plane) के बीच में जो कोण बनेगा, वही उस स्थान का अक्षांश होगा। उदाहरण के लिए दिए हुए चित्र में 'प' स्थान का शीर्ष श की ओर है। अतः सीस-रेखा की दिशा श प की तरह होगी। मान लीजिए प भ$_2$ भूमध्यरेखा का तल बताती है (क्योंकि यह रेखा क भ$_1$ के समानान्तर है)। अतः श प भ$_2$ कोण ही प स्थान का अक्षांश होगा।

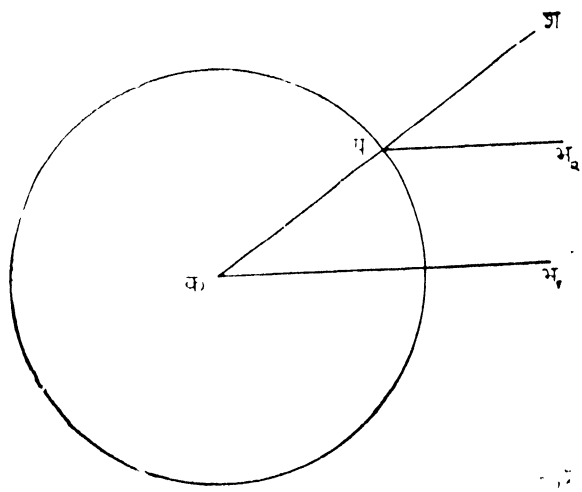

चित्र १४.

१८५५ ई० में धर्माध्यक्ष प्रेट ने भारत के उत्तरी मैदान की नाप-जोख शुरू की। हिमालय पर्वत से लगभग ६० मील दक्षिण की ओर कल्याण गाँव की अक्षांश नापते समय प्रेट ने देखा कि सीस-रेखा धरती की तरफ सीधी लम्बवत् नहीं लटकती, किन्तु कुछ उत्तर की ओर झुक रही थी। प्रेट ने सोचा कि हिमालय की भारी चट्टानों ने सीस-रेखा को अपनी ओर खींच लिया होगा। पर्वतीय चट्टानों का घनत्व २·७५ मानकर जब प्रेट महोदय ने हिसाब लगाया तो उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि सीस-रेखा का झुकाव उसकी गणना से काफी कम रहा। इसका कोई कारण उनकी समझ में नहीं आया। इसके दो ही कारण संभव हो सकते थे—

(१) पर्वतीय चट्टानों का घनत्व कम हो और सभी ऊँचे पहाड़ हल्के पदार्थों से बने हों।

(२) पहाड़ों और ऊँचे भूमि-भागों के नीचे अधिक गहराई पर हल्के पदार्थ हों तथा निचले भागों के नीचे के पदार्थ भारी हों।

प्रथम संभावना को आधार मानकर कई लोगों ने पर्वतों को पानी के बुलबुले

की तरह पोला बताना शुरू किया। बाद में तथ्यों के आधार पर यह धारणा झूठी निकली।

३४. एअरी की व्याख्या—अस्तु, दूसरी संभावना को आधार मानकर सर जार्ज एअरी ने सुझाया कि जिस तरह हिम-शिला (Iceberg) का अधिक भाग जल में डूबा रहता है और कुछ भाग जल से ऊपर रहता है उसी तरह ऊँचे पर्वत भी घने परन्तु लचीले लावा में स्थित है। इस व्यवस्था के बिना ऊँचे पर्वत किस प्रकार धरातल पर टिके रह सकेंगे ? ऊँचे भागों का टिका रहना तभी संभव है जब उनका अधिक भाग द्रव पदार्थ में डूबा रहे। इसका यह अर्थ हुआ कि ऊँचे भूभागों के नीचे काफी गहराई तक हल्के पदार्थ ही रहते है। इसी आधार पर एअरी ने सुझाया कि शीस-रेखा का हिमालय की ओर खिचाव हिसाब से कम इसलिए रहा कि इन ऊँचे पर्वतीय प्रदेशों ने अपने नीचे के हल्के पदार्थों द्वारा अधिक घनत्व वाले द्रव पदार्थ को हटा दिया है जिससे आकर्षण-शक्ति में कुछ कमी आ गयी है। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह हुआ कि पर्वतीय प्रदेश अधिक घनत्व वाले अधोभाग (Substratum) में बह रहे हैं। एअरी महोदय की इस व्याख्या से समतुलन के सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ।

३५. पृथ्वी का समतुलन—आर्कमिडीज़ के प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार तैरने वाली वस्तु अपने नीचे से अपने भार के बराबर द्रव को हटा देती है। यही नियम पृथ्वी के लिए भी सत्य है। हल्के महाद्वीप भारी अधोभाग (Substratum) पर तैर रहे है। प्रत्येक महाद्वीप अपने भार के बराबर नीचे से द्रव बसाल्ट को हटा देता है। इसीलिए महाद्वीपों की प्रकट ऊँचाई से काफी नीचे तक हल्के तत्त्व भरे हुए हैं। इसके प्रतिकूल महासागरों की तली भारी बसाल्ट के ऊपरी हिस्से पर स्थित है। इस प्रकार महासागरों की तली में भारी पदार्थ अधिक ऊँचाई तक आ जाने से महाद्वीपों और महासागरों का समतुलन हो रहा है।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि महाद्वीपों और महासागरों का तुलनात्मक भार समान है। परन्तु इस बात को ठीक रूप से समझने के लिए दो महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का उत्तर मिलना आवश्यक है। प्रथम तो पृथ्वी के भीतर पदार्थों के घनत्व में अन्तर कहाँ और कैसे होता है ? दूसरे इस अन्तर का प्रभाव स्थानीय होता है या प्रादेशिक ? अर्थात् इस अन्तर का प्रभाव प्रत्येक स्थान पर अलग-अलग पड़ता है अथवा सम्पूर्ण महाद्वीप पर होता है और स्थान-स्थान पर अलग-अलग नहीं होता ? इन प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नही मिल सका था। बीसवी सदी के प्रारम्भ में हेफोर्ड नामक वैज्ञानिक ने संयुक्तराज्य अमेरिका के समुद्रतट और आकार की खोज की। इस दिशा में इनका और बोवी महोदय का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

३६. आकर्षण-शक्ति की नाप—पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति पर अक्षांश

देशान्तर, समुद्रतल से ऊँचाई और स्थानीय धरातल का प्रभाव पड़ता है अर्थात् इनके अनुसार पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति घट या बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए हम अक्षांश को ही लें तो देखेंगे कि भूमध्यरेखा सबसे बड़ी अक्षांश है। इसकी परिधि २५,००० मील है। ध्रुवों की ओर अक्षांशों की परिधि कम होती जाती है। भूमध्यरेखा पर स्थित स्थान को २४ घण्टे में २५,००० मील का चक्कर लगाना होता है जिससे यहाँ पर बाहर की ओर खिचाव (या केन्द्रोन्मुखी शक्ति का प्रभाव) सबसे अधिक होता है। इसलिए यहाँ पर आकर्षण का प्रभाव कुछ कम हो जाता है। इसी प्रकार अन्य बातों का भी प्रभाव आकर्षण-शक्ति पर होता है।

उपर्युक्त सभी बातों का हिसाब लगाकर और इनका ध्यान रखकर भी जब किसी स्थान की आकर्षण-दिशा की गणना की जाती थी तो उस गणना और असली आकर्षण की दिशा में कुछ अन्तर हमेशा रह जाता था। इस अन्तर का असली कारण न मालूम होने के कारण लोगों ने इस अन्तर का नाम 'आकर्षण की असंगति' रख दिया। इस असंगति का कारण ढूँढ़ने के प्रयत्न होने लगे। हेफोर्ड और बीवी ने भी एक सुझाव उपस्थित किया। इसके लिए उन्होंने एक गणना की। उन्होंने अपनी गणना के लिए एअरी का माना हुआ सिद्धान्त स्वीकार नही किया। एअरी ने माना था कि तैरने वाली वस्तु अपने भार के बराबर द्रव पदार्थ हटा देती है। परन्तु यह नियम तैरने (Floating) के सम्बन्ध में आधारभूत नियम नहीं है। आधारभूत नियम है कि समान क्षेत्रफल वाले भागों के नीचे का भार भी एक समान ही होता है। इसी नियम को आधार बनाकर हेफोर्ड और बोवी ने गणना की और इस नतीजे पर पहुँचे कि भूपृष्ठ में भीतर विभिन्न घनत्व के भाग मौजूद हैं। उन्होंने बताया कि पृथ्वी के गोले पर धरातल से कुछ गहराई पर एक ऐसा तल (Level) मिलता है जिसके नीचे सारी पृथ्वी का घनत्व एक-समान है। इस तल का नाम उन्होंने समतोलन तल (Compensation Level) रखा। इस समतोलन तल के ऊपर के पदार्थों के घनत्व में अन्तर पड़ जाता है। इस अन्तर को समझाने के लिए उन्होंने बताया कि यदि इस तल के ऊपर एक समान Cross Section वाले स्तम्भ खड़े कर दिये जायँ तो उनका घनत्व उनकी ऊँचाई के विलोम के अनुपात में होगा। उदाहरण के लिए दिये हुए चित्र में अलग-अलग घनत्व वाले धातुओं के टुकड़े पारे पर इस प्रकार खड़े हैं कि सभी पारे

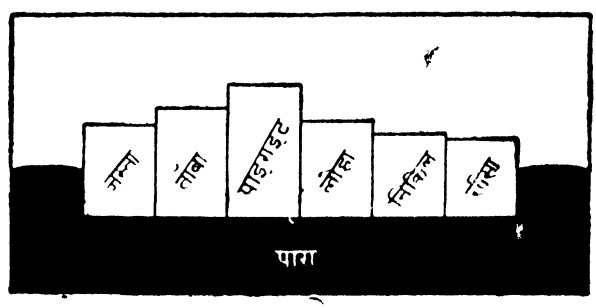

चित्र १५. पारे में धातु-स्तम्भ।

पर बराबर-बराबर दबाव डाल रहे हैं। (यहाँ पारा ही समतोलन तल बताता है) इन धातुओं के टुकड़ों का घनत्व इनकी ऊँचाई के विलोम के अनुपात में है। इस उदाहरण से आप समझ गये होंगे कि हेफोर्ड और बोवी के मत से पर्वत, पठार, मैदान और समुद्रों के नीचे समतुलन तल तक अलग-अलग घनत्व के पदार्थ भरे हैं। इस प्रकार अलग-अलग घनत्व के क्षेत्र स्थान-स्थान पर अलग-अलग हुए।

३७. समतुलन स्थापित होने का ढँग—प्रश्न यह है कि इन क्षेत्रों के समतुलन भंग हो जाने पर फिर सन्तुलन किस प्रकार स्थापित होगा ? जैसे-जैसे किसी ऊँचे प्रदेश की चट्टानें घिसघिसाकर छीलन के रूप मे निचले भागों में जमा होती रहती हैं वैसे-ही-वैसे जमा की हुई छीलन के नीचे की धरती का बोझ बढ़ता जाता है। धीरे-धीरे करोड़ों मन बोझ जमा हो जाता है। इस कारण जब सन्तुलन बिगड़ने लगता है तो ऊँचे भाग घिसकर हल्के हो जाने के कारण ऊँचे उठ जाते हैं और निचले भाग नीचे धँसते जाते हैं। इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिए यह कल्पना की गयी कि निचले भागों पर ऊपरी बोझ का अधिक दबाव पड़ने से उनके नीचे का द्रव मैग्मा ऊँचे भागो की ओर बहने लगता है और फिर सन्तुलन स्थापित हो जाता है।

३८. समतुलन स्थानीय नहीं किन्तु प्रादेशिक—ऊपर बताए हुए अलग-अलग घनत्व के क्षेत्र महाद्वीपों में अलग-अलग स्थानों पर किसी प्रकार भी संभव नही हैं। पृथ्वी पर स्थान-स्थान पर घनत्व की भिन्नता बताना बे-सिर-पैर की-सी बात है। वास्तव में पृथ्वी पर विभिन्न घनत्व के परत ही चढ़े हुए है जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। समतुलन के सिद्धान्त में इस तथ्य का भी समावेश होना चाहिए। अस्तु हेफोर्ड महोदय ने समतोलन तल (Compensation Level) के ऊपर के भूपृष्ठ की बनावट के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस सिद्धान्त के अनुसार समतोलन तल के ऊपर १० मील की मोटाई का एक परत है। इस परत में अलग-

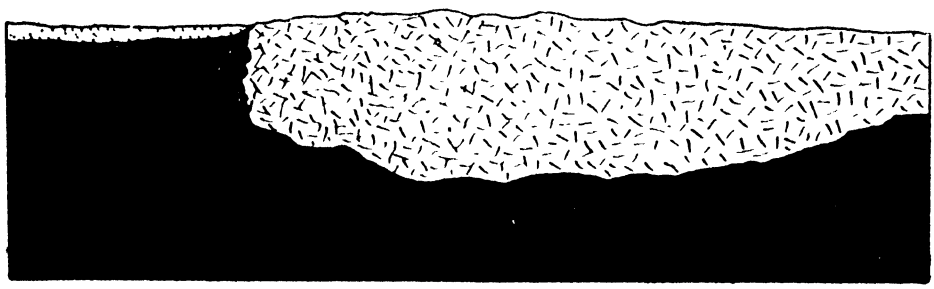

चित्र १६. समतुलन।

अलग घनत्व के पदार्थ समतुलन स्थापित करते हैं। इस परत के ऊपर २५ मील की मोटाई और सबसे ऊपर २७ मील मोटा परत है। यदि हेफोर्ड के सबसे ऊपरी परत की मोटाई २७ मील से कम मान ली जाय, तो हेफोर्ड का नया सिद्धान्त निरीक्षणों

के आधार पर सत्य प्रमाणित होता है। घनत्व का यह नया हिसाब कई अंशों में एअरी द्वारा बताये हुए सिद्धान्त के समकक्ष ही है। १० मील मोटे परत में हल्के पदार्थों का होना वास्तव में बहनेवाली वस्तु का भारी द्रव को हटाकर समतुलन करने के समान ही है जैसा कि चित्र द्वारा प्रकट होता है। हेफोर्ड ने समतोलन तल को धरातल से ६० या ७० मील की गहराई पर बताया है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि उसकी गहराई ४० मील है। संभव है कि विभिन्न स्थानों पर इसकी गहराई ३७½ से ६२½ मील के बीच में हो।

पृथ्वी पर समतुलन इतना सत्य है कि सभी इसे स्वीकार करते हैं। बहुत से विद्वानों के मत से समतुलन एक सिद्धान्त ही नहीं किन्तु एक तथ्य है। बैरल और जौली प्रभृति विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से समतुलन को एक तथ्य स्वीकार किया है। जौली का कथन है कि संभव है लोग समतुलन के सिद्धान्त से आंशिक रूप से मतभेद रखते हैं किन्तु इसको पूर्णरूप से कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि यह एक तथ्य है।

सारांश

पृथ्वी के गर्भ में क्या-क्या भरा पड़ा है और उसकी कैसी दशा है? इस सम्बन्ध में जानकारी हासिल करते समय तीन मुख्य समस्यायें सामने आती है :—

(१) पृथ्वी केन्द्रीय भाग की ओर अधिकाधिक भारी होती जाती है। इस भारीपन के बढ़ते जाने का क्या कारण हैं ?

(२) पृथ्वी का केन्द्रीय पिण्ड ठोस है या द्रव है अथवा वायव्य अवस्था में है ?

(३) भूगर्भ के अन्दर कौनसी ऐसी विशेष प्रक्रिया है जिसके कारण पृथ्वी के धरातल पर ऊँचे पर्वत और गहरे समुद्र पास-पास स्थित है ?

उपर्युक्त तीनों समस्याओं के निम्न उत्तर खोजे गए है जिनकी सत्यता के बारे में काफी प्रमाण भी मिल चुके हैं :—

(१) पृथ्वी ऊपरी दबाव से ही भीतर की ओर भारी नहीं होती गयी है, बल्कि पृथ्वी के भीतर विभिन्न घनत्व के कुछ परत है। ये परत पृथ्वी पर इसी प्रकार चढ़े हुए है जिस प्रकार प्याज पर कई छिलकों के परत होते हैं। इन परतों के क्रम निम्नलिखित है :—

(क) **केन्द्रीय धातुपिण्ड**—पृथ्वी के बीचोबीच लगभग ४,३०० मील का गोला (घनत्व ११)।

(ख) **मिश्रित पिण्ड**—धातुपिण्ड के ऊपर १,००० मील मोटा परत। इस परत में धातुयें और सिलीकेट मिली हुई हैं (घनत्व ५)।

(ग) **बसाल्ट परत**—मिश्रित पिण्ड के ऊपर ७०० मील मोटा परत। (घनत्व ३½)।

(घ) ग्रेनाइट-परत—बसाल्ट परत के ऊपर तैरता हुआ सबसे ऊपरी परत। यह परत महासागरों पर फैला हुआ नहीं है। (घनत्व २$\frac{१}{२}$)।

(२) जैसा कि हमें मालूम है पृथ्वी के भीतर की ओर गर्मी की मात्रा बढ़ती जाती है। अतः गर्मी की अधिकता के कारण पृथ्वी का केन्द्रीय भाग पूर्णतया ठोस नहीं है किन्तु कुछ लचीला है। ठोस पदार्थों में स्थिरता (Rigidity) और कठोरता दो गुण हुआ करते हैं। पृथ्वी के केन्द्रीय भाग में ठोस पदार्थों जैसा एक ही गुण है। अर्थात् वह स्थिर (Rigid) तो है परन्तु इसमें कठोरता नही है और इसी कारण यह भाग अत्यधिक दबाव पड़ने पर बहने लगता है।

(३) पृथ्वी के ऊपरी भाग में ग्रेनाइट का परत है जो बसाल्ट के परत का कुछ अंश हटकर महाद्वीपों के रूप में स्थित है। समुद्रों की तली में प्रायः ग्रेनाइट का परत नहीं है। बल्कि वहाँ पर ग्रेनाइट के परत द्वारा हटाया हुआ बसाल्ट आकर जम गया है। इस प्रकार ऊँचे महाद्वीपीय भागों और गहरे समुद्रों का सन्तुलन हो रहा है।

चौथा अध्याय

धरातल की प्रधान रूपरेखा

(Main Features of Earth Surface)

३९. समस्या का रूप—पृथ्वी का सबसे ऊपरी पृष्ठ (Crust) दो प्रधान आकारों में विभक्त है। इसके ७१ फ़ीसदी भाग पर बहुत विशाल गड्ढे है। इन गड्ढों में पानी भरा है और महासागर कहलाते है। शेष २९ प्रतिशत भाग जल से बाहर है और महाद्वीप नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति की कौनसी योजना के परिणामस्वरूप धरातल पर इन प्रधान आकारो का निर्माण हुआ यह अभी तक अज्ञात है। पृथ्वी के इन प्रधान आकारो के निर्माण का विषय अत्यन्त विवादास्पद है।

प्राचीन भूतत्त्ववेत्ताओं (Geologists) ने भू-पटल पर अधिकांश स्थानों के ऊपर प्रस्तरीभूत चट्टानें (सागरगर्भ मे निर्मित होने वाली Sedimentary Rocks) बिछी देखीं और समुद्रों के स्थान पर पर्वतो को खड़ा देखा। पर्वत घिसघिसाकर नष्ट हो गये थे और उनके ऊपर समुद्र ने आक्रमण करके उन्हें जल-मग्न कर दिया था। इन आधारो के अनुसार प्राचीन विद्वानो ने यह धारणा की कि जल और स्थल का विन्यास (Distribution of Land and Sea) अस्थायी है। स्थल पर बिछी हुई प्रस्तरीभूत चट्टानों (Sedimentary Rocks) के अध्ययन से पता चला कि उनका जन्म उथले सागरों में हुआ होगा। महासागरों की गहराई नापने का कोई साधन उन दिनों तक मालूम नही हो पाया था। फलतः प्राचीनकाल में समुद्र की गहराई भी अधिक नही मानी जाती थी।

४०. क्या जल और स्थल का विन्यास स्थायी है ?—यह तो सभी विद्वान् मानते है कि स्थल के निचले भागों पर अनेको बार समुद्र का आक्रमण हुआ है और फिर वे ही भाग कई बार समुद्र-तल से ऊँचे उठे है। परन्तु विवाद का विषय सागरों की अगाध तली के स्थायित्व के सम्बन्ध में है अर्थात् प्रश्न यह है कि क्या महासागरों की अगाध तली (Deep Beds) भी समुद्र से ऊँची उठकर स्थल का भाग बन चुकी है ? दूसरे शब्दो मे समस्या यह है कि जल और स्थल का वर्तमान विन्यास (Distribution) प्रकृति की किसी विशेष व्यवस्था के कारण स्थायी है अथवा यह विन्यास अस्थायी है और इसमें परिवर्तन हो सकता है।

महासागरों की गहरी तली के स्थायी होने के निम्न प्रमाण दिये जाते है :—

(१) महासागरों की गहरी तली पर लाल मिट्टी (Red Clay) और सूक्ष्म मिट्टी (Ooze) बिछी मिली है। इन मिट्टियों से बनी हुई चट्टानों में ऐसी विशेषता होगी

जिससे उन्हें साफ तौर से पहचाना जा सकेगा। ऐसी चट्टानें महाद्वीपों में कहीं भी नहीं मिलीं। भू-खण्ड की प्रस्तरीभूत चट्टानों में ऐसी चट्टानों का न मिलना यह संकेत करता है कि सागरों की गहरी तली कभी भी स्थल का भाग नहीं बनी।

(२) प्रस्तरीभूत चट्टानों के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि उनका निर्माण उथले समुद्रों में हुआ है। इसलिए जब तक हम यह विश्वास कल्पना न कर लें कि समुद्रों में पानी की मात्रा प्रायः घटती-बढ़ती रहती है तब तक हमें यह मानना ही पड़ेगा कि महासागरों की गहरी तली अति प्राचीन काल से यथावत् ही रही है और उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ।

दूसरी बात यह है कि यदि हम यह मान भी लें कि गहरे समुद्र उथले होते रहे हैं, तो हमें गहरे सागरों के जल को रखने के लिए कहीं-न-कहीं दूसरे स्थान पर गहरे गर्त (गड्ढे) होने की कल्पना करनी पड़ेगी। हम समतुलन के सिद्धान्त पर विचार करते समय यह देख चुके है कि गहरे गड्ढों के नीचे के पदार्थ भारी होते है। यदि स्थल के भाग गहरे गर्त बनेंगे, तो उनमें महान् रसायनिक तथा भौनिक परिवर्तन करके अपने आप ही अधिक भारी पदार्थ बन जाने की योग्यता मान लेनी पड़ेगी। किन्तु ऐसा परिवर्तन करने वाली कोई व्यवस्था (Mechanism) अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है।

(३) सामुद्रिक क्षेत्रों में स्थित ज्वालामुखी पर्वतो से उद्गार के समय प्रायः बसाल्ट (पैठिक) लावा ही अत्यधिक मात्रा में निकलता है। पैठिक लावा भारी बसाल्ट चट्टानों से बनता है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के निरीक्षणों और भूकंप की लहरों से भी यही प्रमाणित होता है कि महाद्वीपीय चट्टाने महासागरों की गहरी तली से हल्की है। ऐसी अवस्था में यदि सागर की गहरी तली महाद्वीप का भाग बनेगी, तो उसमें भी भारी रसायनिक और भौतिक परिवर्तन आवश्यक होंगे।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर भूतत्त्ववेत्ताओं को यह विश्वास हो गया कि महासागरों की तली का निर्माण पृथ्वी की प्रारम्भिक अवस्था में ही स्थायी रूप से हो चुका था। किन्तु कुछ प्रमाण ऐसे मिले जिनकी उपेक्षा नही की जा सकती थी। जीवविज्ञान-वेत्ताओं ने महासागरों द्वारा सहस्रों मील दूर किए हुए महाद्वीपों के पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं मे आश्चर्यजनक समता देखी। उदाहरण के लिए अटलाण्टिक महासागर के दोनो किनारों पर विभिन्न काल के जीव-जन्तुओं में काफी समता मिली। आश्चर्य तो यह है कि स्काटलैण्ड के उत्तर-पश्चिमी पर्वतों पर पुरानी चट्टानों के जीव-अवशेष या परतों के क्रम उसी युग की वेल्स (Wales) की चट्टानों के जीव-अवशेषों या परतों से कोई मेल नही खाते, परन्तु समुद्रपार संयुक्तराज्य के पूर्वी भाग की चट्टानों से उनका बहुत साम्य है। इसी प्रकार आस्ट्रेलिया का थैली वाला 'मारसूपियल' नामक

विशेष जन्तु चिली देश में जीवित अवस्था में पाया गया तथा दक्षिणी अमेरिका के अन्य भागों में उसके फौसिल्स मिले। आश्चर्य तो यह है कि उत्तरी गोलार्द्ध में इस जन्तु का कोई भी चिन्ह न मिला। इन प्रमाणों से प्रभावित होकर विद्वानों ने महाद्वीपों में आपसी सम्बन्ध बनाए रखने के लिए गहरे महासागरों के आर-पार 'स्थल-पुलों' (Land Bridges) की कल्पना द्वारा रचना कर डाली और इस प्रकार एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप तक पहुँचने का मार्ग सरल कर दिया। धीरे-धीरे विद्वानों ने यह अनुभव किया कि यह कल्पना अत्यन्त भ्रामक और नितान्त असंभव है। इस प्रकार के 'स्थल-पुल' पृथ्वी के समतुलन को नष्ट करके भारी समुद्र-तली पर किस प्रकार स्थिर रह सकते है ? अथवा, इन स्थल-पुलों के नीचे सागर-तली के भारी पदार्थ किस प्रकार हल्के बन सके ? इन स्थल-पुलों के लिए विशेष अवस्था की कल्पना करनी पड़ेगी। यह अवश्य है कि स्थल-पुलों की कल्पना पृथ्वी के प्रधान आकारों की स्थायित्व का समर्थन करती है।

४१. महाद्वीपों और महासागरों की उत्पत्ति—यदि महाद्वीपों और महासागरों की तली में बहुत थोड़े हेरफेरों के अतिरिक्त कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नही हुआ है, तो फिर उनकी उत्पत्ति का क्या कारण हो सकता है ? यदि हमारी पृथ्वी की उत्पत्ति सूर्य से हुई है, तो पृथ्वी का ठोस धरातल भी वायव्य अवस्था से पहले द्रवावस्था में और फिर द्रव से ठोस रूप में बना होगा। पृथ्वी का भीतरी भाग अभी तक गरम है और धीरे-धीरे ठण्डा हो रहा है। पृथ्वी की इस उत्पत्ति को आधार मानकर लोथियन ग्रीन नामक विद्वान् ने १८७५ ई० में महाद्वीपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे एक परिकल्पना प्रस्तुत की जिसे चतुष्फलक का सिद्धान्त (Tetrahedral Theory) कहा जाता है। ग्रेगरी नामक विद्वान् ने इस सिद्धान्त का रूप सजाकर लोगो के सामने रक्खा।

४२. चतुष्फल का सिद्धान्त (Tetrahedral Theory)—पृथ्वी के मानचित्र का अध्ययन करने से पता चलता है कि प्रायः सभी स्थल और जलखण्ड त्रिभुजाकार है। इन त्रिभुजों की दो विशेषतायें है। पहली विशेषता तो यह है कि सभी स्थलखण्डों के त्रिभुजों का आधार उत्तर की ओर है और शीर्ष दक्षिण की ओर। परन्तु जलखण्डों के त्रिभुज स्थलखण्डो के बिलकुल विपरीत हैं अर्थात् उनका आधार दक्षिण की ओर और शीर्ष उत्तर में है। दूसरी विशेषता यह है कि स्थलखण्डों की स्थिति भी जलखण्डों के ठीक विपरीत है। पृथ्वी के केन्द्र से यदि एक सीधी रेखा पृथ्वी के दोनो ओर खीची जाय, और यदि उसका एक सिरा स्थल को छूता हो, तो दूसरा सिरा जल को छुयेगा। इस प्रकार अफ्रीका और यूरोप प्रशान्त महासागर के विपरीत है, उत्तरी अमेरिका हिन्दमहासागर के प्रतिध्रुव (Antipode) स्थित है,

एशिया और आस्ट्रेलिया अटलाण्टिक महासागर के विपरीत हैं तथा एण्टार्कटिका महाद्वीप आर्कटिक महासागर के प्रतिध्रुव (Antipode) स्थित है। महाद्वीपों और महासागरों की इस प्रकार त्रिभुजाकार स्थिति महत्त्वपूर्ण होनी चाहिए। इस स्थिति का कारण यह है कि पृथ्वी का भीतरी भाग धीरे-धीरे ठण्डा होकर सिकुड़ता जाता है अर्थात् उसका आयतन घटता है। परन्तु ऊपरी धरातल पहले ही से ठोस और कड़ा हो गया है। अत. वह सिकुड़ नहीं सकता। ऐसी अवस्था में पृथ्वी को ऐसी आकृति में आना पड़ रहा है जिसका धरातल बड़ा होने प भी आयतन (Volume) कम हो। विद्वानों के मत से ऐसी आकृति चतुष्फलक (Tetrahedron) ही हो सकती है। यदि गोले और चतुष्फलक का क्षेत्रफल बराबर हो, तो गोले के आयतन से चतुष्फलक का आयतन कम होगा। विद्वानों के मत से पृथ्वी अभी पूर्ण चतुष्फलक के आकार में नहीं पहुँच पायी है। परन्तु ज्यों-ज्यों ठण्डी होती जा रही है, चतुष्फलक की आकृति पूर्णता को प्राप्त होती जा रही है। चतुष्फलक वह ठोस आकृति है जो चार सम-त्रिबाहु त्रिभुजों के मिलाने से बनती है। यदि सम-त्रिबाहु त्रिभुज को आधार मान-कर उसकी तीनों भुजाओं पर तीन सम-त्रिबाहु त्रिभुज खड़े करें और इन तीनों के शीर्षों को मिलाकर एक आकृति में बदल दें, तो यह आकृति चतुष्फलक बन जायगी। यदि इस चतुष्फलक को उलटकर शीर्ष पर खड़ा कर दिया जाय, तो पृथ्वी की आकृति बहुत कुछ इससे मिलती-जुलती होगी। इसके ऊपरी तल पर आर्कटिक सागर और शेष तलों पर बाकी तीनों महासागरों की स्थिति होगी। इसके उभरे हुए सिरों पर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, योरोप और अफ्रीका तथा एशिया और आस्ट्रेलिया होंगे। शीर्ष पर एण्टार्कटिका महाद्वीप होगा।

यद्यपि यह सिद्धान्त बहुत दिनों तक मान्य रहा, परन्तु आजकल इसको अस्वीकृत किया जाता है। इसके विरोध में सबसे बड़ा तर्क यह है कि नाचते हुए पृथ्वी-पिण्ड पर चतुष्फलक की आकृति द्वारा सन्तुलन स्थापित किया ही नहीं जा सकता।

महाद्वीपों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार के बहुत से सिद्धान्त कई विद्वानों ने उपस्थित किये, पर आज उनमें से कोई भी मान्य नहीं है।

४३. भूपृष्ठ की संरचना और बनावट (Structure of Earth Crust)—पृथ्वी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वान् ज्वार वाले सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इसीलिए पृथ्वी की प्रारम्भिक दशा की उपमा लोहे गलाने की भट्टी में पिघले हुए लोहे से दी जाती है। जिस प्रकार कढ़ाई में भारी पदार्थ नीचे बैठ जाते हैं और हल्का मैल ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार पृथ्वी पर विभिन्न घनत्व के परत बनते गये। भूगर्भ की झाँकी में इन परतों का वर्णन हो चुका है।

भूपृष्ठ की संरचना के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों की राय है कि इसमें विभिन्न घनत्व के दो परत हैं। विभिन्न प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि समुद्रों की अगाध तली महाद्वीपों से घनत्व में अधिक है। परन्तु प्रमुख समस्या ज्यों-की-त्यों बनी रहती है कि महासागरों और महाद्वीपों का वर्तमान विन्यास किस प्रकार संभव हो सका। घनत्व के विभिन्न परतों के आधार पर सिआल का हल्का महाद्वीपीय परत भी उसी प्रकार जमना चाहिए जिस प्रकार कढ़ाई में पिघले हुए लोहे का मैल कढ़ाई के सम्पूर्ण तल पर जम जाता है। अभी तक किसी भी ऐसी प्रक्रिया का पता नहीं चल पाया है जिससे हल्के पदार्थों के अलग-अलग स्थानों पर जमकर ठोस बनने की बात गले उतर सके। अतः ऐसी संभावना ही सत्य हो सकती है कि प्रारम्भ में सिआल सम्पूर्ण पृथ्वी पर ही फैला हुआ हो परन्तु बाद में किसी कारण से टूटकर छिन्न-भिन्न हो गया हो। इस सम्बन्ध में विद्वानों ने विभिन्न सुझाव उपस्थित किये है।

४४. सिआल का छिन्न-भिन्न होना—इस सम्बन्ध में सबसे सरल कल्पना चन्द्रमा के जन्म की है। जेम्स जीन्स नामक सुप्रसिद्ध गणितज्ञ ने यह सिद्ध किया था कि घूमने वाला पिण्ड धीरे-धीरे नासपाती की आकृति के समान नुकीला हो जायगा। इसका नुकीला भाग नाचने की तेज़ी में शेष भाग का साथ न दे सकने के कारण टूट-कर अलग हो जायगा। फिशर महोदय ने सुझाया कि चन्द्रमा के अलग हो जाने से स्थलमण्डल में जो गड्ढा बन गया उसमें जल भर जाने से ही प्रशान्त महासागर बना है। जेफरे के मतानुसार चन्द्रमा पृथ्वी से उस समय अलग हुआ होगा जब कि पृथ्वी का ऊपरी परत कुछ ठोस बन चुका होगा। इस सम्बन्ध में मज़ेदार बात यह है कि यदि जलमण्डल के ऊपर से ४० मील मोटा परत निकाल लिया जाय, तो उससे चन्द्रमा के बराबर एक गोला बन सकता है। कुछ लोगों की आपत्ति है कि सिआल का परत कहीं भी ४० मील मोटा नहीं है। परन्तु जब हम देखते है कि चन्द्रमा का घनत्व ३·५ है जो सिआल से काफ़ी अधिक है, तो यह स्पष्ट समझ में आता है कि चन्द्रमा के अलग होते समय सिआल के साथ भारी और अर्द्ध-द्रव धातुओं का भी सम्मिश्रण रहा होगा।

अपनी समस्या का ऐसा सरल समाधान खोजकर हम बहुत ही प्रसन्न होते, परन्तु प्रयोगशालाओं में द्रव सिलिकेटों पर किये गये प्रयोग उपर्युक्त मत के विरुद्ध प्रमाण देते है। इन प्रयोगों से प्रतीत होता है कि सिलिकेटों के परत में से सिमा और सिआल परत उनके ठोस होने के प्रारम्भ में अलग हो जायँगे, परन्तु उस अवस्था में सिआल इतना कड़ा हो चुका होगा कि उसमें से चन्द्रमा का अलग होना सम्भव नहीं हो सकता।

कुछ विद्वानों की सम्मति है कि प्रारम्भ-काल में जब पृथ्वी द्रवावस्था में थी और संवाहन क्रिया (Convection) द्वारा ठण्डी हो रही थी उसी समय उस पर जो हल्का भाग ठण्डा होकर जमता था उसे संवाहन की धारायें एक स्थान से ताड़कर अन्य स्थान पर एकत्र करती जाती थी। इस प्रकार धीरे-धीरे सिआल का परत मोटा होता गया और आज के महाद्वीप बन गये। इस व्यवस्था को स्वीकार करने में बहुत सी कठिनाइयाँ हैं। सबसे अधिक कठिनाई यह है कि रवे (स्फट) हमेशा द्रव पदार्थों को धीरे-धीरे ठण्डा करने से ही बनते है। सिमा के भीतर सिआल के खण्ड मौजूद होने के प्रमाण मिले हैं। अतः समस्या यह है कि ग्रेनाइट आदि रवेदार चट्टानें पिघले हुए सिमा के भीतर किस प्रकार धीरे-धीरे ठण्डी होकर रवों के रूप में जम सकीं।

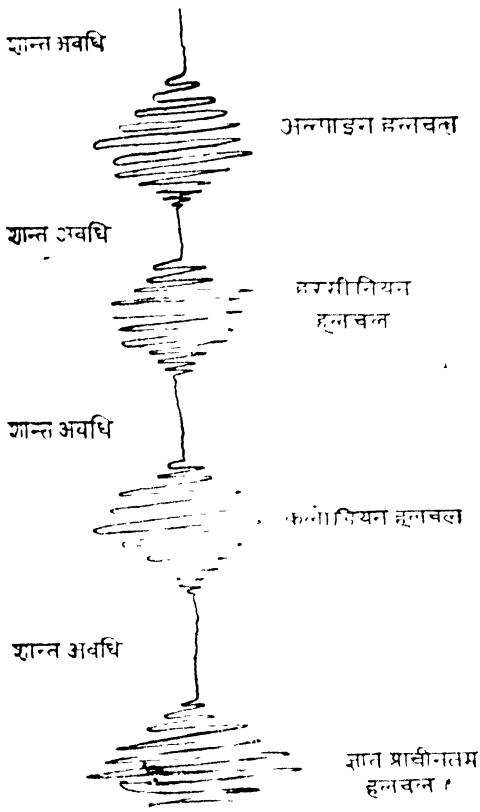

चित्र १७. सिआल को छिन्न-भिन्न करने वाली हलचलें।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि प्रारम्भ-काल में सिआल का परत समस्त पृथ्वी-पिण्ड को आच्छादित किये था। किन्तु उषःकल्प (Pre-cambrian) में, जिसकी अवधि पौने दो अरब वर्ष अर्थात् शेष तीनों कल्पों की सम्मिलित अवधि से तिगुनी समझी जाती है, पृथ्वी पर कई बार पर्वत-निर्माण-कारी हलचलें हुई। प्रत्येक हलचल के समय सिआल के परत में ऊँची-नीची मोड़ें पड़ गयी और कुछ भाग टूटकर अध:स्तर में गिरकर विलीन हो गये। इस प्रकार सिआल भाग के टूटने और मोड़ पड़ जाने से वर्तमान महाद्वीपों का निर्माण हुआ है। इस सिद्धान्त के समर्थन में कहा जाता है कि यदि इन सभी सिकुड़नों को सीधा करके फैला दिया जाय तो सिआल का परत महासागरों के खाली भागों को ढँक लेगा। इस सिद्धान्त की सचाई की जाँच अभी वैज्ञानिकों को करनी बाकी है। सिआल के छिन्न-भिन्न होने का जो कुछ भी कारण हो, परन्तु उसके विन्यास के सम्बन्ध में अधिकाश विद्वानों की सम्मति थी कि महाद्वीपों और महासागरों की आकृति व स्थिति स्थायी है। उनकी आकृति में बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ है। कुछ निर्बल क्षेत्र समय-समय पर बनते रहे है और उनमें परिवर्तन होते रहे हैं. परन्तु महासागरों की अगाध तली और महाद्वीपों की वास्तविक आकृति और स्थिति

ज्यों-की-त्यों रहती आई है ।

महाद्वीपों की उत्पत्ति सम्बन्धी कुछ सिद्धान्त

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कुछ विद्वानों ने महाद्वीपों की स्थायी स्थिति को असत्य बताया तथा महाद्वीपों के प्रवाह के सिद्धान्त प्रस्तुत किये । इन सिद्धान्तों में वैगनर का महाद्वीपों के दायें-बायें प्रवाह का सिद्धान्त और जौली का महाद्वीपों के ऊपर-नीचे हटने का तापीय चक्र अत्यन्त प्रसिद्ध है । हम समतुलन के सिद्धान्त पर विचार करते समय सिमा के भीतर सिआल के स्तम्भों का वर्णन कर चुके हैं । वैगनर का मत है कि सिआल के महाद्वीपीय स्तम्भ सिमा पर स्थित नहीं है, किन्तु उसमें उसी प्रकार प्रवाहित होते है जिस प्रकार लकड़ी का लट्ठा जल में बहता रहता है ।

४५. वैगनर का महाद्वीपीय प्रवाह वाला सिद्धान्त (Continental Drift)—एल्फ्रैड वैगनर नामक एक जर्मन वैज्ञानिक जलवायु सम्बन्धी गुत्थियों को सुलझाने में उलझ रहा था । अनेकों स्थानों पर ऐसे फौसिल आदि चिन्ह मिले थे जिनसे यह प्रमाणित होता था कि सभी भागों की जलवायु में विशेष परिवर्तन हुए है । मरुस्थलों में किसी समय हरे-भरे मैदान थे, ध्रुवीय प्रदेशों में काफी गर्मी पड़ती थी और भूमध्य-रेखिक भागों में काफी ठण्ड रह चुकी थी । उदाहरण के लिए मध्य योरोप के धरातल पर ऐसे चिन्ह मिले थे जिनसे यह सिद्ध होता था कि यह भाग किसी समय हिमावरण (Ice Sheet) से आवृत था । इन सबका क्या कारण हो सकता था ? विभिन्न स्थानों पर जलवायु के बदलने के दो ही कारण हो सकते है—(१) या तो महाद्वीप एक स्थान से दूसरे स्थान पर हट जाते हैं, अथवा (२) जलवायु ही बदला करती है । जलवायु के परिवर्तन के सम्बन्ध में विद्वानो ने कई सुझाव रक्खे, परन्तु कोई भी सुझाव संतोषप्रद नहीं निकला । १९१२ ई० में वैगनर ने महाद्वीपों के इधर-उधर खिसकने की बात सुझाई । पर्वत-निर्माण के समय दो पड़ौसी देशों के समीप आने की बात कई विद्वानों ने सुझाई थी । परन्तु उस पर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया । १९२२ ई० में वैगनर ने इस विचार को सिद्धान्त का रूप दे दिया ।

संसार के मानचित्र का अध्ययन करते समय वैगनर ने देखा कि दक्षिणी अमेरिका का पूर्व की ओर निकला हुआ ब्राजील वाला भाग गिनी की खाड़ी में पूर्ण-तया सटाया जा सकता हैं । इसी आधार पर अटलाण्टिक महासागर के दोनों तटों का अध्ययन करने के पश्चात् वह इस परिणाम पर पहुँचा कि कुछ अपवादों को छोड़कर दोनो किनारों को सम्बद्ध किया जा सकता है । धीरे-धीरे सभी महाद्वीपों का परस्पर सम्बन्ध जोड़कर उसने घोषित किया कि धरातलीय इतिहास के प्रारम्भ-काल मे समस्त महाद्वीप एक साथ जुड़े हुए थे । उसने इस संयुक्त भूमहाद्वीप का नाम 'पेंजिया' रक्खा । इस पेंजिया महाद्वोप के निचले भाग यदाकदा जलमग्न हो जाते थे

और उथला समुद्र बन जाता था। किन्तु पृथ्वी के शेष भाग पर एक ही भूमहासागर फैला हुआ था। पेंजिया महाद्वीप सिमा में उसी प्रकार तैरता था जिस प्रकार समुद्र में हिमशिलायें तैरा करती है। गिरि-प्रांगार युग में इस महाद्वीप की स्थिति ऐसी थी

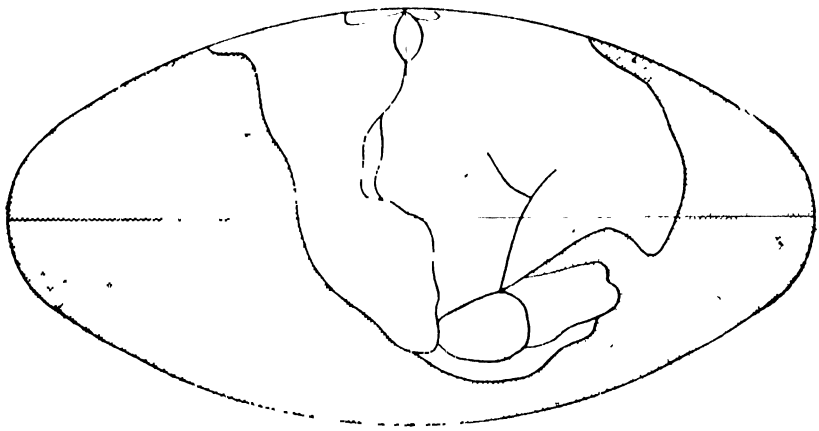

चित्र १८. पेंजिया महाद्वीप।

कि दक्षिणी ध्रुव अफ्रीका के दक्षिण तट के आसपास ही कहीं स्थित था। उस काल के हिमावरण के चिन्ह गोंडवाना महाद्वीप के सभी भागों में पाये जाते है। संभवतः इसी युग में इस महाद्वीप के उत्तरी और दक्षिणी दो खण्ड हो गये। मध्यकल्प के अन्त में इसके पूर्वी और पश्चिमी भाग भी अलग हो गये। टूट जाने से इन महाद्वीपों के कटे हुए सिरे आगे को निकल गये। इन निकले हुए सिरों पर गुरुत्वाकर्षण-शक्ति का खिचाव अन्य भागों से अधिक पडा। खिचाव की इस भिन्नता के कारण उत्तरी महाद्वीप उत्तर की ओर तथा पश्चिमी महाद्वीप पश्चिम की ओर खिसकने लगे। अमेरिका के पश्चिम की ओर खिसकने से अटलाण्टिक चौडा होता गया। इस प्रकार महाद्वीपीय प्रवाह का सिद्धान्त यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि महाद्वीपों की स्थिति स्थायी नहीं है। इसी कारण महाद्वीपों के कुछ भागों पर भूमध्यरेखिक जलवायु रहने से कोयले की परतें बनी होंगी। यह सिद्धान्त पर्वत-निर्माण की क्रिया-विधि (Mechanism) समझाने का भी प्रयत्न करता है। इसके अनुसार अफ्रीका और योरोप के सिरों के समीप आने से आल्प्स पर्वत-मालायें निर्मित हुई तथा अमेरिका और प्रशान्त महासागर की तली के परस्पर टकराने से राकी और एण्डीज पर्वतों का निर्माण हुआ। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में निम्न प्रमाण दिए जाते है :—

(१) ग्रीनलैण्ड और अमेरिका के बीच की दूरी १८२३, १८७० और १९१७ ई० में नापी गई। इन नापों से सिद्ध होता है कि ग्रीनलैण्ड प्रतिवर्ष २० मील नज़दीक आता जा रहा है।

(२) स्कैण्डिनेविया में कुछ विचित्र स्वभाव के जीव-जन्तु हैं। जब इनकी

संख्या बहुत बढ़ जाती है, तो ये पश्चिम की ओर चलते है और लम्बी यात्रायें करके पश्चिमी तट पर पहुँच जाते है। यहाँ आकर वे समुद्र में कूदकर जान दे देते हैं। इन जन्तुओं की यात्रा का यह अर्थ लगाया जाता है कि किसी समय यहाँ पर भूमिखण्ड था, जिससे उनके पूर्वज परिचित थे। अब वह स्थलखण्ड वहाँ नहीं है, परन्तु ये जन्तु उसे पाने के प्रयत्न में समुद्र में कूदकर जान दे देते है।

(३) अटलाण्टिक महासागर के दोनो तटो पर मिलने वाले फौसिल्स और चट्टानों के क्रम की आश्चर्यजनक समता का वर्णन पहले किया जा चुका है।

(४) गिरि-प्रांगार युग के हिमावरण के चिन्ह दक्षिणी अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका, दक्षिणी भारत और आस्ट्रेलिया में समान रूप से पाए जाते हैं।

इस सिद्धान्त के विरोध में निम्न तर्क उपस्थित किए जाते है:

(१) महाद्वीपों के हटाने योग्य किसी ऐसी शक्ति का पता नही चल पाया है, जो इस महान् कार्य को पूर्ण करने में समर्थ हो। वैगनर द्वारा सुझाई गई ज्वार की शक्ति से दस अरब गुनी शक्ति ही महाद्वीपों को खिसका सकेगी। यदि ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाय, तो वह पृथ्वी के आवर्तन (Rotation) को एक वर्ष में समाप्त कर देगी।

(२) दूसरी आपत्ति यह है कि एक ओर तो सिमा को इतना द्रव बताया जाता है कि उसमें सिआल के खण्ड तैरते रहते है और दूसरी ओर उसको इतना कठोर चित्रित किया जाता है कि उसकी टक्कर से सिआल के खण्ड मुड़कर पर्वत रूप में बन जाते है। इस आपत्ति के उत्तर में महाद्वीपीय-प्रवाह के समर्थकों ने सुझाया कि सिमा द्रव जरूर है, पर उसमें दृढ़ता (Rigidity) सिआल से अधिक है। उदाहरण के लिए यदि हम मोम की छड़ को राल में डालें, तो छड भीतर अवश्य प्रवेश कर जायगी, परन्तु उसमें टेढ़ पड़ जायगी। वैगनर के मत में थोड़ा सशोधन करके इस सिद्धान्त के समर्थकों ने बताया है कि पर्वत-निर्माण के समय नरम प्रस्तरीभूत चट्टानो में मोड़ पड़ते है न कि सिआल में।

(३) कुछ विद्वानों ने महाद्वीपो के परस्पर सम्बद्ध होने की तथा महाद्वीपों के हटने के काल और दिशा के सम्बन्ध में शंकायें उपस्थित की है। ये शंकायें बाल की खाल खींचने के समान ही है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि महाद्वीपीय प्रवाह एक सिद्धान्त मात्र है कोई सुप्रमाणित तथ्य नहीं है। इस सिद्धान्त में पर्याप्त संशोधन और सुधार की आवश्यकता है।

४६. जौली का तापीय चक्र (Thermal cycles)—वैगनर के समान जौली भी यह मानते ह कि महाद्वीपीय भाग सिमा के ऊपर बहते हुए सिआल खण्ड हैं। गर्मी बढ़ जाने से सिमा के घनत्व में परिवर्तन हो जाना ही उसके मत से महा-

द्वीपों के खिसकने का कारण है। जौली के तापीय चक्र के अनुसार महाद्वीपों की हलचल ऊपर या नीचे की ओर होती है।

सभी प्रकार की चट्टानों में तेजोद्गर द्रव्य पाए गए है चाहे उनकी मात्रा कितनी ही कम या अधिक क्यों न हो। ग्रेनाइट आदि अम्ल चट्टानों में तेजोद्गर तत्त्वों की मात्रा सबसे अधिक होती है और बसाल्ट आदि पैठिक चट्टानों में इनकी मात्रा कम होती है। ये तत्त्व स्वयमेव टूटकर तेज अर्थात् गर्मी निकालते रहते है। उद्गरित गर्मी से चट्टानों का तापक्रम बढ़ता रहता है। महाद्वीपों की चट्टानों में तेज के उद्गरण से जो ताप में वृद्धि होती है, वह संचालन-क्रिया द्वारा धरातल तक पहुँच कर नष्ट होती रहती है। परन्तु चट्टानें ताप की उत्तम संचालक नही है। अतः बसाल्ट चट्टानों मे तेजोद्गरण द्वारा उत्पन्न गर्मी बाहर नही निकल पाती और वही एकत्र होती रहती है। जौली के मत से तापीय चक्र के प्रारम्भ में सिमा का परत ठोस अवस्था मे होता है। बसाल्ट (सिमा) के परत में तेजोद्गरण द्वारा उत्पन्न गर्मी इतनी अधिक होती है कि सबकी सब संचालन (Conduction) द्वारा नष्ट नही होती। चट्टानों की संचालकता को देखते हुए जितनी गर्मी महाद्वीपों के भीतरी भाग से धरातल तक आकर शून्य में विलीन हो सकती है उतनी स्वय महाद्वीपों मे ही उत्पन्न होती रहती है। अतः बसाल्ट की गर्मी रुकी रहती है और एकत्र होने लगती है। तीन या चार करोड़ वर्षो में इतनी गर्मी एकत्र हो जाती है कि बसाल्ट का परत पिघलने लगता है। पिघलने की क्रिया परत के निचले भाग से प्रारम्भ होती है और धीरे-धीरे ऊपर की ओर का भाग पिघलता आता है। जौली का कथन है कि सम्पूर्ण बसाल्ट परत पिघल जाता है, परन्तु महासागरों की तली नहीं पिघलती। इसका कोई समुचित कारण नहीं बताया गया है। जब बसाल्ट पूर्णतया पिघल जाता है, तो भूपृष्ठ अस्थिर हो जाता है। पानी के अतिरिक्त सभी वस्तुयें पिघलने पर अधिक स्थान घेरती है। अस्तु, बसाल्ट का परत भी पिघलकर फैल जाता है अर्थात् उसका आयतन बढ़ जाता है। इसके परिणामस्वरूप बसाल्ट परत के ऊपर स्थित महाद्वीप और महासागर भी ऊँचे उठ जाते है जिससे धरातल पर तनाव (Tension) उत्पन्न होता है। जिस प्रकार समुद्र के भारी पानी से नदी के हल्के पानी में पहुंचने पर जहाज़ का पैदा (तला) कुछ अधिक डूब जाता है, उसी प्रकार बसाल्ट परत के पिघलने पर यद्यपि सम्पूर्ण भूपटल कुछ ऊँचा उठ जाता है तथापि महासागरों की अपेक्षा महाद्वीप बसाल्ट में अधिक धँस जाते है और इस प्रकार महाद्वीपों के निचले तटों पर उथले समुद्र फैल जाते है। प्रो० जौली के अनुसार ज्योंही बसाल्ट परत पूर्णतया पिघल जाता है, उसमें भी अन्य द्रवों के समान ज्वार उत्पन्न होता है। सूर्य और चन्द्रमा के आकर्षण से समस्त ठोस पिण्ड पश्चिम की ओर खिंच जाता है, जिससे महाद्वीपों

के नीचे का अत्युष्ण बसाल्ट परत महासागरों की ठण्डी तली से सम्बन्धित हो जाते हैं। इस प्रकार ताप की बढ़ी हुई मात्रा शीघ्रता के साथ महासागरो में होकर विलीन हो जाती है। ताप की बढ़ी हुई मात्रा घट जाने पर बसाल्ट फिर ठण्डा होकर कठोर बनता है। फलस्वरूप उसका आयतन घटता है, जिससे महाद्वीपों के तट महासागरों की तली से टकराते हैं और मोड़दार पर्वतों का जन्म होता है।

प्रायः इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है, किन्तु इसके सम्बन्ध में दो विशेष कठिनाइयाँ उत्पन्न होती है। पहली कठिनाई तो यह है कि अधःस्तर के बसाल्ट परत के पिघलने पर समुद्र की तली, जो बसाल्ट की बनी मानी जाती है, क्यों नही पिघलती ? दूसरी कठिनाई प्रो० होम्स ने सुझाई है। होम्स के अनुसार ताप की बढ़ी हुई मात्रा को निकालने के लिए जौली ने जो क्रियाविधि (Mechanism) बतलायी है वह न केवल अपर्याप्त है, बल्कि असम्भव भी है।

कुछ समय पूर्व प्रो० होम्स ने जौली के तापीय चक्र वाले सिद्धान्त में यह संशोधन प्रस्तुत किया था कि तेजोद्गरण से उत्पन्न गर्मी अधःस्तर के निचले परत में, जहाँ पेरिडोटाइट चट्टानें पायी जाती है, एकत्र होती है। जिसके कारण पेरिडोटाइट तापीय चक्र द्वारा धरातल पर एक महान् हलचल होती है। ऐसी दो महान् हलचलों के बीच में छः या सात बसाल्ट तापीय चक्र हो चुकते है। होम्स के मत से कैम्ब्रियन काल से अब तक बीस बसाल्ट तापीय चक्र हो चुके है। ये तापीय चक्र पृथ्वी की आग्नेय प्रणाली तथा अन्य हलचलो को उत्पन्न करते है। खिचाव (Tension) से उत्पन्न दरारों में होकर बसाल्ट चट्टानों का पिघला हुआ द्रव लावा फूट पड़ता है और धरातल पर लावा की बाढ़ आ जाती है। इस प्रकार पेरिडोटाइट तापीय चक्र से पृथ्वी की महान् घटनायें तथा बसाल्ट चक्र से साधारण घटनायें घटित हुआ करती है।

प्रो० होम्स ने अब जौली के उपर्युक्त सिद्धान्त और अपने संशोधन को स्वयं ही भ्रान्त एवं असम्भव माना है तथा श्री ए. जे. बुल के सुझावों के आधार पर अपना संवाहन-परिवाह सिद्धान्त (Convection Current Theory) प्रतिष्ठित किया है।

४७. होम्स का संवाहन-परिवाह सिद्धान्त (Convection Current Theory)—पृथ्वी पूर्णतया संवाहन क्रिया द्वारा ठण्डी होती रही है जिससे अधःस्तर में सिमा के गरम कणों की धारा ऊपर की ओर जाती रही है और ठण्डे कणों की धारा नीचे आती रही है। तेजोद्गर तत्त्वों के टूटने से पेरिडोटाइट परत में हमेशा इतनी गरमी उत्पन्न होती रही है कि इसमें कभी भी रवे बनने लायक अवस्था उत्पन्न नहीं हुई और अभी तक यह कांच-जैसी दशा में है। यह परत भूकम्प की लहरों पर

ठोसवत् व्यवहार करता है और इसमें दृढ़ता (Rigidity) भी काफ़ी है। परन्तु जब कभी भूपृष्ठ पर भार में अन्तर पड़ता है, तो तुरन्त हलचल उत्पन्न होती है और भार में सन्तुलन स्थापित हो जाया करता है। इन हलचलों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अधःस्तर में कड़ापन नहीं है और दीर्घकाल तक अत्यधिक दबाव के प्रभाव से इसमें परिवर्तन होना संभव है। पेरिडोटाइट परत में चिपचिपाहट भी बहुत ज़्यादा है, परन्तु संवाहन की धारायें इस चिपचिपाहट से रुक नहीं पातीं। अस्तु, भूमध्यरेखा के आस-पास ही पेरिडोटाइट परत के नीचे से ऊपर की ओर गरम धारायें चलती हैं। ऊपरी पपड़ी के समीप पहुँचकर यह धारा दो भागों में विभक्त हो जाती है। यहीं से इसकी प्रवाह-दिशा बदल जाती है। एक धारा भूमध्यरेखा से उत्तर की ओर जाती है और दूसरी दक्षिण की ओर जाती है। बसाल्ट में महाद्वीपों के धँसे हुए भाग इन धाराओं के चलने में बाधा उपस्थित करते है जिससे ये धारायें स्थल के भागों को भी ठेलकर आगे को धकेलती हैं, और इसीलिये महाद्वीप खिसकते हैं।

इन ग्रहीय धाराओं (Planetary currents) का प्रभाव समस्त भूपृष्ठ पर पड़ता ह। परन्तु पेरिडोटाइट परत के ऊपर दूसरा बसाल्ट परत है। इस बसाल्ट परत में (महाद्वीपों के निचले परत में) स्थानीय धारायें भी उत्पन्न होती हैं। इन स्थान-स्थान पर उत्पन्न होने वाली संवाहन-धाराओं का प्रभाव ग्रहीय धाराओं से अधिक शक्तिशाली होता है।

महाद्वीपीय खण्ड अधःस्तर पर उसी प्रकार स्थित है जिस प्रकार समुद्र जल में हिमशिलायें बहती रहती है। महाद्वीपीय खण्डों में तेजोद्गर तत्त्वों की अधिकता है। जिससे इन खण्डों से गर्मी निकलकर अपने नीचे के अधःस्तर को अधिक गरम बना देती है। किन्तु अधःस्तर के जिस भाग में महाद्वीपीय खण्ड बहुत नीचे तक नही धँस रहा है उस भाग में गर्मी की मात्रा कम होगी। फलतः जिस स्थान पर महाद्वीपीय परत सबसे अधिक मोटा है उसी स्थान के नीचे अधःस्तर में संवाहन-धारा उत्पन्न होकर इधर-उधर जायगी। इस धारा के प्रभाव से महाद्वीपीय खण्ड भी इधर-उधर हटने लगेगा। इस प्रकार हटने से महाद्वीपों के निकले हुए सिरे महासागरों की तली से टकरायेंगे और भिचाव द्वारा पर्वत-निर्माण होगा।

यह सिद्धान्त अभी तक अपूर्ण है। इसे पूर्ण बनाने के प्रयत्न जारी है। इसके द्वारा सभी भौगर्भिक एवं आग्नेय प्रणालियों का समुचित समाधान करने में पर्याप्त समय लगेगा। अधःस्तर में संवाहन तरंगों का होना कोई क्लिष्ट कल्पना नहीं है। बल्कि इस प्रकार की संवाहन-धाराओं के परिवाह द्वारा महाद्वीपों का खिसकना, एवं तज्जन्य पर्वत-निर्माणकारी तथा लावा उद्गरित करने वाली घटनाओं का होना सर्वथा बुद्धि-संगत ही प्रतीत होता है।

पाँचवाँ अध्याय

पृथ्वी के धरातल का इतिहास

४८. **इतिहास का आधार**—पृथ्वी के धरातल का विकास बहुत धीरे-धीरे और करोड़ों वर्षों में हुआ है। धरातल के निर्माण में प्रारम्भकाल से अब तक अनेकों परिवर्तन हुए हैं। इस लम्बे इतिहास में न जाने कितनी बार तट-रेखा कहीं-की-कहीं पहुँची है। अधिकांश स्थलीय भाग पर सागर-गर्भ में उत्पन्न हुई प्रस्तरीभूत चट्टानें बिछी पड़ी है। धरातल के अति दीर्घ जीवन की लम्बी कहानी प्रकृति ने इन्हीं चट्टानों में अंकित कर रक्खी है। ये चट्टानें एक प्रकार से पृथ्वी के इतिहास के पृष्ठ है। इन चट्टानों की परतें जैसे-जैसे जमती जाती थीं, उस समय के तत्कालीन पौधे या मरे हुए जीव समुद्र की तलछट में दबते जाते थे। इनमें से बहुत से नरम भाग गल-सड़कर लापता हो गये। परन्तु जानवरों की अस्थियाँ, और उनके कड़े खोल तथा पौधों की कड़ी छालें, कड़ी लकड़ी, पत्तियों के पंजर और बीज आदि कहीं-कहीं पथरा गये और कहीं चट्टानों में जल्दी दब जाने से सुरक्षित बने रहे। कम-से-कम इन सब के चिन्ह तो चट्टानों में बने ही रहे। इन्हीं सब को फासिल्स या जीव-अवशेष कहा जाता है। जब मनुष्य ने इन पत्थरों को काटा, तो उसे ये शिलालेख मिले। इन शिलालेखों ने तत्कालीन भौगोलिक परिस्थिति का रहस्योद्घाटन करने में अपरिमित सहायता पहुँचाई है। तेजोद्गरण-पद्धति से भी इस इतिहास को लिखने का प्रयत्न हुआ है।

४९. **इतिहास का काल-विभाग**—पृथ्वी की डायरी के इन पृष्ठों और शिला-लेखों को पढ़कर तथा अन्य तथ्यों के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि पृथ्वी लगभग तीन अरब वर्ष पुरानी है। पृथ्वी के धरातल का इतना लम्बा इतिहास चार मुख्य भागों में बाँटा गया है—(१) उषःकल्प या जीवन के प्रारंभ से पहले का काल (Eozoic), (२) पुराकल्प या प्राचीन जीवन का काल (Paleozoic), (३) मध्यकल्प (Mesozoic) और (४) नवकल्प (Neozoic)। इन चट्टानों के परतों और उनमें मिलने वाले जीव-अवशेषों के आधार पर इन कल्पों को युगों में और युगों को कालों में विभाजित किया जाता है।

जब पृथ्वी-पिण्ड के ऊपरी पृष्ठ का तापक्रम घटते-घटते ३७०° सेंटीग्रेड तक पहुँचा, तो उस समय के वायुमण्डल में दबाव से जलवाष्प कुछ घने हुए और प्रथम बार वर्षा होने लगी। संभव है भीषण गर्मी से उस समय जल बरसते ही भाप बन जाता हो। परन्तु धीरे-धीरे जल बरस कर पृथ्वी के गड्ढों में भरने लगा। उसी समय से धरातल के इतिहास का श्रीगणेश हुआ।

काल-विभाग

(१) उषःकल्प (Eozoic)

(२) पुराकल्प (Paleozoic)
- प्राचीन पुराकल्प
  - कैम्ब्रियन युग (Cambrian)
  - आर्डोविसियन युग (Ordovician)
  - प्रवालादि या साइलूरियन युग (Silurian)
- नवीन पुराकल्प
  - मत्स्य युग (Devonian)
  - अंगार युग (Carboniferous)
  - गिरि युग (Permian)

(३) मध्यकल्प (Mesozoic)
- रक्ताश्म युग (Triassic)
- महासरट युग (Jurassic)
- खटी युग (Cretaceous)

(४) नवकल्प (Neozoic)
- प्राचीन नवकल्प
  - प्रादिनूतन (Eocene)
  - आदिनूतन (Oligocene)
- नवीन नवकल्प
  - मध्यनूतन (Miocene)
  - अतिनूतन (Pliocene)
  - प्रातिनूतन (Pleistocene)

५०. उषःकल्प—इस युग की प्रस्तरीभूत चट्टानें पृथ्वी की प्राचीनतम प्रस्तरीभूत चट्टानें हैं और पृथ्वी के धरातल का आधार बनाती हैं। इस काल की चट्टानें बाद के युगों की चट्टानों से इतनी नीचे दब गयी हैं कि इनका देखना कठिन है। संयुक्त राज्य के मनीटोबा राज्य मे इस काल की चट्टानें मिली है। तेजोद्गरण की पद्धति से इनकी आयु पौने दो अरब वर्ष कूती गयी है। इस युग की चट्टानों में जीव-अवशेष बिल्कुल नहीं मिलते। इससे यह अनुमान लगाया गया है कि इस युग में संभवतः पृथ्वी का जलवायु अत्यन्त भयानक था तथा भूकम्प और ज्वालामुखी बहुत अधिक उठते थे। इसी कारण यह काल जीवोत्पत्ति के योग्य नही था।

उषःकल्प के अन्त में चार स्थल खण्ड बन चुके थे। २० लाख वर्ग मील में विस्तृत कनाडियन शील्ड थी। दूसरी बाल्टिक शील्ड, तीसरी साइबेरियन शील्ड और चौथा गोंडवाना प्रदेश कहलाता था।

५१. पुरा कल्प—इस युग में सबसे पहले प्रारम्भिक वनस्पति उत्पन्न हुई। इसी काल में जीव-उत्पत्ति के चिन्ह मिलते हैं। इस कल्प को बिना रीढ़ वाले जीवों का युग कहा जाता है, क्योंकि इस समय इन्हीं जीवों की प्रधानता रही। इस

कल्प को दो युगों में बाँटा जाता है—(१) प्राचीन पुराकल्प, और (२) नवीन पुराकल्प।

(१) प्राचीन पुराकल्प को तीन युगों में बाँटते हैं—कैम्ब्रियन युग, आर्डोविसियन युग और प्रवालादि या साइलूरियन युग।

कैम्ब्रियन युग स्थल पर समुद्र के आक्रमण से प्रारंभ हुआ। इसी कारण इस काल की चट्टानें कुछ अधिक विस्तृत हैं। इस युग की चट्टानों में बहुत थोड़ा चूने का पत्थर, उसके ऊपर बालुका प्रस्तर, फिर शेल और सबसे ऊपर चूने के पत्थर का पतला परत है। इन परतों में सबसे पहले जीव-अवशेष मिलते हैं। इन जीवों में ट्राइ-बोलाइट या त्रिखण्डी जीवों की प्रधानता है, जो बहुत ही निम्न श्रेणी के बिना रीढ़ वाले जीव हैं।

आर्डोविसियन युग में समुद्र स्थल पर बहुत अधिक बढ़ आया था। उत्तरी अमेरिका का आधा भाग जलमग्न हो गया। इस युग में ज्वालामुखी के उद्गार हुए, जिनसे पूर्वीय संयुक्त राज्य पर धूल और राख छा गयी। इस युग के बिना रीढ़ वाले जीव कैम्ब्रियन काल से अधिक विकसित हैं। वनस्पतियों में समुद्र में उगने वाली निम्न श्रेणी की घास मुख्य है। इस युग के अन्त में पर्वत निर्माणकारी हलचल हुई, जिससे मैसाचूसेट राज्य में पर्वतमाला का निर्माण हुआ।

साइलूरियन (प्रवालादि) युग में प्रथम बार मछलियों और भूमि पर उगने वाले पौधों के चिन्ह मिलते हैं। बिना रीढ़ वाले जीव पहले से अधिक ऊँची श्रेणी के हैं। सिलूरियन काल में प्रथम बार साँस लेने वाले जीव का उदय हुआ और प्राचीन लाल बालुका प्रस्तर बनना प्रारंभ हुआ।

(२) नवीन पुराकल्प—इस कल्प को तीन युगों में बाँटते हैं—मत्स्य युग, अंगार युग और गिरि युग। इस कल्प के प्रारंभ में पर्वत-निर्माणकारी उथल-पुथल हुई, जिसे केलेडोनियन हलचल कहते हैं। इस उथल-पुथल में स्केण्डिनेविया से ब्रिटेन और स्पिटबरजन होती हुई ग्रीनलैंड तक फैली हुई भू-संनति (Geosyncline) म पर्वत बन गये। मत्स्य युग में मछलियों के अवशेष सब युगों से अधिक मिलते हैं। अतः इसे मछलियों का युग कहते हैं। इस युग में स्थल पर जल का फिर आक्रमण होने लगा। इस समय चूने का पत्थर और शेल पत्थर भी बनता रहा, परन्तु लाल बलुआ पत्थर (Old Red Sandstone) की प्रधानता रही। अभी तक पृथ्वी की भौगोलिक अवस्था ऐसी थी कि केवल पानी के ही जीव-जन्तु रह सकते थे।

अंगार युग या कार्बोनीफरस काल में भूमि भाग घने जंगलों से आच्छादित थे, जो बाद में भूमि में दब गये और कोयले के रूप में बदल गये। इस युग में सारे संसार में कोयला बना। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भूमि की जलवायु ऐसी थी कि

वर्षा बहुत होती थी और गर्मी भी बहुत अधिक थी। अतः दलदली स्थानों पर घने जंगल खड़े हो गये। ये जंगल झील या समुद्र के आक्रमण से पानी में डूब गये। उसके ऊपर तलछट जमा होती रही और शेल, बलुआ पत्थर और समुद्र की बारीक मिट्टी के परत जम गये। उनके ऊपर फिर घने जंगल उगे। फिर समुद्र और आगे बढ़ आया और घने जंगल फिर तलछट में दब गये। इस प्रकार का क्रम लाखों बरसों तक चलता रहा और कोयले की अनेक परतें बन गईं। इसी कारण इस काल को कोयले का युग कहते हैं। समुद्र के स्थल की ओर बढ़ने से संभवतः समुद्र छिछले होने लगे। अतः समुद्री जीवों को अपने आपको भूमि पर रहने योग्य बनाना पड़ा और ऐसे जीव विकसित हुए जो जल और स्थल दोनों पर रह सकें। इस काल की विशेषता जल-स्थलचारी जीवों का विकास है और इसी समय रेंगने वाले जीवों के चिन्ह भी पाये गये हैं। अब ट्राइलोबाइट किस्म के जीवों का अन्त होने लगा। मछलियों ने इस कार्य में अधिक हाथ बटाया।

गिरि युग (Permian) में या इसके प्रारम्भ में एक पर्वत-निर्माणकारी उथल-पुथल हुई, जिसको हरसीनियन हलचल कहा जाता है। इसकी तैयारी बहुत दिनों से हो रही थी। मत्स्य युग से ही समुद्र का आक्रमण प्रारंभ हो गया था। इस हलचल ने मध्य योरोप, उत्तरी अमेरिका और कई अन्य क्षेत्रों में बहुत सा भूमि-भाग जल से ऊँचा उठा दिया। संभवत इसी समय लगभग समस्त उत्तरी अमेरिका ऊँचा उठकर शुष्क भूमि बन गया। इस समय में जल-स्थलचारी जीवों का बहुत विकास हुआ और इन्हीं की प्रधानता रही। इसी समय रेंगने वाले (उरगों) जीवों का प्रारम्भ हुआ। इस युग के अन्तिम भाग में पृथ्वी की गर्मी का बढ़ना शुरू हुआ। अधिकांश धरातल पर शुष्क जलवायु बढने लगी।

५२. **मध्यकल्प** (Mesozoic)—इस कल्प को उरगो का युग कहा जाता है। इसके तीन छोटे-छोटे भाग किये गये हैं—रक्ताश्म युग (Triassic), महासरट युग (Jurassic) और खटी युग (Cretaceous)।

परमियन (गिरि युग) काल में ही ऐसी भौगोलिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं कि धरती का जलवायु शुष्क होने लगा। इस समय जीवन की कठोर परीक्षा हुई। अधिकांश जीवन समाप्त हो गया। संभवतः धरती की गर्मी अधिक बढ़ गयी होगी। यह गर्मी ट्राइसिक या रक्ताश्म युग में बहुत बढ़ गई। शायद भूकंप भी अधिक आये होंगे। इस काल में उरगों का विकास होने लगा तथा अत्यन्त निम्न श्रेणी के स्तनपोषी जीव का प्रादुर्भाव हुआ।

मध्यकल्प के पूर्व से लेकर महासरट युग तक ब्राजील, दक्षिणी और मध्य अफ्रीका, मेडागास्कर, दक्षिण भारत तथा आस्ट्रेलिया के धरातल के इतिहास की

प्रमुख घटनाएँ एक-सी है। इससे सिद्ध होता है कि ये दूर-दूर फैले हुए भूखण्ड एक विशाल महाद्वीप गोंडवाना प्रदेश के टूटे हुए भाग है। उत्तरी गोलार्द्ध मे जब कोयला-काल की दलदलों में शुष्क जलवायु से सूखा पड़ रहा था, उस समय दक्षिणी महाद्वीप पर हिम आच्छादित हो रहा था। परन्तु ट्राइसिक काल के सूखा का पभाव शीघ्र होने लगा। वेगनर के महाद्वीपीय प्रवाह के सिद्धान्त के अनुसार गोंडवाना महाद्वीप मध्य-कल्प के पूर्व में दक्षिणी ध्रुव के समीप स्थित था। इसी से इस महाद्वीप पर हिमावरण छाया हुआ था। बाद मे यह महाद्वीप छिन्न-भिन्न होकर खिसकने लगा और अपनी वर्तमान स्थिति में पहुँच गया।

रक्ताश्म या ट्राइसिक युग के अन्त में योरोप के भूगोल की दो विशेषताएँ थीं। भूमध्य सागर और आल्प्स पर्वत के स्थान पर टेथिस समुद्र लहराता था और इसके उत्तर में नीचा रेगिस्तानी भाग था, जिसके ऊपर रक्ताश्म काल के लाल बलुआ पत्थर फैले हुए थे।

महासरट या जुरेसिक युग में रेंगने वाली श्रेणी के बहुत बड़े-बड़े तथा अत्यन्त डरावने जंतुओं का बाहुल्य था। इसीलिए इस काल को महासरट युग कहते है। उरगों का प्रादुर्भाव गिरियुग मे ही हो चुका था। परन्तु उस समय के उरग बहुत नाटे कद के थे। महासरट काल के आते-आते इनमें बहुत विकास हुआ। रूप की विचित्रता और शरीर की रचना के ढंग में ये सबसे आगे बढ़ गये। जल, थल और वायु सभी पर इनका राज्य फैल गया। ये हाथी से भी विशाल जन्तु थे। इनमें से कुछ की लम्बाई १०० फीट और भार १,००० मन तक बताया जाता है। जल के उरगों में लम्बी गर्दन वाले प्लेओसोरस और भारी आकार वाले इचथ्योसोरस मुख्य हैं। थल के उरगों में सबसे भयंकर डाइनोसोर उरग है। यह उरग अत्यन्त भयंकर आकार वाला होते हुए भी निरामिषभोजी और बुद्धिहीन जन्तु था। जलवायु के परिवर्तन से इन दैत्याकार जन्तुओं का लोप हो गया। परन्तु उरग जाति की स्फैनोडन छिपकली आजकल भी न्यूज़ीलैण्ड में पायी जाती है। इस छिपकली के एक तीसरा नेत्र भी होता है। उड़ने वाले उरगों में टेरोडेक्टाइल मुख्य है। इस काल की एक पथराई हुई चिड़िया मिली है, जो न तो पूर्णतया चिड़िया ही है और न पूर्णतया उरग ही है। इस चिड़िया को देखकर यह स्पष्ट जाना जा सकता है कि उरगो और चिड़ियाओं में कितना अधिक सम्बन्ध है।

खटी युग या क्रिटेसियस काल में खड़िया मिट्टी (Chalk) की चट्टानों की प्रधानता रही। इस समय योरोप और उत्तरी अमेरिका में खड़िया या खटी की विस्तृत परतें जमीं। इसी कारण इसको खटी युग कहते है। इस काल में भी उरगों का बाहुल्य रहा। इस काल में ऐसी मछलियाँ भी मिलती है, जिनकी हड्डियों का पूरा विकास

हो चुका था। इसी समय में अर्द्ध-विकसित चिड़ियाँ और प्रारम्भिक स्तनपोषी जन्तुओं का प्रादुर्भाव हुआ। खटी युग में समुद्र ने योरोप में आयरलैण्ड से ब्रिटेन, डेनमार्क, जर्मनी होते हुए दक्षिणी रूस तक आक्रमण किया। इसीलिए इन देशों में खड़िया मिट्टी के अत्यन्त सूक्ष्म कण वाले पत्थर बिछ गये। उत्तरी अमेरिका में जुरेसिक काल के अन्त में नेवेडियन नाम की पर्वत-निर्माणकारी हलचल हुई। इसी हलचल में सिअर्रा नेवादा पर्वत का निर्माण हुआ। खटी युग में नेवादा पर्वत के पूर्वीय भाग में गल्फ राज्यों पर खटी समुद्र फैल गया, जिससे अलास्का से मैक्सिको की खाड़ी तक एक विशाल भूसंनति (Geosyncline) में जल भर गया। इस छिछले समुद्र में तलछट और लावा एकत्र होता रहा। खटी युग के अन्त में लैरेमाइड हलचल ने कार्डिलरा पर्वत में कुछ भाग और जोड़ दिया।

दक्षिण भारत में खटी-समुद्र ने तीन विभिन्न स्थानों पर अपना प्रभाव छोड़ा है। कारोमण्डल तट के दक्षिण-पूर्व की ओर त्रिचनापुरी जिले में लगभग ३०० वर्ग-मील भूमि पर खटी युग की चट्टानें पाई गई हैं। इसी प्रकार मध्यभारत में ग्वालियर के पास बाघ कस्बे से सौराष्ट्र के वाधवान नगर तक खटी काल की चट्टानें जहाँ-तहाँ बिखरी हुई मिली है जिनमें उस समय के जीव-अवशेष मिलते है। तीसरा चिन्ह बम्बई राज्य के लावा प्रदेश पर मिला है। संभवत. इसी काल में दक्षिण भारत में लावा का विपुल उद्गार हुआ है, जो २½ लाख वर्गमील भूमि पर छा गया था। इस लावा प्रदेश पर प्रस्तरीभूत चट्टानों की बहुत पतली परतें मिली है, जिनमें मछली, मेंढक, और कछुआ आदि जन्तुओं तथा ताड़, डाइकोटिलेडोनस और नदी की शैवाल (alga) आदि पेड़-पौधों के अवशेष पाये गए है।

३. **नवकल्प** (Tertiary)— भूतत्ववेत्ताओं का अनुमान है कि इस कल्प का आरम्भ सात करोड वर्ष पूर्व हुआ था। यह कल्प अत्यन्त प्रसिद्ध है क्योंकि इस समय की चट्टानों का काफी अध्ययन हुआ है। इस कल्प में चिड़ियों और स्तनपोषियों (Mammals) का विकास हुआ। इस कल्प के दो भाग किये जाते है: प्राचीन नवकल्प और नवीन नवकल्प। प्राचीन नवकल्प के प्रादिनूतन युग और आदिनूतन युग दो विभाग है। नवीन नवकल्प के भी मध्यनूतन युग और अतिनूतन युग भाग किये जाते है। इसके बाद आजकल के समय को प्रातिनूतन युग नाम दिया जाता है।

नवकल्प के आरम्भ में गर्मी अधिक थी। परन्तु कुछ समय बाद जलवायु ठण्डी होने लगी। और बहुत से भूभाग हिमावरण से ढंक गए। इन परिस्थितियों में मध्य-कल्प के भीमकाय उरग जीवित नही रह सके और नष्ट हो गए। इस काल की प्रमुख घटनाओं में ज्वालामुखी पर्वतो के भयंकर उद्गार, विश्व के उच्च पर्वतों का निर्माण तथा मनुष्य का प्रादुर्भाव उल्लेखनीय है।

इस समय योरोप के भूगोल में दो समुद्रों का आक्रमण हुआ। हरसीनियन पर्वतों के उत्तर में दक्षिण-पूर्वी इँगलैंड, उत्तरी फ्रांस, बेलजियम, डेनमार्क और उत्तरी जर्मनी के ऊपर उत्तरी सागर फैला हुआ था और इन पर्वतों के दक्षिण में टेथिस समुद्र अभी हिलोरें मारता था। इन समुद्रों में प्रादिनूतन और आदिनूतन काल की तलछट जमती रही। आदिनूतन युग में दक्षिणी जर्मनी और पोलैण्ड पर भी उथले समुद्र का विस्तार फैल गया। मध्यनूतन युग के प्रारम्भ में आल्पाइन हलचल ने इटली के अतिरिक्त शेष आधुनिक योरोप को समुद्र से ऊपर उठा दिया। लन्दन, हैम्पशायर और पेरिस के सुप्रसिद्ध मैदान भी इसी काल में प्रकट हुए। अतिनूतन काल की हलचल ने इटली प्रायद्वीप और ईस्ट ऐंगलिया को जोड़कर योरोप का वर्तमान रूप प्रस्तुत कर दिया।

खटी युग के अन्त तक उत्तरी अमेरिका का वर्तमान रूप लगभग बन चुका था। नवकल्प में स्तरभ्रंश के द्वारा उसके ढाल का रूप स्थिर हुआ। इस युग मे प्रशान्त तट और गल्फ राज्यों पर नवीन चट्टानों का निर्माण हुआ। लूसियाना राज्य में ३०,००० फीट मोटी परत का नव-निर्माण हो चुका है। अतः विद्वानों का विश्वास है कि यहीं पर नवीनतम भू-संनति का अस्तित्व है।

नवकल्प ने भारत के भूगोल का नवीन शृंगार किया। इसी काल मे गोंडवाना महाद्वीप के टूट जाने से अफ्रीका भारत से अलग हो गया। मध्यभाग के जलमग्न हो जाने से भारत का पश्चिमी तट एकदम सपाट बन गया। मध्यनूतन काल में विशाल हिमालय पर्वत टेथिस समुद्र के गर्भ से जन्मा। हिमालय के समुद्र से ऊपर उठते ही गंगा-सिन्धु के मैदान का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मध्यनूतन युग के पश्चात् टेथिस समुद्र के हट जाने पर उत्तरी भारत में दो खाड़ियाँ बन गई थी—उत्तर पश्चिमी खाड़ी तथा आसाम की खाड़ी। उत्तर पश्चिमी खाड़ी मे काँप एकत्र होने से पश्चिमी पाकिस्तान का जन्म हुआ तथा आसाम की खाड़ी से आसाम और अराकान तट निर्मित हुए। इन्ही खाड़ियों में भारत का खनिज तेल उत्पन्न हुआ तथा टरशरी युग का कोयला भी इन्हीं खाड़ियों से सम्बन्धित है।

नवकल्प में ज्वालामुखी के उद्गारों ने भूगर्भ से लावा को निकालकर करोड़ो वर्गमील भूमि पर फैला दिया। दक्षिण भारत का लावा प्रदेश, कोलम्बिया के पठार का बसाल्ट लावा, पनामा का लावा तथा अन्य कई भागों में लावा का विस्तार हमारी बुद्धि को भ्रमित बना देता है। लावा के इस परत की मोटाई दस हज़ार फीट के लगभग है।

इस काल की पर्वत निर्माणकारी हलचल की ओर संकेत किया जा चुका है। टेथिस के उथले समद्र में से मोड़दार पर्वतों की शृंखला जिब्राल्टर जलडमरूमध्य से

प्रारम्भ हुई। यह पर्वतमाला भूमध्यसागर के दोनों किनारों पर होती हुई हिमालय तक दोहरी चली गई है। हिमालय पर दोनों शाखायें मिल जाती है। फिर यहाँ से एक शाखा बर्मा, मलाया, पूर्वी द्वीप समूह होती हुई न्यूजीलैण्ड तक गई है। दूसरी शाखा जापान तक चली गई है।

प्रातिनूतनकाल के प्रारम्भ में पृथ्वी की जलवायु ठण्डी होने लगी, जिससे धरातल हिमावरण से ढँक गया। उत्तरी योरोप में स्केण्डिनेविया हिमावरण का प्रमुख केन्द्र था। यहां से तीन करोड़ वर्गमील भूमि पर हिमशिलायें फैल गई। कनाडा और उत्तरी संयुक्त राज्य में लगभग ६ करोड़ वर्गमील पर हिमशिलाओं का साम्राज्य फैल गया। आल्प्स और हिमालय पर भी छोटे-छोटे क्षेत्रों में हिमावरण ने प्रभाव दिखाया।

इस युग में ठण्ड के बढ़ने से जीव-जन्तुओं ने भी अपने शरीर में परिवर्तन किए। कुछ ने ठण्ड से बचने के लिए अपने शरीर पर पंख उत्पन्न किए। इस परिवर्तन से उनका शरीर छोटा होता गया और हड्डियाँ घटती गई। इस परिवर्तन का उद्देश्य उड़ने में सहायता पहुँचाना था। इस प्रकार चिड़ियाओं का विकास हुआ। कुछ उरगों ने ठण्ड से अपनी रक्षा करने के लिए अपने शरीर पर बाल उत्पन्न किए। धीरे-धीरे इन्हीं से स्तनपोषी जीव बने। आस्ट्रेलिया में थैली वाले जन्तु या मारसूपियल पाये जाते है। ये अण्डे नहीं देते परन्तु इनके बच्चे अपूर्ण अवस्था में जन्म लेते है। धीरे-धीरे स्तनपोषियों में विकास हुआ। इस युग की चट्टानों में हाथी, घोड़े, ऊँट और सामुद्रिक स्तनपोषियों के अवशेष पाये जाते हैं। स्तनपोषियों के 'प्राईमेट' विभाग में बन्दर, बनमानुष और मनुष्य सम्मिलित है। इस विभाग का सर्वप्रथम अवशेष खटी युग की चट्टानों में मिला है। बन्दर के अवशेष ४ करोड़ वर्ष पुरानी चट्टानों में और बनमानुष के अवशेष १० लाख वर्ष पुरानी चट्टानों में मिले हैं। मनुष्य का अवशेष एक लाख वर्ष पुरानी चट्टानों में मिला है। हिम युग में जीवन की कठिनाइयों ने इसके मस्तिष्क को पर्याप्त विकसित किया। धीरे-धीरे मानव-मस्तिष्क का विकास होता गया, जिससे समस्त जीव-जन्तुओं को अधीन करके वह पृथ्वी का राजा बन बैठा।

खण्ड २

अध्याय ६

स्थलमण्डल

स्थलमण्डल (Lithosphere)

५४. स्थलमण्डल किसे कहते है ?—पृथ्वी की जो सबसे ऊपरी परत या भूपटल (Crust) है, उसके दो मोटे विभाग किये जाते है। जो भाग जल से आवृत है, उसे जलमण्डल कहते हैं और जो भाग जल से बाहर निकल आया है, उसे स्थलमण्डल कहते है। हमारी पृथ्वी के समस्त ऊपरी धरातल का क्षेत्रफल १९,८०,००,००० वर्ग-मील है, जिसमें से लगभग ५,५०,००,००० वर्गमील अर्थात् समस्त धरातल के २९ प्रतिशत भाग पर स्थलमण्डल का विस्तार है। शेष ७१ प्रतिशत भाग पर जल ही जल है।

इस स्थलमण्डल का दो तिहाई भाग उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित है और एक तिहाई दक्षिणी गोलार्द्ध में फैला हुआ है। यदि अक्षांशों के अनुसार स्थल का अनुपात देखा जाय तो उत्तरी गोलार्द्ध में २०° से ७०° तक स्थल की अधिकता है तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में ७०° से ८०° तक स्थल का आधिक्य है।

५५. स्थलमण्डल के विविध आकार—(Various forms of Litho-sphere) पृथ्वीतल पर स्थल की बनावट सब जगह एक-सी नही है। कही भूमि सपाट है तो कही ऊबड़-खाबड़ ढाल। कही गहरी घाटियाँ है तो कही आकाश से बाते करते हुए पर्वत-शिखर। ऊँचाई-नीचाई के ऐसे नानाविध एव विचित्र सम्मिलन पृथ्वी के कलेवर को सुसज्जित कर रहे है। समस्त स्थलमण्डल का पाँचवाँ भाग समुद्रतल से ६०० फीट तक ऊँचा है; दूसरा पाँचवाँ भाग ६०० से १,५०० फीट तक ऊँचा है; लगभग इतना ही १,५०० से ३,००० फीट तक की ऊँचाई पर है; एक तिहाई से कुछ कम (३० प्रतिशत) ३,००० से ६,००० फीट तक की ऊँचाई पर है; और शेष दसवाँ भाग ६,००० फीट से अधिक ऊँचा है। यदि ऊँचे-ऊँचे पर्वतों को तोड़कर नीचे भागो में बिछा दिया जाय, तो इस सपाट स्थलखण्ड की समुद्रतल से ऊँचाई २,३०० फीट होगी। परन्तु यदि समस्त स्थलीय भाग को महासागरों में समतल फैला दिया जाय, तो समस्त पृथ्वीतल पर २ मील गहरा एक भूमहासागर फैल जायगा।

५६. समस्या के तीन रूप—सृष्टि के यह विचित्र भूआकार (Land forms) अपनी विविधता एवं विचित्रता के कारण विस्मयोत्पादक एवं सुन्दर तो लगते ही है, परन्तु साथ ही पृथ्वीतल पर नाना प्रकार के पेड़-पौधों तथा जीव-जन्तुओं

की उत्पत्ति और विकास में सहायक भी हुए हैं। सृष्टि-वैचित्र्य के स्थूल रूप इन भू-आकारों को समझने के लिये कई मूलभूत बातों की जानकारी आवश्यक है। प्रथमतः हमें यह जानना चाहिए कि पृथ्वी का यह ऊपरी परदा या भूपटल, जिस पर हमारा निवास है, किन पदार्थों से बना है ? दूसरे इस परदे पर ये विभिन्न भूआकार क्यों है तथा इनमें क्यों परिवर्तन होता रहता है ? तीसरे इन आकारों में ऐसी कौन कौनसी विशेषतायें है जिनसे हम इन्हे पहचान सकते है ?

भूपटल का निर्माण करने वाले पदार्थ

५७. चट्टान (Rocks)—पृथ्वी का ऊपरी पृष्ठ ८,००० मील व्यास वाली पृथ्वी पर केवल ५० या ६० मील मोटा परत है। यह भूपृष्ठ पृथ्वी के भीतरी भाग वाले पदार्थ की अपेक्षा काफी हल्का है। इसका घनत्व सम्पूर्ण पृथ्वी के घनत्व के आधे से कुछ ही अधिक है।

भूपटल जिस पदार्थ से बना है उसे चट्टान कहते है। इस परिभाषा के अनुसार प्रत्येक प्रकार का प्राकृतिक पत्थर, चाहे सख्त हो या नरम, चट्टान कहलाता है। बालू, कोयला, चूने का पत्थर, ग्रेनाइट (कणाश्म) आदि सभी चट्टान है। चट्टानें या शिलायें कई प्रकार के खनिजों (Minerals) के संयोग से बनती है। कई चट्टानें एक ही खनिज से बनी हुई पायी गयी है। एक खनिज से बनी चट्टान को हम खनिज भी कह सकते है और चट्टान भी। किन्तु कई खनिजों के योग से बनी चट्टान को हम चट्टान ही कह सकते है। ये खनिज भी कई प्रकार के रासायनिक मूलतत्त्वों (Chemical Elements) के मिलने से बने है। अभी तक ९३ रासायनिक तत्त्वों का पता चला है। भूपटल के अधिकांश भाग का निर्माण इनमें से केवल १६ तत्त्वों द्वारा ही हुआ है। विद्वानों का अनुमान है कि भूपटल, जल तथा वायुमण्डल का ९८ प्रतिशत भाग केवल आठ तत्त्वों से ही बना है, जिनका विवरण निम्नाकित है :

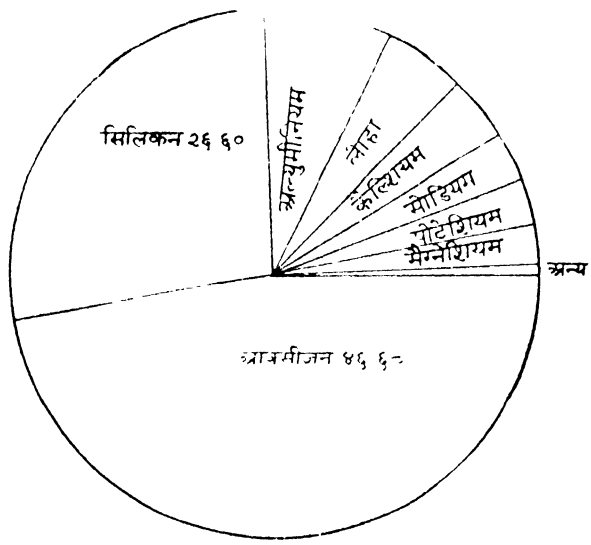

चित्र १९. भपटल के मूल तत्व

आक्सीजन ४६·६८ प्रतिशत	कैलशियम ३·६३ प्रतिशत
सिलीकन २७·६० प्रतिशत	सोडियम २·७२ प्रतिशत

अलूमिनियम	८·०५ प्रतिशत	पोटेशियम	२·५६ प्रतिशत
लोहा	५·०३ प्रतिशत	मैगनेशियम	२·०७ प्रतिशत

अन्य आठ तत्त्व टीटेनियम, फासफोरस, कार्बन (प्रगार), हाइड्रोजन, मैगनीज, गंधक, क्लोरीन तथा बेरियम है। ये स्थल, जल तथा वायुमण्डल का १·५५ प्रतिशत भाग ही निर्माण करते है। तांबा, सीसा, जस्ता, टीन, सोना, चांदी आदि तत्त्वों का मिश्रण तो बहुत ही कम है। इस प्रकार हम देखते है कि भूपटल का निर्माण करने वाली चट्टानो मे हल्के तत्त्व अधिक है और भारी बहुत कम है। यह बिलकुल स्वाभाविक भी है कि पृथ्वी के ऊपरी भाग मे हल्के तत्त्व अधिक हो।

५८. खनिज (Minerals):—स्वतन्त्र रूप से मूल तत्व बहुत कम पाये जाते है। सोना, गधक, कार्बन आदि दो-चार तत्त्व तो मूलरूप म मिलते है, परन्तु शेष सब एक दूसरे के साथ रासायनिक रूप म मिले रहते है। **मूल तत्त्वों के रासायनिक संयोग को, जिनकी रचना, प्राकृतिक रूप-रंग, आकार-प्रकार आदि गुण एक निश्चित प्रकार के हों, खनिज कहते है।** कुछ खनिज एक ही मूलतत्व के होते है जैसे सोना, तांबा, कोयला आदि। किन्तु अधिकाश खनिज एक से अधिक मूलतत्वो के याग से बनते है। इन तत्त्वो के मिश्रण के अनुपात मे ज्यो-ज्यो अन्तर पड़ता जाता है, त्यो-त्यो खनिजों की सख्या में भी वृद्धि होती जाती है। अब तक सैकड़ो खनिजो का पता लग चुका है। एक खनिज की रचना मे जिन तत्वो का मिश्रण रहता है, उनका अनुपात सदैव एक-सा रहता है। इसलिए हम कह सकते है कि निश्चित सगठन के ऐसे रासायनिक योगिको को ही खनिज कहते है। रासायनिक विश्लेषण द्वारा तत्वो का अनुपात निश्चित होते ही खनिज को सरलता से पहिचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए बिल्लौर या स्फटिक (Quartz) एक खनिज है, जिसमे आक्सीजन के दो अणु और सिलिकन का एक अणु मिला रहता है। अब फिर चाहे किसी भी प्रकार का स्फटिक क्यो न हो उसमें आक्सीजन के दो अणु और सिलिकन के एक अणु का अनुपात अवश्य ही होगा। इसी प्रकार अभ्रक मे आक्सीजन, सिलिकन, अलुमीनियम और पोटोशियम, इन चार तत्त्वों का योग अवश्य रहता है।

५९. खनिजों का वर्गीकरण—भूपटल के तत्त्वों में आक्सीजन, सिलीकन, अल्युमीनियम और लोहा—ये चार तत्त्व मुख्य है। इनमें आक्सीजन तो लगभग आधा और सिलीकन चौथाई से अधिक है। अत. खनिजो में इन्ही तत्वो का बाहुल्य है। ये तत्त्व अधिकाशत: आक्साइडो के रूप मे मिलते है। खनिजों का निम्न वर्गीकरण किया गया है :—

(१) आक्सीजन प्रधान खनिज—स्फटिक और लोहे के आक्साइड (लाल गेरू, पीला गेरू आदि)

(२) सिलिकन प्रधान खनिज—फेल्स्पार, नेफलीन, अभ्रक, क्लोराइड, आगाइट हार्नब्लैण्ड, एसबेस्टास, जहरमोहरा, क्योलिन (चीनी मिट्टी) आदि।

(३) कार्बोनेट खनिज—मेग्नेसाइट, कैल्साइट, डोलोमाइट आदि।

(४) अन्य खनिज—सोनामाखी, रूपामाखी, हरसोंठ (gypsum) आदि।

६०. **चट्टानों के भेद**—चट्टानें प्रायः खनिज के समूहों के एकत्रित होने से बनी है। अधिकतर चट्टानो में स्फटमय खनिज (Crystalline Minerals) पाये जाते है। खनिजों की संख्या बहुत है तथा उनका मिश्रण भी कई प्रकार से संभव है। अतः चट्टानों की संख्या भी बहुत है। कुछ चट्टानें जीवित पदार्थों के विघटन (Decomposition) से बनी है, जैसे कोयला। इस प्रकार चट्टानें असंख्य प्रकार की है। परन्तु उनके बनने की विधि के अनुसार चट्टानों को तीन मुख्य वर्गो में बाँटा जाता है :

(१) प्रारम्भिक या आग्नेय चट्टानें, (Igneous Rocks)।

(२) प्रस्तरीभूत चट्टानें या स्तरीय चट्टानें (Sedimentary Rocks)।

(३) रूपान्तरित चट्टानें (Metamorphic Rocks)।

आग्नेय चट्टानें

६१. **आग्नेय चट्टानों की विशेषतायें**—जो चट्टानें द्रव अवस्था से ठडी होकर बनी है उन्हे आग्नेय चट्टाने कहते है। इनका उत्पत्ति-स्थान पृथ्वी का भीतरी भाग है जहाँ से ये ऊपर की ओर ठेली गयी है और धरातल के ऊपर आकर अथवा पृथ्वी के भीतर-ही-भीतर इधर-उधर दरारो मे फैलकर ठंडी हो जाने से बनी हैं। 'आग्नेय' शब्द से ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि इन चट्टानो का निर्माण अग्नि से हुआ होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नही है। अग्नि का अर्थ **'ऊँचा तापक्रम'** ही समझना चाहिए। यदि किसी गरम द्रव पदार्थ को धीरे-धीरे ठण्डा होने दिया जाय, तो पिघले हुए द्रव के जमने पर उसमें रवे दाने या स्फटिक (Crystals) पड़ते है। इस से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये चट्टाने पिघले हुए द्रव पदार्थ के ठंडा हो जाने से बनी है। इसी कारण इन्हे आग्नेय चट्टाने कहते है। यद्यपि संभवतया यही चट्टानें पृथ्वी पर सब से पहले बनी, तथापि सभी आग्नेय चट्टानें प्राचीनतम नहीं है। इसके प्रतिकूल ज्वालामुखी के उद्गारों के साथ इन चट्टानों की निर्माण-क्रिया होती रही है और अब भी जारी है। अन्य दूसरी प्रकार की चट्टानें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इन्हीं चट्टानों से बनी है अतः इनको प्राथमिक चट्टानें कहना अधिक ठीक है।

६२. **आनेग्य चटटानों की पहचान**—आग्नेय चट्टानों को हम निम्न बातों से पहचान सकते है :—

(१) इन चट्टानों में **गोल कण नहीं** होते। गोल कण इन चट्टानों के टूट-

कर घिसने से बनते हैं।

(२) इनमें स्फट, दाने या रवे होते है परन्तु ये रवे **बेतरतीब** इधर-उधर फैले रहते हैं। रवों के आकार, संख्या आदि का कोई निश्चित नियम नहीं है।

(३) आग्नेय चट्टानें सघन (Massive) होती हैं, उनमें **परत नहीं** होते। कई बार इनमें परत होने का भ्रम हो जाता है। उस भ्रम के कई कारण हो सकते हैं जैसे—

(क) लावा की ठंडी होकर जमी हुई परत पर दोबारा द्रव लावा का फैलकर जमना।

(ख) चट्टानों में समतल पर जोड़ आ जाना।

६३. आग्नेय चट्टानों के भेद—आग्नेय चट्टानों के ठण्डे होने के स्थान तथा उसमें लगने वाले समय के आधार पर कई भेद किये जाते है।

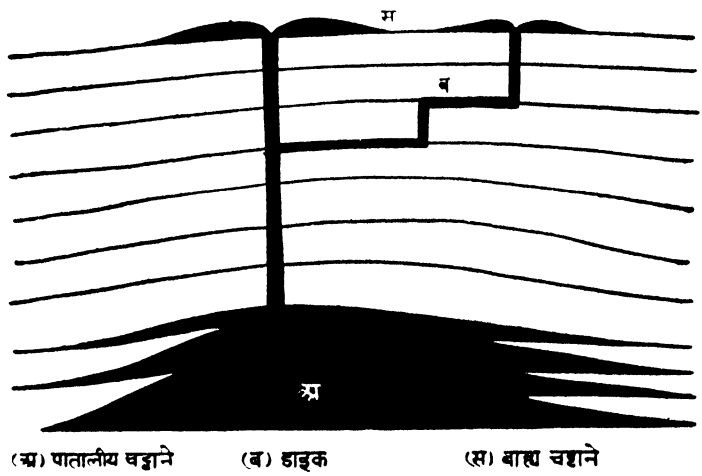

चित्र २०. आग्नेय चट्टानें

(१) **पातालीय चट्टानें** (Plutonic Rocks)—ज्वालामुखी से निकलने वाला उत्तप्त, द्रव लावा धरातल तक नही आ पाता किन्तु अत्यन्त गहरे स्थानों पर ही रह जाता है और वहाँ **भीतर-ही-भीतर** ठण्डा होता है। अत्यन्त गहराई पर ठण्डा होने में इसको बहुत समय लगता है। अतः इसके स्फट या रवे **काफ़ी बड़े-बड़े** होते हैं। इस प्रकार भीतर बनने वाली चट्टानों को पातालीय चट्टानें कहते है। ऊपर की चट्टानों के घिसकर हट जाने पर ये ऊपरी धरातल पर पहुँचती हैं।

(२) **बाह्य चट्टानें**—जो लावा ज्वालामुख से निकलकर **धरातल पर आ** जाता है, वह जल्दी ठण्डा हो जाता है। अतः इन चट्टानों के **स्फट छोटे-छोटे** होते हैं। इनको बाह्य चट्टानें कहते हैं।

(३) **मध्यवर्ती चट्टानें**—कुछ लावा पृथ्वी के भीतरी भाग से तो निकल पड़ता

है परन्तु ज्वालामुखी में होकर बाहर नहीं निकल पाता। किन्तु **चट्टानों में फँसा-फँसा** ही जम जाता है। इस लावा के जमने से जो चट्टानें बनती है, उन्हें मध्यवर्ती चट्टानें या डाइक (Dykes) कहते है यों तो विभिन्न आग्नेय चट्टानों में भिन्न-भिन्न तत्त्वों का मिश्रण भिन्न-भिन्न अनुपात में होता है, परन्तु इस वर्ग की सभी चट्टानों में थोड़ा या बहुत **सिलिका** (Silica) **का मिश्रण अवश्य** रहता है। अतः सिलिका की न्यूनाधिक मात्रा के आधार पर भी आग्नेय चट्टानों का चार भागों में विभाजित किया गया है—

(क) अम्ल चट्टानें जिनमे सिलिका की मात्रा ६६ से ८० प्रतिशत तक होती है।

(ख) मध्यम चट्टानें जिनमें सिलिका का योग ५२ से ६६ प्रतिशत तक होता है।

(ग) पैठक चट्टाने जिनमें सिलिका का सयोग ४० से ५२ प्रतिशत तक होता है।

(घ) अति-पैठिक चट्टानें जिनमे सिलिका का भाग ४० प्रतिशत से कम होता है।

अम्ल चट्टानो में ग्रेनाइट या कणाश्म चट्टाने मुख्य है। इनमे सिलिका ७५ प्रतिशत, पोटेशियम और सोडियम क्षार ७ प्रतिशत और लोहे के आक्साइड केवल ३ प्रतिशत होते है। सिलिका की मात्रा अधिक और लोहा कम होने के कारण मौसमी क्षति (Weathering) का इन चट्टानों पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। अतः इनको इमारतों के बनाने के काम मे लाया जाता है।

पैठिक चट्टानों में बसाल्ट चट्टाने मुख्य है। महासागरीय ज्वालामुखियों और द्वीपो में ये चट्टानें अधिक मिलती है। इनमें क्षार तो कम मात्रा मे होते है, परन्तु लोहा, चूना और मेग्नेशिया अधिक मात्रा मे मिलते है। यद्यपि ये चट्टानें ग्रेनाइट चट्टानों की अपेक्षा ऊँचे तापक्रम पर पिघलती है, परन्तु उनकी अपेक्षा पतली होती है। इन पर मौसमी क्षति का प्रभाव बड़ी जल्दी होता है।

प्रस्तरीभूत चट्टानें (Sedimentary Rocks)

६४. प्रस्तरीभूत चट्टानों की विशेषतायें—ये चट्टाने धरातल पर अधिक मात्रा में पायी जाती है। विद्वानों का अनुमान है कि पृथ्वी के ऊपरी धरातल के तीन-चौथाई भाग पर प्रस्तरीभूत चट्टानें बिछी हुई है। यद्यपि ऊपरी धरातल पर ये चट्टानें इतनी विस्तृत है किन्तु भूपटल के निर्माण मे इनका केवल ५ प्रतिशत भाग ही है। शेष ९५ प्रतिशत भाग मे आग्नेय या रूपान्तरित चट्टानें भरी पड़ी है। इन चट्टानों मे निम्नलिखित विशेषतायें पायी जाती है :—

(१) इन चट्टानों में से किसी एक को चाकू से खुरचा जाय, तो उसकी चूर अलग हो जायगी। यदि इस चूर को सूक्ष्मदर्शक यंत्र की सहायता से देखा जाय, तो पता चलेगा कि इस चूर में **छोटे-बड़े आकार के सूक्ष्म कण** ही सूक्ष्म कण भरे पड़े हैं। इन विभिन्न आकार वाले सूक्ष्म कणों का विशेष अध्ययन करने पर पता चलेगा कि अलग-अलग कणों के खनिज तत्त्व भी प्रायः एक दूसरे से भिन्न है।

(२) फिर यंत्र द्वारा चट्टान की ओर ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो पता चलेगा कि ये सूक्ष्म कण **सीधी रेखाओं में एक दूसरे से गुँथे** हुए हैं। ये सीधी रेखायें भी एक दूसरी के समानान्तर स्पष्ट दिखाई देगी। इन समानान्तर परतों या स्तरों द्वारा इन चट्टानों को सघन रचना वाली आग्नेय चट्टानों से अलग पहचाना जा सकता है।

उपर्युक्त दोनों विशेषताये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन विशेषताओ के द्वारा ये चट्टानें अपना इतिहास स्वयं वर्णन करती है। इनसे स्पष्ट है कि नाना प्रकार के खनिजों वाली विभिन्न चट्टानो के टूटकर चूर होने और घिसने से सूक्ष्म कण बने और फिर ये सूक्ष्म कण परतों के रूप में एकत्र होने के पश्चात् जमकर चट्टान बने। इन चट्टानों की अधिकता से यह अनुमान हो सकता है कि पृथ्वी कितनी पुरानी है।

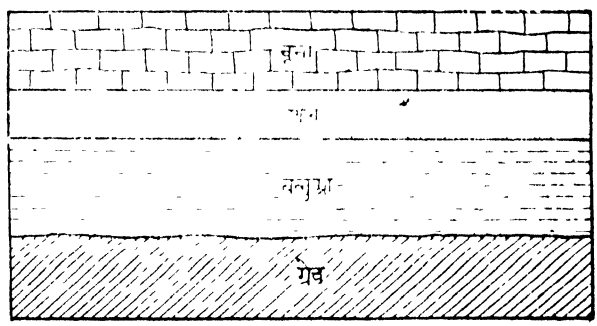

चित्र २१. प्रस्तरीभूत चट्टानें।

६५. प्रस्तरीभूत चट्टानों के बनने की विधि—सबसे पहले आग्नेय और फिर कुछ काल के पश्चात् अन्य सभी प्रकार की चट्टानें मौसमी क्षति द्वारा धीरे-धीरे

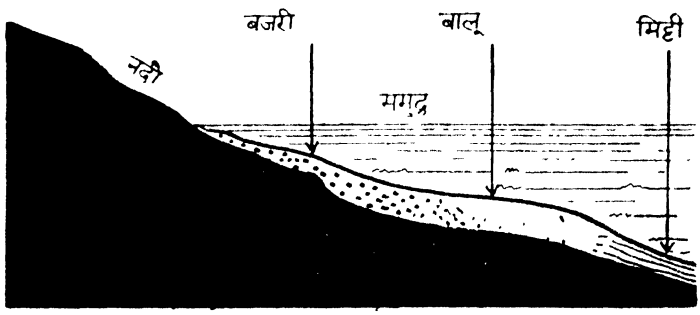

चित्र २२. प्रस्तरीभूत चट्टानों का निर्माण।

टूट-फूट गयीं। यह टूटी हुई चट्टानों का चूरा नदियो, हवाओं अथवा हिमानियों (Glaciers) द्वारा हटाया जाता रहा। जल इस चूरचार को अपनी प्रवाह-शक्ति तथा अपनी

विलयन शक्ति (Solution Power) से हटाकर समुद्रों या झीलों में डालता रहा। प्रवाह-शक्ति के कमज़ोर पड़ जाने पर भारी और बड़े आकार के शिलाचूर पहले जमा हो गये तथा हल्के और छोटे कण कुछ आगे जमा हो गये। इस प्रकार की छँटनी द्वारा एक ही आकार और वज़न के कण एक स्थान पर एकत्रित होते है। फिर प्रवाह में अन्तर होने पर इन परतों के ऊपर दूसरे प्रकार के कण जमा हो सकते है। इस प्रकार चट्टानों का चूरा समुद्र की तली में एक परत के बाद दूसरे परत के रूप में बैठता गया। यह क्रिया लाखों वर्षो तक होती रही और परतों का बहुत ऊँचा ढेर एकत्र हो गया। ऊपरी परतों के दबाव और पानी में घुलकर आये हुए चूना या अन्य पदार्थो के मिलने से परत जमकर सख्त चट्टानें बन जाती है। पृथ्वी के धरातल पर उथल-पुथल होने के कारण पानी के भीतर बनी हुई ये परतदार चट्टानें बाहर निकल आती हैं।

हवा द्वारा उड़ाकर लाई हुई चूरचार ऊपरी परतों के दबाव के कारण ही जुड़कर ठोस चट्टान बन जाती है। जिस प्रकार साबुन का चूर साँचे में दबने से साबुन की टिकिया के रूप में बदल जाता है, उसी प्रकार ये चट्टानें भी पृथ्वी-तल पर जमी होंगी। चीन देश में इस प्रकार की सैकडो फीट मोटी लोयस चट्टानें मिलती है। हिमानियों द्वारा जमा किये हुए शिलाखण्डों में परत नहीं बनते। प्रस्तरीभूत चट्टानों में परत न होने का यही एक अपवाद है।

अस्तु, प्रस्तरीभूत चट्टानो में कई परतें एक दूसरे के ऊपर बिछी रहती है। ये परतें किसी **निश्चित विभाजन-रेखा** द्वारा या **विभिन्न मोटाइयों** द्वारा अथवा कई बार **अपने-अपने अलग रंगों** द्वारा साफ़ पहिचानी जा सकती है। इन परतों को स्तर भी कहते है।

६६. प्रस्तरीभूत चट्टानों के भेद—इन चट्टानो के निर्माण में स्फटिक (Quartz), मिट्टी (Clay) और चूने (Calcite) के खनिजो की अधिकता है। परन्तु इन चट्टानो का वर्गीकरण इनकी निर्माण-विधि के अनुसार किया जाता है। चट्टान बनने की विधि के अनुसार इन चट्टानों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) चट्टान-चूर्ण से निर्मित, (२) विलीन रसायनों से निर्मित, और (३) कार्बनिक तत्त्वों से निर्मित।

(१) **चट्टान-चूर्ण द्वारा निर्मित**—परिवहन की शक्तियाँ (Transporting Agents) अपनी प्रवाह-शक्ति से कुछ शिलाचूर्ण अपने साथ बहा लाती है। ज्योंही इनकी प्रवाह-गति धीमी होती है, उनकी बहा ले जाने की शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः वे पहले कुछ बड़े और भारी, फिर इसके बाद छोटे और हल्के प्रवाहित पदार्थ को नीचे तली में छोड़ देती है। बहाकर लाये हुए शिलाचूर्ण दो प्रकार के होते है—

(क) जिनमें बालू की अधिकता हो, और (ख) जिनमें चिकनी मिट्टी अधिक हो।

(क) **बलुई चट्टानें** (Siliceous Rocks)—इन चट्टानों में स्फटिक (Quartz) खनिज की प्रधानता होती है। स्फटिक अत्यन्त कठोर और नष्ट न होने वाला खनिज है। अतः जल के थपेड़े खाकर पहले छोटे टुकड़ों के रूप में और फिर बालू के रूप में बदल जाता है। स्फटिक के अतिरिक्त अन्य खनिजों के सूक्ष्म कण भी इन चट्टानों में मिले रहते है। पानी में घुली हुई मिट्टी, चूना या सिलिका के मिलने से बालू के कण जमकर चट्टान के रूप में बदल जाते है। इन चट्टानों में बालुका-प्रस्तर (Sandstone) मुख्य है जिसे इमारतों के बनाने के काम में लेते हैं। यह चट्टानें **रन्ध्रपूर्ण** (Porous) होती है, अतः इनमें पानी भरा रहता है जिसको कुएं खोदकर प्राप्त किया जा सकता है।

(ख) **वे चट्टानें जिनमें मिट्टी अधिक हो**—बालू के प्रतिकूल मिट्टी के कण बहुत सूक्ष्म होते है। बारीक कणों के जमने से ही ये चट्टानें बनती है। अतः इनमें **छिद्र बहुत कम** होते है। इसी कारण पानी इन चट्टानों को भेदकर नीचे नहीं जाने पाता। परन्तु जब ये चट्टानें ऊपरी धरातल पर आ जाती है, तो इनमें कटान बड़ी जल्दी होने लगती है। इसी से इन चट्टानों को इमारतों में नही लगाते। इन चट्टानों में शेल (Shale) मुख्य है।

(२) **विलीन रसायनों से निर्मित चट्टानें**—बहता हुआ जल अपने साथ कुछ घुलनशील तत्त्वों को घोलकर बहा लाता है और झरनों के मुहानों पर अथवा खारी झीलों में डाल देता है। इसी से कालान्तर मे चट्टानें बन जाती है। हरसोंठ (Gypsum), शैल-लवण (Rock-Salt), पोटशियम नमक आदि इसी प्रकार की चट्टानें है।

(३) **कार्बनिक तत्त्वों से निर्मित चट्टानें**—जानवरों अथवा पेड़-पौधों के अवयव धीरे-धीरे एकत्र होते रहते है और सख्त चट्टान के रूप में बदल जाते है। इन चट्टानों के दो मुख्य भेद है—(क) वे जिनमें चूने की अधिकता हो, और (ख) वे जिनमें कार्बन की अधिकता हो।

(क) **चूने की चट्टानें**—चूना-प्रधान चट्टानों में चूने का पत्थर (चूना-प्रस्तर) मुख्य है। जीवधारियों के अस्थिपंजर तथा पानी में मिले हुए चूने के एकत्र होने से इसका निर्माण होता है। जलचारी जीवों के ढाँचे एक के ऊपर एक इकट्ठे होते जाते हैं और कालान्तर में यही चूने का पत्थर बन जाता है। स्पष्ट है कि चूने के पत्थर के लिए उपयुक्त सामग्री अधिकतर उन समुद्रों में मिलेगी जहाँ जल में जीवों और वनस्पतियों के योग्य भोजन प्रचुर मात्रा में मिल सके तथा जल इतना गरम रहता हो

कि उसमें जीव खूब पनप सकें। उष्ण और शीतोष्ण कटिबन्धों के छिछले समुद्रों में ये सुविधायें प्राप्य है। अतः इन्ही भागो में चूने की चट्टानें अधिक जमा होती हैं। बालू या मिट्टी आदि के मिश्रण होने से इन चट्टनों के अनेक भेद हो जाते हैं, जिनमें खड़िया, सेलखड़ी, डोलोमाइट आदि चट्टानें सम्मिलित है। चूने का पत्थर भूतल पर बहुतायत से पाया जाता है, और यह मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी भी है। इस पत्थर से सीमेन्ट बनता है, लोहा गलाया जाता है, और यह इमारतें बनाने के काम में भी बहुत आता है।

(ख) **कार्बन-बहुल चट्टानें**—कार्बन-प्रधान चट्टानों में कोयले का पत्थर, आइल-शेल आदि चट्टानें प्रमुख है। वनस्पति तत्त्वों के कुछ अश सड जाते है और बाद मे दबाव पड़ने से जमकर चट्टान बन जाते है।

रूपान्तरित चट्टानें (Metamorphic Rocks)

६७. **रूपान्तरित चट्टाने**—आग्नेय अथवा प्रस्तरीभूत चट्टानों के मूल रूप में परिवर्तन हो जाने से जो चट्टानें बनती है उन्हे रूपान्तरित चट्टानें कहते है। पृथ्वी की **आभ्यन्तरिक गर्मी** अथवा **भारी दबाव अथवा दोनों ही कारणों से** आग्नेय और प्रस्तरीभूत चट्टानों के **रूप और गुण में पूर्ण परिवर्तन** हो जाता है। इस परिवर्तन से मूल चट्टान की **कठोरता मे वृद्धि** हो जाती है और कई बार चट्टान के **खनिज भी बदल-कर** नवीन प्रकार के खनिज बन जाते है। इन चट्टानों में दबाव या गर्मी की न्यूनाधिक मात्रा के कारण अनेकों प्रकार के परिवर्तन देखे गये है। पूर्ण परिवर्तन हो जाने पर तो चट्टान के मूल रूप का पहिचान लेना भी कठिन कार्य है। विद्वान् भी ठीक-ठीक नहीं बता सकते कि रूप-परिवर्तन से पहले चट्टान आग्नेय थी या प्रस्तरीभूत। प्रस्तरी-भूत चट्टानों और इन चट्टानों की निर्माण-विधि में मुख्य अन्तर यह है कि प्रस्तरीभूत चट्टानें अन्य चट्टानों की चूरचार के स्थानान्तरित होकर पानी के भीतर समुद्र की तली में परत रूप से एकत्रित होने से बनी है। परन्तु इन चट्टानों को स्थानान्तरित होने की आवश्यकता नहीं। इनके बनने में मूल चट्टान अपने स्थान पर ही अधिक गर्मी या दबाव तथा रासायनिक क्रियाओं के कारण अपना रूप बदल डालती है। अब प्रश्न यह है कि जब यह चट्टानें अपने स्थान पर ही रूप बदलती है, तो फिर इन पर प्रभाव डालनेवाली गर्मी और दबाव किस प्रकार उत्पन्न होते है। संभवतया गर्मी और दबाव के निम्न मुख्य कारण है—

(१) पर्वत निर्माणकारी शक्तियों द्वारा पृथ्वी की हलचल से भूपृष्ठ पर भारी दबाव पड़ता है और ऊपरी पृष्ठ पर सिकुड़न या मोड़ पड़ जाती है। इसी दबाव से तथा भीतर की गर्मी और भीतर के अन्य पदार्थो के रासायनिक प्रभाव से चट्टानों के रूप में परिवर्तन हो जाता है। ज्वालामुखी से निकली राख और शेल चट्टान

(Shale) जब पृथ्वी के नीचे दब जाती है और उस पर अत्यधिक दबाव पड़ता है, तो उसका रूप बदलकर स्लेट (Slate) पत्थर बन जाता है।

(२) ज्वालामुखी से निकलने वाला उत्तप्त द्रव लावा पृथ्वी के भीतर ही मार्ग में पड़ने पाली चट्टानों के छिद्रों, दरारों या परतों के भीतर प्रवेश कर जाता है जिससे चट्टानों पर भारी दबाव पड़ता है। इस प्रकार जब लावा चूने के पत्थर की परतों में घुस जाता है या उसके ऊपर या नीचे इकट्ठा हो जाता है, तो चट्टान पर काफ़ी दबाव पड़ता है। साथ ही लावे के भीषण ताप से चूने का पत्थर संभवतया पिघलकर नये रवों या स्फटों (Crystals) के रूप में बदलने लगता है और धीरे-धीरे सम्पूर्ण पत्थर संगमरमर बन जाता है। यदि चूने के पत्थर के परतों में समुद्री पौधे या जीव दबे हुए रहते है, तो संगमरमर बनते समय इनकी छाप पत्थर पर आ जाती है। अनेकों प्रकार के चित्रित संगमरमर इसी प्रकार बने है।

(३) कभी-कभी दोनों प्रक्रियायें साथ-साथ होती है। भूमिगत जल भी खनिजों में परिवर्तन कर डालता है जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

(४) भूखण्ड निर्माणकारी घटनाओं से विशाल भूभाग पर प्रभाव पड़ता है, और पृथ्वी की रचना में क्रान्तिकारी परिवर्तन होता है। उस समय भारी दबाव से चट्टानों का रूप बदलता है। इस प्रकार से बनी हुई रूपान्तरित चट्टानें पृथ्वी के विशाल भागो में फैली हुई होती है।

उपर्युक्त तीनो प्रकार की चट्टानें मानव-जीवन के लिए अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। हमारे जीवन में काम आने वाली प्राय सभी वस्तुएँ हमें इन्ही से ही प्राप्त होती हैं। सभी प्रकार की धातुएँ, कोयला तथा खनिज तेल हमें इन चट्टानो से ही मिलते है। इन चट्टानों के टूटने से ही मिट्टी (Soil) बनती है जिस पर वनस्पति जगत् का जीवन निर्भर है। इन चट्टानों के छोटे-मोटे छिद्रों में पानी भरा रहता है और यही पानी हमें कुएँ खोदने पर मिल जाता है। अब आप समझ गये होंगे कि हम सब अपने जीवन के लिए इन चट्टानों के कितने ऋणी है !

६८. भूमि-आवरण (Mantle Rocks)—उपर्युक्त तीनों प्रकार की चट्टानें भूमि-आवरण (Mantle Rocks) से ढँकी पड़ी है। यह आवरण कहीं तो दो-चार इंच ही मोटा है, परन्तु कही-कही इसकी मोटाई सैकड़ों फीट होती है। गंगा नदी के मैदान में इसकी मोटाई कई सहस्र फीट बतलाई जाती है। इसमें चट्टानों के टुकड़े, बालू, कंकड़, धूल और मिट्टी आदि सम्मिलित है। इस भूमि-आवरण के ऊपरी बारीक भाग को मिट्टी (Soil) कहते है। मानव-जीवन के लिए मिट्टी अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण है। सम्पूर्ण खेती और इसीलिए समस्त मानवी सभ्यता का आधार पृथ्वी की मिट्टी ही है। **मिट्टी किसी भी देश की वास्तविक सम्पत्ति** मानी जाती है। मिट्टी की प्रशंसा करते

हुए एक बार श्री थियोडोर रूज़वेल्ट ने कहा था कि यदि भूपृष्ठ से मिट्टी बिलकुल समाप्त हो जाय, तो फिर मानव सभ्यता के समाप्त होने में अधिक दिन न लगेंगे। वास्तव में पृथ्वी से प्राप्त होने वाले प्राकृतिक साधनों में मिट्टी और पानी ये दो अमूल्य रत्न हैं।

सातवाँ अध्याय

भू-आकार और उनका परिवर्तन

(Principal Land Forms and Forces that mould them)

६९. भू-आकार (Land forms)—पृथ्वीतल के असमतल भागों को दो मोटे भागों में बाँटा जा सकता है। पृथ्वी के विशाल एवं विस्तृत गड्ढे महासागर हैं, तथा विस्तृत ऊँचे भाग महाद्वीप कहलाते है। स्थलीय भाग पर भी हमें विभिन्न प्रकार के आकार (Features) दृष्टिगोचर होते है। इनकी ऊँचाई-नीचाई कहीं पर भी एक समान नहीं है। विभिन्न ऊँचाई-नीचाई का यह विचित्र सम्मेलन ही सृष्टि के सौन्दर्य एवं उपादेयता का हेतु है। स्थलखण्ड के इन अगणनीय विचित्र चित्रों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) विस्तृत मैदान, (२) ऊँची पर्वतमालायें, तथा (३) पठार और ऊबड़-खाबड़ पर्वतीय प्रदेश।

स्थल के ये विभिन्न आकार स्थायी नहीं है। आज जहाँ पर्वतश्रेणियाँ हैं, वहाँ भविष्य में मैदान बन सकते है। आज जहाँ हिमालय पर्वत खड़ा है, वहाँ पर किसी समय टेथिस समुद्र हिलोरें मारा करता था। आज जहाँ हरे-भरे मैदान है वे आगे चलकर मरुस्थल हो सकते है। भू-आकारो की उत्पत्ति एवं परिवर्तन में कुछ विशेष शक्तियों का हाथ है जिनके प्रभाव से पृथ्वी का रूप निरन्तर बदलता रहा है और आगे भो बदलता रहेगा।

७०. भू-आकारों में परिवर्तन करने वाली शक्तियाँ—आकारों में उलट-फेर करने वाली इन शक्तियों को हम दो श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—(१) भूगर्भ में अदृश्य रूप से क्रियाशील रहने वाली **भौगर्भिक शक्तियाँ,** (Endo-genetic) तथा (२) पृथ्वी के बाहर उत्पन्न होने वाली **समतलस्थापक या बाह्य शक्तियाँ** (Exo-genetic forces)।

(१) भौगर्भिक शक्तियाँ या आन्तरजात शक्तियाँ—भूगर्भ के किसी अदृश्य भाग में कुछ गुप्त घटनायें घटित होती रहती हैं। इन घटनाओं के कारण धरातल के रूप में पर्याप्त परिवर्तन हो जाता है। इन घटनाओं के तीन कारण हो सकते हैं—**(क) आन्तरिक ताप, (ख) भीतरी चट्टानों का प्रसार** (Expansion) या **संकोच** (Contraction), तथा **(ग) द्रव पदार्थ का स्थानान्तरित** होना अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना।

पृथ्वी की इन आभ्यन्तरिक घटनाओं की दो श्रेणियाँ की जा सकती हैं—

(क) **दीर्घकालिक घटनाएँ** (Diatrosphism)—इस श्रेणी में पृथ्वी की वे

अदृश्य एवं अत्यन्त धीमी घटनायें सम्मिलित हैं जिनके फलस्वरूप धरातल का कुछ भाग टूट या मुड़ जाता है अथवा ऊपर या नीचे, दायें या बायें हट जाता है। पृथ्वी के इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि ऊँचे उठने और नीचे धँसने के कारण प्रायः सभी महाद्वीप समुद्र में डुबकी लगा चके है।

(ख) **आकस्मिक घटनायें**—इस श्रेणी में वे घटनायें सम्मिलित है जिनके कारण धरातल के आकार में अचानक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो जाता है। इस श्रेणी में ज्वालामुखी और भूकम्प मुख्य है। ज्वालामुखी भूगर्भ से लावा को लाकर धरातल पर पटक देते है जिससे भूमि अत्यन्त ऊँची-नीची हो जाती है। भूकम्पों से भी पृथ्वी के ऊपरी आकार में परिवर्तन हो जाता है, नदियों का मार्ग बदल जाता है तथा धरातल पर बहुत सी उथल-पुथल मच जाती है।

इस प्रकार भौगर्भिक या आन्तरजात (Endo-genetic) शक्तियाँ भूतल को निरन्तर **असमतल** या ऊँचा-नीचा बनाती रहती है।

(२) **समतलस्थापक या बाह्य शक्तियाँ** (Exo-genetic forces)—ये शक्तियाँ स्थलमण्डल के ऊँचे-नीचे भागों के अन्तर को मिटाकर सभी स्थानों को **समतल** बनाने का प्रयत्न करती है। जो स्थान ऊँचे है उन्हें निरन्तर काटती रहती है तथा कटे हुए पदार्थ को बहाकर धरातल के निचले भागों या गड्ढों में एकत्रित करती रहती है। यह कार्य मुख्यतया बहते जल, वायु और हिमानी (Glacier) आदि के द्वारा सम्पन्न होता है। समतलस्थापन का कार्य भी दो भागों में विभक्त किया जाता है—

(क) **अपचयन की शक्तियाँ** (Degradation) ऊँचे भागों को काटकर समतल बनाने का यत्न करती रहती है।

(ख) **जमाव की शक्तियाँ** (Aggradation) उँचे भागों की छीलन या चूर-चार को **नीचे भागों में**, ऊँचा बनाने के उद्देश्य से, जमा करती रहती है।

७१. भूम्युत्थान चक्र (Evolutionary cycle)—अस्तु, हम देखते हैं कि भौगर्भिक शक्तियाँ भूमि को ऊँचा-नीचा बनाने का भरसक प्रयत्न करती है। इसके विपरीत बाह्य शक्तियाँ उसे समतल बनाने की चेष्टा करती है। इन दोनों प्रकार की शक्तियों में निरन्तर **संघर्ष** होता रहता है। ज्योंही कोई भूमि-भाग सागर-गर्भ से ऊपर उठता है त्योंही उसका कटना और घिसना शुरू हो जाता है। उसी चूरचार से नवीन भूमि पुनः ऊँची होने के लिए समुद्र के पेट में तय्यार होती रहती है। फलतः दोनों प्रकार की शक्तियों के इस संघर्ष के कारण भूमि के उत्थान-पतन का कभी समाप्त न होने वाला एक **अखण्ड** चक्र चलता रहता है। इस निरन्तर चलने वाले चक्र को **भूम्युत्थान चक्र** कहते है।

भौगर्भिक शक्तियों के कारण

पृथ्वी के भीतर होने वाली गुप्त घटनाओं के कारण अभी तक अज्ञात् हैं। इस बारे में बहुत से विद्वानों ने कुछ परिकल्पनायें (Hypotheses) प्रस्तुत की हैं। उनका संक्षिप्त विवेचन इन पृष्ठों में किया जायगा।

७२. पर्वत-निर्माणकारी तापीय संकोचन का सिद्धान्त (Thermal Contraction Theory)—हम पहले पढ़ चुके है कि प्रारम्भकाल में पृथ्वी की दशा खौलते पदार्थों की भट्टी के समान थी। धीरे-धीरे ठण्डी होकर यह द्रव अवस्था में आई और इस द्रव के ऊपर पपड़ी जम गई। पृथ्वी के गर्भ मे फिर भी पिघले हुए पदार्थ भरे रहे।

यह पदार्थ धीरे-धीरे ठंडा होकर ठोस बनता रहा। पानी के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ जब ठोस बनता है, तो ठोस का आयतन घटता है अर्थात् द्रव से ठोस बनने पर पदार्थ सिकुड़ता है। पृथ्वी का भीतरी पदार्थ भी ठंडा होकर सिकुड़ा और इसी से वह ऊपर की ठोस पपड़ी से बिलकुल चिपका नहीं रहा। ऊपर की पपड़ी अब बिना सहारे के रह गई। ऐसी दशा में गुरुत्वाकर्षण शक्ति ने उसे नीचे की ओर खींचा जिससे उसके ऊपर बहुत दबाव पड़ा। इसी दबाव के कारण पपड़ी टेढ़े-मेढ़े ढंग से लचक गई और उसमें मोड़ पड़ गये।

इस सिद्धान्त में तेजोद्गर तत्त्वों (Radio-active) से निकलने वाली गर्मी का ध्यान नही रखा गया था। अतः इसको अस्वीकृत कर दिया गया था। किन्तु जेफरे नामक वैज्ञानिक ने इसकी गणित द्वारा पुनः व्याख्या की। उन्होंने गणना करके बताया है कि पृथ्वी के केन्द्रीय पिण्ड पर ठण्डे होने की क्रिया का कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। किन्तु ऊपर की विभिन्न परतों में से कोई भी परत एक निश्चित समय के अन्दर अपने से नीचे वाली परत से अधिक ठण्डी हो जाती है और सिकुडने का प्रयत्न करती है। नीचे की परत में उससे अधिक गर्मी होती है, अतः वह पहले परत से कम सिकुड़ती है। फलतः ऊपर की परत को कुछ फैलकर पतला होने को बाध्य होना पड़ता है। सब से ऊपर की परत पूर्णतया ठण्डी हो चुकी है। अतः उसमे सिकुड़ने के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। यह ऊपरी ठोस परत अन्दर की ठण्डी होती हुई परतों से बड़ी हो जाती है और उसका आधार छोटा रह जाता है। इसी कारण से स्थलीय भाग पर दबाव पड़ता है जिससे दरारें और मोड़ पड़ जाते है।

यद्यपि यह सिद्धान्त सरल और समझ में आने योग्य है किन्तु इसकी यथार्थता पर अनेक शंकाएँ उत्पन्न हुई हैं। इस सिद्धान्त को मानने में एक कठिनाई तो यह है कि यदि पृथ्वी के भीतरी भागों में सिकुड़न होने से धरातल पर पर्वतों का निर्माण होता है, तो फिर पर्वतो का निर्माण निरन्तर होते रहना चाहिए। परन्तु पर्वत-

निर्माण के समय का अध्ययन करने से पता चलता है कि पर्वतों का निर्माण कुछ निश्चित समय के अन्तर से होता आया है। जेफरे का तर्क है कि चट्टानों की दबाव को सहने की शक्ति की कोई सीमा है। जब दबाव एकत्र होते-होते इस सीमा को पार कर जाता है, तभी दबाव का प्रभाव उत्पन्न होता है। परन्तु जेफरे की गणना के अनुसार पृथ्वी के भीतर की गर्मी निरन्तर घटती जानी चाहिए। किन्तु ऐसे प्रमाण मौजूद है जो इसकी असत्यता सिद्ध करते है। दूसरी कठिनाई यह है कि यदि इसी प्रकार की सिकुड़नों से पर्वतों का निर्माण हुआ है, तो धरातल के सभी भागों में पर्वतों का निर्माण होना चाहिए। वस्तुतः ऐसा न होकर कुछ निश्चित स्थानों पर ही पर्वतों का निर्माण हुआ है।

७३. पृथ्वी की आवर्तन गति में अन्तर पड़ना (Change in Earth's Rotation)—कुछ विद्वानों ने सुझाया है कि महासागरो में उत्पन्न हुई ज्वार की लहर जब उथले समुद्र में पहुँचती है, तो उसकी टक्कर उथले सागर की तली से होती है। इन निरन्तर टक्करो के फलस्वरूप उस भाग में कुछ सकोचन (Contraction) होता है जिससे पृथ्वी के नाचने के वेग में सुस्ती उत्पन्न होती है। वेग में अन्तर होने से पृथ्वी के आकार में अन्तर पड़ना भी निश्चित है। अतः भूमध्यरेखा के पास एकत्रित पदार्थ ध्रुवों की ओर बढ़ने लगता है। अर्थात् पृथ्वी धीरे-धीरे पूर्ण गोलाई की दिशा में बढ़ने का प्रयत्न कर रही है। इस परिवर्तन से धरातल पर तनाव और खिचाव उत्पन्न होते है जिनसे ऊँचे-नीचे भाग बन जाते है। प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया जा चुका है कि इस प्रकार के संघर्ष से उत्पन्न संकोच बहुत ही कम होगा और उससे पर्वत-निर्माणकारी जैसी घटनायें कभी उत्पन्न नही हो सकती।

७४. पृथ्वी के सन्तुलन में अन्तर होना—हेफोर्ड-बोवी के सन्तुलन-सिद्धान्त के अनुसार समान भार वाले लम्बवत् स्तम्भों को आधार मानकर कुछ विद्वानों ने सुझाया है कि भूपटल के उच्च भागों की धरती से घिस-घिसकर भूपदार्थ निचले भागों में एकत्र होते रहते है। फलतः सन्तुलन को ठीक रखने के लिए लम्बवत् भूखण्ड नीचे-ऊपर की तरफ बैठ या उठ जाते है। इस सिद्धान्त से पर्वत-निर्माण हमारी समझ में बड़ी सरलता से आ सकता है। किन्तु आल्प्स और हिमालय पर्वतों के अध्ययन से स्पष्ट प्रकट होता है कि पर्वतो का निर्माण नीचे-ऊपर बैठने से ही नही होता, किन्तु उनके बनने के समय भूखण्ड दायें-बायें अथवा इधर-उधर (क्षितिजोत्तर दिशा में) इतने अधिक खिसकते है कि कही की चट्टानें कही पहुँच जाती है। सन्तुलन का सिद्धान्त पर्वत-निर्माणकारी घटनाओं को आंशिक रूप से ही समझाता है।

७५. वेगनर का महाद्वीपीय प्रवाह-सिद्धान्त—तीसरे अध्याय में वर्णित वेगनर का सिद्धान्त पर्वत-निर्माणकारी घटनाओ को भी समझाता है। प्रवाहित महाद्वीप

का आगे निकला हुआ सिरा जब महासागर की ऊँची उठी हुई कठोर तली से टकराता है, तो उसमें दरारें या मोड़ पड़ जाते हैं। आरगैण्ड का अनुमान है कि अफ्रीका महाद्वीप के उत्तर की ओर खिसकने से यूरोप से टक्कर हुई जिससे आल्प्स पर्वतमाला का निर्माण हुआ। इसी प्रकार साइबेरिया के दक्षिण की ओर खिसकते हुए गोडवाना के दक्षिण भारत वाले भाग से टकराने के कारण हिमालय का जन्म हुआ। कुछ विद्वानों ने सुझाया है कि उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका की पश्चिम की ओर खिसकते हुए प्रशान्त महासागर की ऊँची कठोर तली से टक्कर हुई और इसी से राकी पर्वतमाला तथा एण्डीज निर्मित हुए। इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में एक बड़ी कठिनाई यह है कि वेगनर अथवा उनके अनुवर्तियों ने अभी तक ऐसी शक्ति की व्यवस्था नहीं की है जिसके द्वारा महाद्वीपों को खिसकाया जा सके। महाद्वीपों को इतनी विभिन्न दिशाओं की ओर हटता हुआ बतलाया जाता है परन्तु उसकी व्यवस्था का कोई सूत्र हाथ नहीं आ पाया है।

७६. जौली का तापीय चक्र वाला सिद्धान्त—तीसरे अध्याय में जौली के तेज उद्गरित करने वाले तत्त्वों से निसृत गर्मी से उत्पन्न तापीय चक्र का वर्णन किया जा चुका है। जौली के अनुसार अत्यन्त लम्बी अवधि के पश्चात् जब अधःस्तर (Sub-stratum) में एकत्र हुई गर्मी महासागरों में होकर निकलने लगती है, तो पहले का घटनाक्रम बिलकुल उलट जाता है। पहले तो अधःस्तर के पिघलने से उसका आयतन बढ़ रहा था और ऊपरी धरातल पर तनाव पड़ने लगा था। किन्तु अब गर्मी निकल जाने से द्रवीभूत अधःस्तर ठण्डा होकर सिकुड़ता है, अर्थात् उसके आयतन में कमी होने लगती है। पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी ठोस होने के कारण सिकुड़ नहीं सकती, इसलिए अब वह सिकुड़ते हुए अधःस्तर से बड़ी रह जाती है। ऊपर की पपड़ी के बिना सहारे रह जाने पर अब गुरुत्वाकर्षण शक्ति उसे नीचे की ओर खींचती है जिससे उस पर भिचाव (Compression) पड़ने लगता है। इस भिचाव के कारण समुद्र की तली महाद्वीपों के किनारों से टकराती है। जैसे-जैसे अधःस्तर ठोस बनता जाता है वैसे-ही-वैसे भिचाव अधिक बढ़ता जाता है। पिघले हुए उत्तप्त बसाल्ट में बहुत दिनों तक दबे रहने के कारण महाद्वीपों के किनारे नरम हो जाते हैं, और दबाव पड़ने पर भिचकर मोटे और ऊँचे हो जाते हैं। प्रस्तरीभूत चट्टानें भी दबाव पड़ने से भिचकर टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं, उनमें मोड़ पड़ जाता है और अधिक भिचाव पड़ने पर उनके टुकड़े टूटकर सैकड़ों मील दूर जा पड़ते हैं।

७७. ग्रहीय परिवाह (Planetary circulation)—होम्स के ग्रहीय परिवाह तथा स्थानीय परिवाहों का संक्षिप्त वर्णन भी हम कर चुके हैं। यह पर्वत-निर्माण को समझाने वाला महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। संवाहन की ग्रहीय धारा अधःस्तर में नीचे

से ऊपर की ओर जाती है। भूमध्यरेखीय प्रदेश के नीचे पहुँचकर यह धारा उत्तर और दक्षिण की ओर जाती है। फलतः भूमध्यरेखीय प्रदेश दोनों ओर खिचेगा और पतला होकर नीचे को धँसता जायगा। इस प्रकार इस प्रदेश में समुद्री क्षेत्र (भूसंनति) बनेगा जिसकी वृद्धि होती रहेगी।

स्थानीय परिवाहों द्वारा महाद्वीपों के सबसे मोटे परत के नीचे अधःस्तर में गर्मी अधिक एकत्र होगी जिससे वहाँ पर भी ऊपर जाने वाली संवाहन धारा उत्पन्न होगी। यह धारा महाद्वीपीय खण्ड के समीप पहुँचकर किसी भी दिशा में दायें या बायें चलने लगेगी। इसके चलने से महाद्वीप खिसकने लगेगा और महा-द्वीपो के नरम सिरे सागर की कठोर तली से टक्कर लेंगे। इस भिचाव से महाद्वीपीय सिरा मोटा होकर ऊँचा उठेगा, उसमें मोड़ पड़ जायँगे और अन्त में पर्वत बन जायँगे। आगे खिसकने वाले महाद्वीपीय खण्ड के आगे की ओर सागर की तली धँस जायगी, जिससे वहाँ सामुद्रिक गर्त बन जायँगे। परन्तु नवीन-निर्मित पर्वतों के पीछे महा-द्वीपीय भाग के नीचे धँसने से ज्योसिनक्लाइन या भूसंनति बन जायँगी।

भूगर्भ की घटनाओं के सम्बन्ध में छानबीन करना मनोरंजक होते हुए भी अत्यन्त दुष्कर कार्य है। भूगर्भ के गुप्त रहस्यों का पता लगाने के लिए कोई एक्स-किरण आज तक नहीं खोजी जा सकी है। इस सम्बन्ध का ज्ञान अप्रत्यक्ष प्रमाणों एवं अनुमान पर ही आधारित है। अतः किसी भी सिद्धान्त को पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता। फिर भी हमारी धारणायें सत्य की थोड़ी-बहुत झाँकी तो अवश्य कर चुकी हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है। सत्य का मार्ग तो सदैव धीरे-धीरे ही प्रशस्त होता आया है। इसी आशा और विश्वास से हमें आगे की ओर क़दम बढ़ाना है।

आठवाँ अध्याय

भौगर्भिक शक्तियाँ

(१) दीर्घकालिक घटनायें

७८. **वर्गीकरण**—भूगर्भ की भीतरी दीर्घकालिक घटनाओं द्वारा धरातल पर जो हलचल होती है उसे दो भागों में बाँटा जा सकता है:—

(क) धरातल का ऊँचा उठना या नीचे धँसना अर्थात् भूखण्ड-निर्माणकारी घटनायें (Epeirogenetic)।

(ख) धरातल का दायें-बायें या इधर-उधर (क्षितिजोत्तर) खिसकना अर्थात् पर्वत-निर्माणकारी घटनायें (Orogenetic)।

(क) भूखण्ड-निर्माणकारी हलचलें (Epeirogenetic Movements)

७९. **ऊँचा उठना**—पृथ्वी के धरातल का सूक्ष्म अध्ययन करने वाले भूतत्त्व-वेत्ताओं ने अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया है। पृथ्वी के धरातल पर प्रस्तरीभूत चट्टानें बिछी पड़ी है, किन्तु उनकी परतों में कोई उथल-पुथल या विशेष मोड़ नहीं है। हम देखते हैं कि मिसीसिपी के मैदान, यूरोपीय रूस का मैदान, अफ्रीका का पठारी भाग जैसे विशाल भूखण्डों पर धरातल के नीचे प्रस्तरीभूत चट्टानें फैली हुई हैं। हम पहले पढ़ चुके हैं कि प्रस्तरीभूत चट्टानें सागर-गर्भ में बनी हैं। अतः यह स्पष्ट है कि यह सब धरातल के भाग किसी-न-किसी समय समुद्र के भीतर से ऊपर उठे हैं। इस प्रकार धरातल के विशाल भाग का ऊपर उठना या नीचे की ओर धँसना भूखण्ड-निर्माणकारी होता है। भूखण्ड-निर्माणकारी उथल-पुथल में संभवतया अत्यधिक विस्तृत क्षेत्र में धरातल पर मोड़ पड़ता है। यह ऊपर उठने की गति बहुत ही धीमी होती है। सहस्रों वर्षों में धीरे-धीरे किन्तु सभवतया निरन्तर परिवर्तन होने के पश्चात् ही कुछ परिणाम मालूम पड़ता है। स्वीडन के दक्षिण-पूर्वी तट का अध्ययन करने से पता चला है कि विगत १०० वर्षों में वह लगभग ३ फीट ऊँचा उठ गया है। इसी प्रकार फ्लोरिडा प्रायद्वीप कुछ ऊँचा उठ गया है जिससे उत्तरी अमेरिका के क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। यद्यपि समुद्र के भीतर से भूमि के ऊपर उठने की यह गति बहुत धीमी है, फिर भी यदि हम कल्पना करें कि पृथ्वी तो करोड़ों वर्ष पुरानी है, तो हमें यह समझने में कठिनाई नहीं होगी कि इतने लम्बे समय में धीरे-धीरे समुद्र के अन्दर से भूमि कितनी अधिक ऊँची उठ सकी होगी। सभवतया पृथ्वी की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसी हलचल अधिक हुई होगी, जिससे महाद्वीपों का निर्माण संभव हुआ होगा।

८०. **नीचे धँसना**—पृथ्वी का धरातल ऊपर की ओर ही नहीं उठता किन्तु कहीं-कहीं नीचे की ओर भी धँस जाता है । उत्तरी सागर धीरे-धीरे नीचे की ओर धँस रहा है और इसलिए वहाँ पर छिछला समुद्र काफ़ी बड़ा हो गया है । नेपल्स नगर के पास एक प्राचीन जुपीटर का मन्दिर है । उस मन्दिर के खम्भों पर बने हुए चिह्नों के अध्ययन से पता चला है कि वह छः या सात बार समुद्र में विलीन हो चुका है और फिर ऊपर उठ आया है ।

इस प्रकार भूखण्ड-निमाणकारी घटनाओं द्वारा पृथ्वी के विस्तृत भाग, सागर के गर्भ, में विलुप्त हो जाते हैं अथवा समुद्र के नीचे से निकलकर नये भूभागो के रूप में प्रकट हो जाते हैं । प्रत्येक देश की चट्टानों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि समुद्र की तली अनेकों बार स्थल का भाग बन चुकी है ।

भूखण्ड-निर्माणकारी हलचल का प्रभाव विस्तृत भूभाग पर पड़ता है तथा धरातल की गति ऊपर या नीचे की ओर होती है ।

(ख) पर्वत-निर्माणकारी हलचलें (Orogenetic Movements)

८१. **इस हलचल के भेद**—पर्वत-निर्माणकारी हलचलों का प्रभाव धरातल के सीमित भाग पर ही होता है । इस हलचल के कारण धरातल का सीमित भाग दायी या बायी तरफ खिसकता है जिसके कारण चट्टानें चटक जाती है, मुड़ जाती है या टूटकर उलट जाती है । इस उथल-पुथल के कारण धरातल की चट्टानों पर दो प्रकार का दबाव पड़ता है—(१) तनाव या खिचाव (Tension) द्वारा चट्टानो का प्रसार (अथवा फैलना) और (२) भिचाव (Compression) द्वारा चट्टानों का संकोचन या सिकुड़ना । ये दोनों प्रकार के क्षितिजोत्तर दबाव (Horizontal Pressure) एक दूसरे से पूर्णतया सम्बन्धित है । यदि धरातल के एक स्थान पर तनाव (अथवा खिचाव) उत्पन्न होता है, तो उसके परिणामस्वरूप दूसरे स्थान पर भिचाव पड़ेगा । इसी प्रकार किसी एक स्थान पर भिचाव उत्पन्न होने पर दूसरी जगह तनाव पड़ेगा । यहां पर यह बताना भी असंगत न होगा कि जिस तरह दोनों प्रकार के क्षितिजोत्तर दबाव (धरातल का दायें-बायें खिसकना) आपस में सम्बन्धित है, उसी तरह धरातल की ऊँची-नीची हलचल (भूखण्ड-निर्माणकारी) तथा धरातल की दायीं-बायीं हलचल (क्षितिजोत्तर अथवा पर्वत-निर्माणकारी) भी आपस में सम्बन्धित है । धरातल के एक भाग में एक प्रकार की हलचल दूसरे भाग में दूसरे प्रकार की हलचल को उत्पन्न कर देती है ।

८२. **धरातल पर प्रभाव**—धरातल की दायीं-बायी हलचल के कारण स्थल-मण्डल पर दो प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं—

(१) **स्तर-भ्रंश** (Crustal Fracture)—यह प्रभाव मुख्यतया तनाव

के कारण उत्पन्न होता है। इससे चट्टानें चटक जाती हैं अथवा उनमें दरारें पड़ जाती हैं।

(२) **स्तर का मुड़ाव** (Crustal Bending)—यह प्रभाव मुख्यतया भिचाव के कारण उत्पन्न होता है। इसमें चट्टानें लचक जाती हैं और मुड़कर तिरछी होजाती हैं अथवा टूटकर उलट-पुलट हो जाती हैं।

८३. स्तर भ्रंश (Crustal Fracture) **या तनाव का प्रभाव**—जब चट्टानों पर अत्यधिक तनाव (खिचाव) पड़ता है, तो वे टूट जाती हैं। तनाव की न्यूनाधिकता के अनुसार स्तर भ्रंश दो प्रकार का होता है, चटकन और दरार।

८४. चटकन (Cracking)—आग्नेय चट्टानों के ठंडे होकर ठोस बनने अथवा प्रस्तरीभूत चट्टानों के भीतरी जल के सूख जाने पर चट्टानों का आयतन घट जाता है और वे सिकुड़ती हैं। इस सिकुड़न के कारण धरातल पर तनाव उत्पन्न होता है। फलतः चट्टानें एक विशेष रेखा पर इधर-उधर (क्षितिजोत्तर) खिसकने लगती हैं। जब खिचाव का जोर अधिक होता है तो चट्टानें उसी रेखा पर चटक जाती हैं। ऐसा तनाव भूपटल पर इतनी अधिक बार पड़ चुका है कि धरातल की लगभग सभी ऊपरी चट्टानें जगह-जगह से चटक गई हैं। चट्टानों के चटके हुए स्थान को सन्धिस्थान या जोड़ (Joints) कहते हैं। ज्यों-ज्यों पृथ्वी के भीतरी भाग की ओर जायें, त्यों-त्यों चट्टानों की चटकनें कम होती जायँगी और संभवतः कुछ मीलों की गहराई पर चट्टानों में चटकनें नहीं मिलतीं। जिस क्षेत्र में चट्टानों में चटकन पाई जाती है उसे भ्रंश-क्षेत्र (Zone of fracture) कहते हैं।

८५. दरारें (Faults)—कभी-कभी तनाव इतना अधिक और आकस्मिक होता है कि चट्टानें चटक ही नहीं जाती, किन्तु इधर-उधर खिसक भी जाती हैं। इस परिवर्तन को दरार कहते हैं। कई छोटी-छोटी दरारें तो एक इंच से बहुत कम चौड़ी होती हैं जब कि बड़ी दरारें कई फीट तक चौड़ी होती हैं।

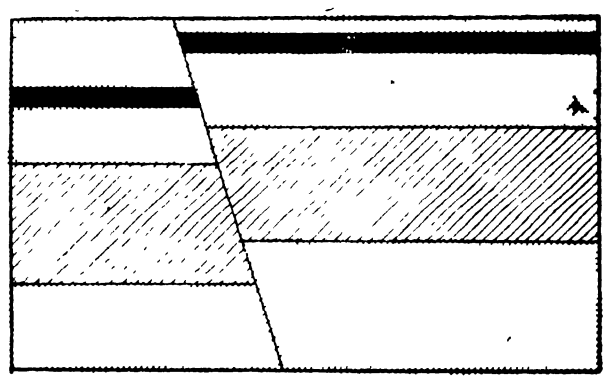

चित्र २३. दरार

दरारों के कारण कई प्रकार के अद्भुत भू-आकार भी बन जाया करते हैं, जैसे—

८६. दरारी घाटी या रिफ़्ट घाटी (Rift Valley)—कई स्थानों पर तनाव के कारण धरातल पर मीलों लम्बी समानान्तर दरारें पड़ जाती है। अधिक दबाव के कारण दो दरारों के बीच की भूमि नीचे की ओर धँस जाती है और दरारों के इधर-उधर दोनों ओर के भाग कुछ ऊँचे हो जाते है। इस प्रकार भूमि के अन्दर धँस जाने से एक **लम्बी और संकीर्ण** (Narrow) घाटी बन जाती है। ऐसी घाटी को दरारी घाटी कहते है। जर्मनी की राइन नदी इसी प्रकार की एक २०० मील लम्बी और २० मील चौड़ी दरारी घाटी में होकर बहती है। अफ्रीका की झीलें, मृतक सागर (Dead Sea), लाल सागर तथा स्काटलैण्ड के मध्यवर्ती मैदान इसी प्रकार की घाटियों में स्थित है।

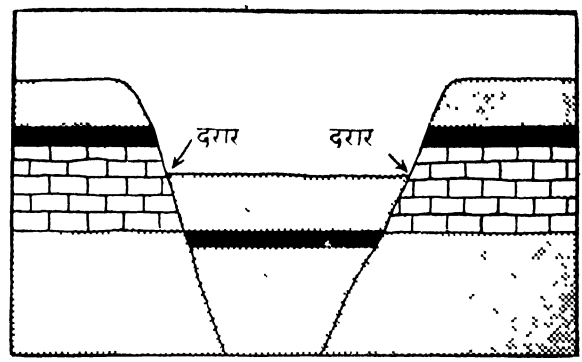

चित्र २४. दरारी घाटी

८७. अवरोधी पर्वत (Block Mountains)—कभी-कभी तनाव से उत्पन्न हुई दो लम्बी दरारों के बीच का भाग नीचे धँसने की बजाय ऊपर को उठ जाता है। साथ ही दरारों के बाहरी दोनों भाग नीचे की ओर खिसक जाते है। इस प्रकार दरारों के बीच का भाग ऊपर उठकर पहाड़ का रूप धारण कर लेता है। ऐसे पहाड़ों को अवरोधी पर्वत कहते है।

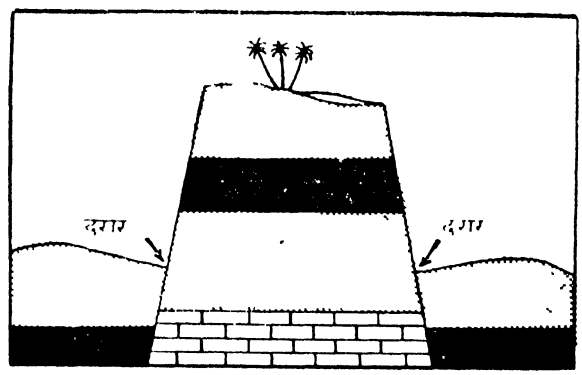

चित्र २५. अवरोधी पर्वत

८८. स्तर का मुड़ाव (Crustal Bending) **या भिचाव का प्रभाव**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है स्तर (Strata) का मुड़ाव मुख्यतया धरातल पर भिचाव (Compression) पड़ने से ही पैदा होता है। भिचाव के कारण चट्टानों के स्तर लचक जाते है और मुड़ जाते है। भिचाव की न्यूनाधिकता के अनुसार मोड़ में भी फर्क पड़ जाता है। यह लचक या मोड़ बहुत छोटा भी हो सकता है और इतना बड़ा भी हो सकता है कि ऊँचा उठने वाले मोड़ का ऊँचा पहाड़ बन जाय। कई बार मोड़ इतने साधारण होते है कि इन्हें आसानी से पहिचाना जा सकता है। परन्तु कई बार भिचाव इतने ज़ोर से आता है कि उसके प्रभाव से चट्टानें मुड़कर तिरछी हो जाती

हैं और उलट जाती है । चट्टानों के उलट जाने से पुरानी चट्टानें नई चट्टानों के ऊपर पहुँच जाती हैं और परतों का क्रम एकदम उलट जाता है । जो चट्टान सबसे नीचे थी वह सबसे ऊपर पहुँच जाती है । इस हलचल को समझने के लिए हमें एक उदाहरण से बड़ी सहायता मिलेगी । मान लीजिये एक मेज़ के ऊपर कई रूमाल एक के ऊपर दूसरा, परतों के रूप में बिछे हुए हैं । यदि इन बिछे हुए रूमालों को दोनों बगलों से दबाया जाय, तो इनमें लहरों की तरह सिकुड़नें पड़ेंगी अर्थात्, एक स्थान पर परतें ऊँची उठेंगी और दूसरी जगह पर नीचे हो जायँगी । यदि रूमालों की इन परतों को और अधिक दबाया जाय, तो ये सिकुड़नें काफ़ी ऊँची-नीची मोड़ों (Folds) के रूप में बन जायँगी । मान लीजिये कि यदि ऊँचे उठते हुए रूमाल बीच में से फट जायँ, तो दोनों तरफ के टुकड़े मेज पर सीधे लम्बवत् खड़े रहेंगे । यदि दोनों ओर के टुकड़े घूमकर पीछे की ओर गिर जायं, तो परतों का क्रम उलट जायगा ।

८६. स्तर पर मुड़ाव के भेद—भिचाव की न्यूनाधिकता के कारण स्तर पर पड़ने वाले मुड़ाव के अनेक रूप हो जाते हैं ।

(क) **प्रतिनति** (Anticline) **और संनति** (Syncline)—जब भिचावे सामान्य होता है, तो स्तर पर लहरों की भाँति ऊँचे-नीचे मोड़ पड़ जाते हैं । इन मोड़ों से स्तर का जो भाग मेहराब की तरह ऊँचा उठ जाता है, उसे प्रतिनति कहते हैं और जो भाग नीचे झुक जाता है उसे संनति कहते हैं । धरातल पर साधारण भिचाव पड़ने से स्ट्रेटा में अनेकों प्रतिनति और संनति उत्पन्न हो जाती हैं । मुड़ाव की साधारण लहरें प्रतिनति संनति के रूप में जब अपने उत्पन्न होने के स्थान पर ही बनी रहती हैं, तो इन लहरों वाले क्षेत्र को **यथास्थानीय पट्टी** (Autochthonous Belt) कहते हैं । ऐसी लहरें पुराने मोड़दार पर्वतों की जड़ों में स्पष्ट देखी जा सकती हैं क्योंकि नग्नीकरण (Denudation) की क्रिया ने उनके ऊपरी स्तरों को घिस-घिसा कर हटा दिया है ।

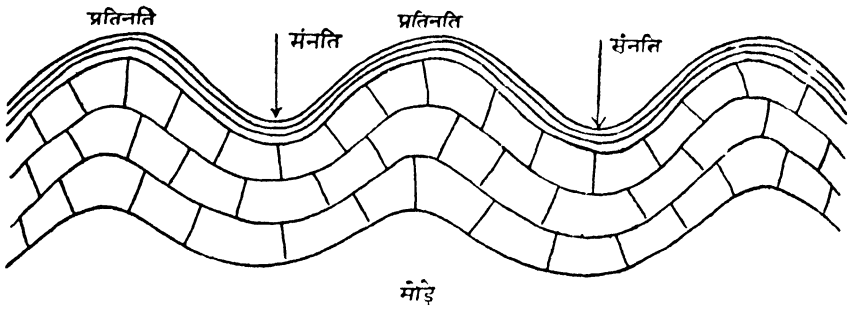

चित्र २६. स्तर का मुड़ाव

(ख) **विषम मोड़** (Complex folding)—जब भिचाव अधिक प्रभाव-

शाली होता है, तो स्ट्रेटा (विभिन्न चट्टानों के कई स्तर) पर अनेकों प्रकार के मोड़ पड़ जाते हैं। भिचाव अधिक बढ़ने पर चित्र नं० २८ के अनुसार मोड़ अपनी धुरी पर टूट जाता है, और आगे खिसक कर दूसरे स्ट्रेटा पर आरोपित (Imposed) हो जाता है। इस प्रकार चट्टानों का क्रम उलट जाता है जिससे प्राचीन काल की

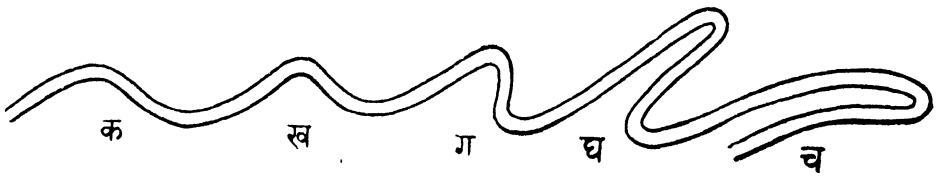

चित्र २७. मोड़ के विभिन्न रूप

चट्टानें नवीन चट्टानों के ऊपर पहुँच जाती है। चट्टानों के क्रम में उलट-पुलट होने को **वितोदन** (Thurst) कहते है।

भिचाव के थोड़ा और अधिक बढ़ जाने पर स्ट्रेटा का कुछ भाग टूटकर मीलों दूर पहुँच जाता है। उस स्थान की चट्टानों की बनावट से उसका कोई सम्बन्ध

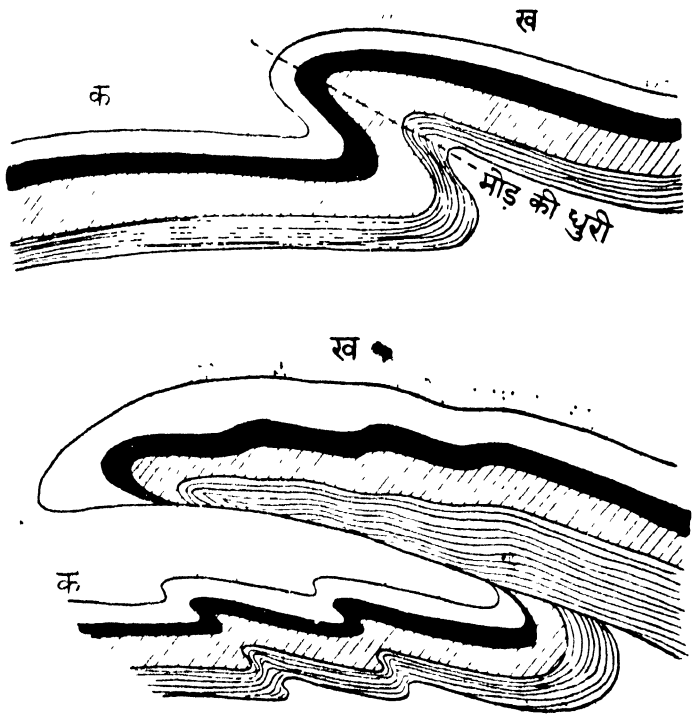

चित्र २८. आरोपित स्ट्रेटा

नही होता। इस प्रकार टूटकर मीलों दूर पड़े हुए स्तर-खण्ड को **ग्रीवा-खण्ड** (Nappe) कहते है। नवीन मोड़दार पर्वतों (Young Folded Mountains) में इस प्रकार के अनेकों वितोदन और ग्रीवाखण्ड पहिचाने जा चुके हैं।

नवाँ अध्याय

भौगर्भिक शक्तियाँ

(२) आकस्मिक घटनाएं

अ. ज्वालामुखी (Volcano)

धरती के कठोर आवरण को चीरकर धुआँ और राख के डरावने काले-काले बादलों को उड़ाता, भूकम्पों से धरातल को कँपाता, अति उष्ण द्रव लावा को उगलकर प्रलय का ताण्डव-नृत्य करता तथा प्रकृति-विजय के अभिमान में डूबे मानव की बुद्धि को भ्रमित एवं चकित करता ज्वालामुखी का उद्गार समुद्री तूफानों तथा भयंकर भूकम्पों के समान ही एक विचित्र घटना है। प्राचीन काल का मानव इन उद्गारों (Eruptions) से भयत्रस्त होकर ज्वालामुखी की पूजा किया करता था। जापान के लोग चिरकाल से संसार के सुन्दरतम ज्वालामुखी फ्यूजीसान को पूजते आए हैं। बहुत दिनों तक भूमध्यसागर का वोलकेनो द्वीप, जिसके नाम पर ज्वालामुखी का यह नाम पड़ा, पातालपुरी का प्रवेश द्वारा माना जाता था।

९०. ज्वालामुखी किसे कहते हैं?—ज्वालामुखी भूपटल की उस गहरी दरार का नाम है, जिसके द्वारा पृथ्वी के भीतरी भाग से अति उष्ण लावा, शिलाखण्ड और

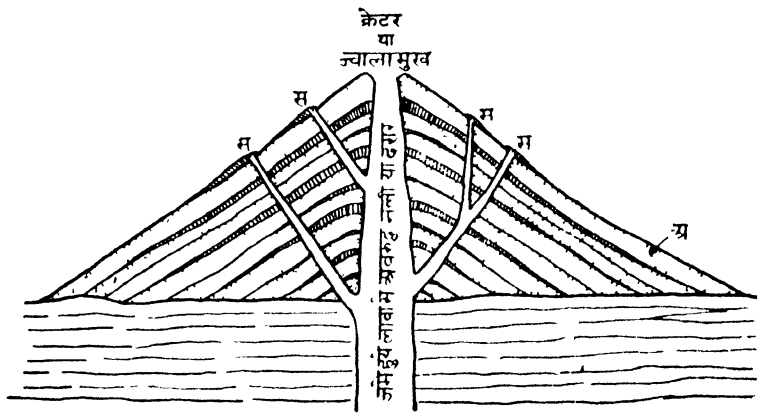

चित्र २९. ज्वालामुखी

गर्म गैसें धरातल पर आ सकें अथवा कम-से-कम धरातल की ओर बह सकें। इस दरार या छिद्र के ऊपरी भाग को **मुखगर्त** या **ज्वालामुख** (Crater) कहते हैं। मुखगर्त या ज्वालामुख की आकृति एक कटोरे के समान होती है जिसकी तली का सम्बन्ध भूगर्भ से होता है। ज्वालामुखी पर्वतों पर यह मुख एक बड़े गड्ढे के समान दिखाई देता है। कभी-कभी इस गड्ढे की तली में लावा जम जाता है जिससे इसमें वर्षा का पानी जमा हो जाता है और एक झील का रूप बन जाता है। बहुत से

ज्वालामुखी पर्वतों पर यह गड्ढा इतना लम्बा-चौड़ा होता है कि एक विस्तृत मैदान-सा दिखाई पड़ता है और उसके चारों ओर की ऊँचाई नगण्य-सी लगती है। कैनारी द्वीपसमूह का कैल्डेरा गर्त ऐसा ही एक विशाल गड्ढा है जो तीन-चार मील तक फैला हुआ है।

ज्वालामुखी को बहुत दिनों तक 'जलता हुआ पहाड़' कहते थे, परन्तु यह बिलकुल ग़लत नाम है। इसमें कोई चीज़ जलती नहीं है। केवल लावा के अत्यन्त गर्म होने के कारण भयकर लाल रोशनी दिखाई पड़ती है, इसी से लपटों का भ्रम हो जाता है। दूसरे, ज्वालामुखी के छिद्र पर पर्वत होना भी आवश्यक नहीं है। यह ठीक है कि अधिकतर स्थानों पर लावा आदि के जमा होने से पहाड़ी जैसी ऊँचाई हो जाती है। परन्तु जिन स्थानों पर लावा बहुत ही पतला निकलता है जैसे आइसलेण्ड द्वीप के स्कपठर्जोकुल का १७८३ ई० का उद्गार, अथवा जिन स्थानों पर उद्गार केवल विस्फोटक हो, उन स्थानों पर पर्वत नही बनता।

६१. ज्वालामुखी से निकलने वाले पदार्थ—ज्वालामुखी से निकलने वाली वस्तुओं में गैसें और लावा मुख्य हैं। भूगर्भ में ये दोनों मिले रहते है जिसे मैग्मा (Magma) कहते हैं। मैग्मा भूगर्भ की चट्टानों का पिघला हुआ रूप है। मैग्मा की उपमा गरमा-गरम हलुवे से दी जा सकती है जिससे निरन्तर भाप निकल रही हो। मैग्मा की अधिकांश गैस निकल जाने पर उसको लावा कहते है। ज्यों-ज्यों मैग्मा धरातल की ओर बढ़ता है त्यों-त्यों अधिकाधिक शीघ्रता से गैसें उससे अलग होती जाती है। अन्त में धरातल के समीप आकर भयानक विस्फोट (Explosion) के साथ अलग हो जाती है। इस यात्रा के बीच में ही जब मैग्मा पृथ्वी में भीतर की चट्टानों की दरारों में प्रवेश कर जाता है, तो उसमें अधिकांश गैसें घुली ही रहती है। इन गैसों का स्फट निर्माण (Crystallization) पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव होता है। जब कभी मैग्मा चट्टानों की लम्बाकार (Vertical) दरारों में ठण्डा होकर ठोस बन जाता है, तो उस ठोस पिण्ड को **'डाइक'** कहते है। कालान्तर में जब यह चट्टान धरातल पर आती है, तो क्षयात्मक शक्तियाँ चट्टान को तो घिस डालती है, परन्तु डाइक अत्यन्त कठोर होने के कारण दीवाल के समान खड़ा रहता है।

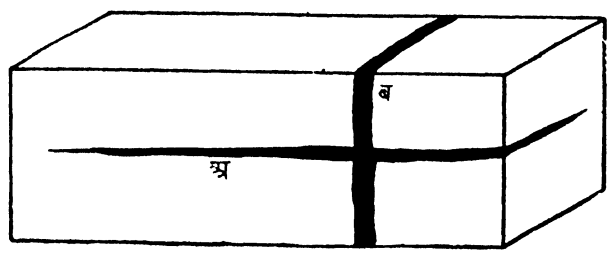

चित्र ३०. (अ) सिल या शीट (ब) डाइक

जब मैग्मा चट्टानों की दायीं-बायीं (Horizontal) दरारों में जम जाता है, तो उस ठोस पिण्ड को **'सिल'** या **शीट** कहते है। कभी-कभी मैग्मा प्रस्तरीभूत

चट्टानों की परतों में घुस जाता है, जिससे ऊपरी परत दबाव के कारण ऊपर की ओर झुक जाती हैं। इस प्रकार की चट्टानों को 'लैकोलिथ' (Laccolith) कहते हैं। जब इन चट्टानों की ऊपरी परत घिस जाती है, तो लावा की परत साफ़ दिखाई पड़ती है। चट्टान के सभी नरम भाग घिस जाने पर लावा की जमी हुई परत ऊँची खड़ी रह जाती है जिसे **बट** कहते है।

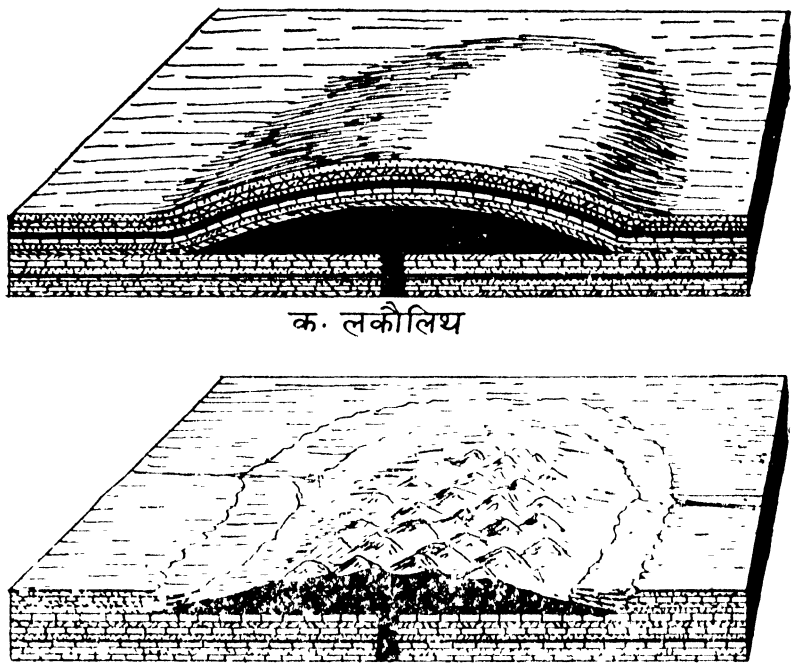

क. लकौलिथ

ख. बट

चित्र ३१.

ज्वालामुखी से निकलने वाली गैसो जलवाष्प मुख्य होती है। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिए कि गैसों में आक्सोजन और हाइड्रोजन अधिक होती है जो विशेष तापक्रम और दबाव के कारण जलवाष्प में बदल जाती है। जलवाष्प के अतिरिक्त गन्धक और कार्बन के विविध गैस रूप निकलते है, जिनमे अनेक ज्वलनशील (तुरन्त जल उठने वाली) गैसें होती हैं। दहनशील गैसों में कार्बनडाइआक्साइड और सल्फर आक्साइड प्रमुख है। इनके अलावा हाइड्रोक्लोरिक एसिड गैस, अमोनियम क्लोराइड, नाइट्रोजन, आर्गन तथा बोरिक एसिड आदि अनेक गैसें निकलती हैं।

दबाव के कम होने से इन गैसों की स्थिति में परिवर्तन होता है। भूगर्भ में भीषण गर्मी और दबाव के कारण गैसें लावा में घुली रहती है, परन्तु गर्मी और दबाव के कम होते ही लावा से अलग होने लगती है। भूगर्भ की भीतरी चट्टानों की दरारों में भरा हुआ लावा जैसे-जैसे ठण्डा होता जाता है वैसे-ही-वैसे उसमें से गैसें

निकल-निकलकर एकत्र होती रहती है और किसी समय भारी विस्फोट के साथ ज्वालामुखी से निकल पड़ती है।

इन गैसों के लावा से विस्फोट के साथ अलग होने के परिणामस्वरूप बहुत से छोटे-बड़े शिलाखण्डों का निर्माण होता है। ये शिलाखण्ड विस्फोट के बल से सैकड़ों फीट ऊँचे उछल जाते है और फिर बमवर्षा की तरह धरती पर बरसते हैं। इन अंगारों-जैसे दिखाई देने वाले एवं आकाश मे उछलते हुए शिलाखण्डों में कुछ तो लावा के टूटे हुए पिण्डों के ठण्डे होने से बनते है, कुछ पिछले उद्गार काल के जमे हुए लावा के खण्ड होते है और कुछ मुख गर्त (Crater) की चट्टानों का टूटा हुआ अंश होता है। इन ठोस खण्डों में सूक्ष्म कण वाली धूल से लेकर टनों भारी शिलाखण्ड तक होते है। उद्गार से गिरे हुए एक विशाल शिलाखण्ड का आयतन २५ घन गज था और उसका भार लगभग १,६०० मन (६८ टन) था। सबसे महीन कणों को **'धूल'** कहते हैं। ज्वालामुखी की धूल मटमैले रंग की तथा बहुत हल्की होती है। बाजरा या मटर के बराबर कणों को ज्वालामुखी की **राख** या रेत कहते है। सुपारी के बराबर आकार के टुकड़ों को **'लैपिली'** तथा बड़े-बड़े टुकड़ों को **'बम'** कहते है। इन बमों के गोल, अण्डाकार, लम्बे, मुग्दर-जैसे नाना प्रकार के विशिष्ट आकार होते है। कुछ तो अनेकों छेदों वाले पोले होते है और कुछ बिलकुल ठोस। ऐसा प्रतीत होता है कि लावा के कुछ पिण्ड अर्द्धद्रव अवस्था में गैसों के साथ टूटकर वायुमडल मे उछल जाते है। वहाँ वायु के साथ विभिन्न दिशाओं में घूमने से इनके नाना प्रकार के आकार बन जाते हैं। कई बार हवा के साथ घूमते-घूमते इनमें केन्द्रोन्मुखी शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है जिससे लावा के अन्दर क़ैद गैसें फैलती है। फलतः शिलाखण्ड में मधुमक्खी के छत्ते के समान अनेक छेद बन जाते है। कभी-कभी गैस के फैलने से लावापिण्ड के अनेक टुकड़े हो जाते है। तेज़ी से घूमने के कारण इन पिण्डों का ऊपरी तल काँच-जैसा चिकना हो जाता है।

ज्वालामुखी से उगली हुई दूसरी मुख्य वस्तु लावा है। चट्टानों का पिघला हुआ रूप होने के कारण लावा मे कई खनिजों का संयोग होता है। परन्तु **'सिलिका'** की मात्रा की न्यूनाधिकता से इसके दो भेद माने जाते है। अम्ल लावा (Acid lava) में सिलिका की मात्रा ७५ प्रतिशत होती है और चूना, मेग्नेशिया तथा आयरन-आक्साइड बहुत कम मात्रा में होते है। इसके विपरीत पैठिक लावा (Basic lava) में सिलिका ४० प्रतिशत होता है परन्तु चूना, मेग्नेशिया और आयरन आक्साइड पर्याप्त मात्रा में मौजूद रहते है।

अस्तु, जैसा कि बताया जा चुका है, ज्वालामुखी के उद्गार के समय गैसरूप धुआँ, ठोस शिलाखण्ड तथा उत्तप्त द्रव लावा ये तीन प्रकार के पदार्थ भीतर से निक-

लते हैं। इन पदार्थों के परिणाम के अनुसार ही उद्गार विस्फोटक (Explosive) या शान्त होता है। इन्हीं पदार्थों की मात्रा के अनुपात पर ही पहाड़ी का बनना या न बनना तथा उसके आकार का रूप निर्भर रहता है।

ज्वालामुखी की पूर्व-सूचना—बहुधा उद्गार होने से पूर्व ऐसे चिह्न प्रकट होते हैं जिनसे उद्गार होने का आभास हो जाता है। इन पूर्व सूचनाओं में पृथ्वी का हिलना, पृथ्वी के भीतर गड़गड़ाहट की ध्वनि होना, भूमि का नीचे की ओर धँस जाना तथा ज्वालामुखी के समीपस्थ भूमि का तापक्रम बढ़ जाना मुख्य हैं। अधिकतर उद्गार से पहले पृथ्वी काँपती है। धीरे-धीरे भूकम्प जल्दी-जल्दी और अधिक उग्रता से आने लगते हैं। परन्तु उद्गार के बाद बिलकुल बन्द हो जाते हैं। यदि भूकम्पों के बाद भी उद्गार नहीं होता, तो इसका अर्थ यह होता है कि अभी लावा में भूपटल को फाड़कर बाहर निकलने योग्य शक्ति नहीं है। उद्गार आने से पूर्व तापक्रम भी बढ़ जाया करता है। फलतः ज्वालामुखी पर्वत की चोटी से हिम पिघलने लगती है और आसपास के झरने, कुएँ तथा ज्वालामुखी की झीलें सूखने लगती हैं। कभी-कभी उद्गार किसी पूर्व-सूचना के बिना ही अचानक फूट पड़ता है और कभी-कभी इन पूर्व-सूचनाओं के पश्चात् भी उद्गार नहीं होता।

९३. ज्वालामुखी चक्र—बहुत से ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गार के समय का दृश्य देखने से यह प्रतीत होता है कि इन दृश्यों का क्रम एक निश्चित चक्र के अनुसार चलता है। इस चक्र में पाँच अवस्थाएँ मानी गई हैं।

९४. प्रथम अवस्था में नव-निर्मित भूभाग पूर्णतया कठोर नहीं हो पाता है, अतः लावा अनेक दरारों से विपुल परिमाण में आकर धरातल पर छा जाता है। इस समय उद्गार प्रायः शान्त होता है और गैसें लावा के साथ नहीं निकलतीं। दक्षिण भारत का लावा-प्रदेश इसी प्रकार के उद्गारों से बना था। यह प्रदेश ढाई लाख वर्गमील भूमि पर विस्तृत है। बम्बई-तट पर वह १०,००० फीट मोटा है और उत्तर तथा पश्चिम की ओर पतला होता गया है। कोलम्बिया पठार का २ लाख वर्गमील का क्षेत्र भी इसी प्रकार बना था। लावा फैल जाने से धरती पर आध मील मोटी परत छा गई, जिससे घाटियाँ और छोटी पहाड़ियाँ ढक गईं तथा ऊँचे-ऊँचे पहाड़ काले लावा में द्वीप से दिखाई देने लगे।

९५. द्वितीय अवस्था में पृथ्वी का ऊपरी पृष्ठ काफ़ी कठोर हो गया। अतः लावा धरातल के सभी छिद्रों से नहीं निकलता, किन्तु पर्याप्त गहरी दरारों के मध्य भाग से निकलने लगता है। इस दशा में लावा काफ़ी परिमाण में निकलता है, जिससे केन्द्र-स्थान पर गुम्बज के आकार की चौरस ऊँची पहाड़ी-सी बन जाती है। आज-कल हवाई द्वीप, समोआ और आइसलैंड में इस प्रकार के ज्वालामुखी पाये जाते हैं।

हवाई द्वीप का मोनालोआ ज्वालामुखी संसार का सबसे बड़ा ज्वालामुखी है।

९६. तृतीय अवस्था में आते-आते लावा का सीधे दरारों में होकर निकलना कठिन हो जाता है। फलतः वह भीतरी भाग में ही एकत्र होता रहता है। लावा से निकली हुई गैसें बाहर निकलने के लिए छटपटाती हैं, और जहाँ पर परत कमज़ोर होती है, वहीं से निकलने का प्रयत्न करती हैं। इनके प्रभाव से धरती काँपने लगती है, लावे की हलचल से गड़गड़ाहट की ध्वनि होती है और धरती अचानक फट जाती है। धरती के फटते ही धुएँ के काले-काले बादल आकाश में छा जाते हैं। कभी-कभी इस धुएँ में प्रज्वलनशील गैसें मिली रहती है। वायुमंडल में आते ही इनमें आग लग जाती है। इनकी लपटों का प्रकाश अत्यन्त देदीप्यमान होता है। विस्फोट इतना उग्र होता है कि बड़े-बड़े शिलाखण्ड आकाश में उछल जाते है। इनके गिरने से इतने ज़ोर के धड़ाके होते है कि उनकी आवाज़ बहुत दूर तक सुनाई देती है। धूल और राख के गगन में छा जाने से कई बार दिन की रात बन जाती है। गैसों के साथ निकली हुई जलवाष्प इन धूलकणों से मिलकर ठंड़ी हो जाती है और फिर मूसलाधार वर्षा होती है, जिससे कई स्थानों पर बाढ़ आ जाती है। कुछ समय के बाद ज्वालामुख से अत्यन्त गरम लावे की धारा फूट पड़ती है। कभी-कभी लावा मुख से नहीं निकलता, किन्तु दूसरी दरारों से निकल पड़ता है। उद्‌गार के समय लावा अंगारे के समान लाल रंग का होता है। अतः लाल रंग को देखकर लोगों को आग की लपटों का भ्रम हो जाता है। धरातल पर आकर लावा नीचे ढाल की तरफ बहने लगता है। लावा की प्रवाह-गति भूमि के ढाल तथा लावा की चिपचिपाहट (Viscosity) पर निर्भर है। लावे में चिपचिपाहट उसकी रासायनिक रचना के अनुसार होती है। रासायनिक रचना के अनुसार लावे के दो मुख्य भेद हैं—अम्ल लावा (Acid Lava) और पैठिक लावा (Basic Lava)।

अम्ल लावा अधिक चिपचिपा होता है। यह लावा चिपचिपाहट के कारण जल्दी नहीं बह सकता। केवल उसका ऊपरी अंश आगे को लुढ़क जाता है। जैसे-जैसे लावा आगे बढ़ता है, उसकी ऊपरी परत काली पड़ती जाती है। इसका कारण यह है कि चिपचिपे लावे की गति मन्द होने से ऊपरी अंश जल्दी ठंडा होकर जम जाता है। परन्तु भीतर का लावा अभी द्रव अवस्था में रहता है, अतः उसका आगे की ओर लुढ़कना जारी रहता है। ऐसी दशा में ऊपर की कठोर पपड़ी खिंचाव के कारण टूट जाती है और ये टुकड़े भी साथ ही लुढ़कते रहते है। जब सब लावा ठंडा होकर कठोर हो जाता है,

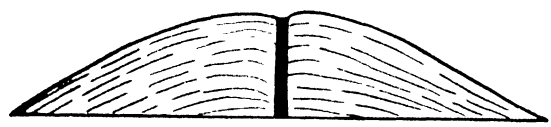

चित्र ३२.

तो इन टुकड़ों के कारण धरातल ऊँचा-नीचा हो जाता है। चिपचिपे लावे का प्रवाह-क्षेत्र बहुत सीमित होता है।

पैठिक लावा कम चिपचिपा होता है अतः तेज़ी से बहता है। इसकी प्रवाह-गति इतनी तेज़ होती है कि एक अश्वारोही इसके साथ नहीं दौड़ सकता। कई बार इसका प्रवाह वर्षों तक होता है। कभी-कभी इस लावे की ऊपरी परत कठोर हो

पैठिक लावा

चित्र ३३.

जाती है, परन्तु कठोर परत के नीचे से द्रव लावा बह जाता है। इस पपड़ी के नीचे एक गुफ़ा-सी बनी रह जाती है। धरातल के नीचे की ऐसी गुफ़ाएँ भूमिगत जल का एक भंडार बन जाया करती हैं, जिनसे झरने बहते रहते है।

इस अवस्था में कई बार उद्गार होने से ज्वालामुखी पर्वत में कई स्तर बन जाते है। इसी प्रकार इन्हें स्तरीय ज्वालामुखी भी कहा जाता है। भूमध्यसागर के एटना, विसूवियस और जापान का फ़्यूज़ीसान पर्वत इसी अवस्था में है।

६७. चतुर्थ अवस्था में भूमि की भीतरी चट्टानों के कठोर हो जाने के कारण लावा की मात्रा घटती जाती है। तापक्रम घटने से लावा की गैसें निकलकर एकत्र होती रहती है और अचानक विस्फोट के साथ निकल पड़ती है। ऐसे उद्गारों में गैसों के साथ राख और धूल भी निकलती है। विस्फोट इतना उग्र होता है कि ज्वालामुखी का पूर्व-निर्मित शंकु (Cone) नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। इस उद्गार में लावा का प्रवाह बहुत नगण्य होता है। १८८३ ई० में क्राकाटोआ द्वीप का भीषण उद्गार लावा के बिना ही हुआ था। क्राकाटोआ द्वीप सुमात्रा और जावा के बीच में सुंडा जलडमरूमध्य में स्थित है। यहाँ १८८३ ई० के मई महीने से ही धुएँ के बादल उठने लगे और अगस्त तक धुआँ निकलता रहा। अगस्त में धुएँ के साथ धड़ाके भी होने लगे। २७ अगस्त को इतना भीषण धड़ाका हुआ कि टापू का दो-तिहाई भाग उड़ गया और वहाँ पर समुद्र लहराने लगा। इस विस्फोट की आवाज़ कई हज़ार मील तक स्पष्ट सुनाई दी। यहाँ से लगभग १०० मील दूर स्थित बटाविया नगर में इस धड़ाके की भीषण ध्वनि को सुनकर लोग घबरा गये और समझने लगे कि प्रलय आ पहुँची है। लगभग १,००० मील दूर सिलेबीज द्वीप के लोगों ने समझा कि उनके पास ही समुद्र में किसी जहाज़ पर धड़ाका हुआ है। ३,००० मील से अधिक दूर रोडरीक्यूज़ द्वीप में भी ४ घंटे बाद इस धड़ाके की आवाज़ सुनाई पड़ी थी। धड़ाके के कारण समुद्र में ५० फीट ऊँची लहर उठी जिसने आसपास के द्वीपों में बढ़कर सैकड़ों गाँव बहा दिये और सहस्रों मनुष्यों को डुबा दिया। धूल और राख तो इतनी उड़ी कि

सैकड़ों मील की दूरी में कई दिनों तक रात बनी रही । धूल और राख के गुब्बारे आकाश में २० मील की ऊँचाई तक पहुँच गये, और उसने वायुमंडल में पृथ्वी के तीन चक्कर लगाये । लाखों वर्गमील भूमि पर यह धूल फैल गई।

अलास्का का कटमाई ज्वालामुखी, कैलीफोर्निया का लासेन पीक और जापान का बन्दाईसान इसी अवस्था के अन्तर्गत हैं ।

६८. अन्तिम अवस्था में धड़ाके समाप्त हो जाते है । उद्गार के समय भाप और अन्य गैसें चुपचाप **धुआँरे या फ़्यूमरोल्स** (Fumeroles) से निकल पड़ती हैं । बहुत से स्थानों पर खौलता हुआ गरम पानी और भाप फुहारों के रूप में वायु-मंडल में उछल जाती है जिसे **'गीसर'** (Geyser) कहते है । गीसर आइसलैंड की भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ उछलता हुआ पानी है । गीसर के मुख से भाप और गरम पानी दोनों का ही उद्गार होता है और उनकी संयुक्त शक्ति से ही फुहारा छूटता है । साधारणतया २१२° फा० तापक्रम पर पानी भाप बनता है परन्तु दबाव की अधि-कता के कारण भाप भी अधिक ऊँचे तापक्रम पर बनती है । अस्तु, भूगर्भ में दबाव की अधिकता के कारण अधिक ऊँचे तापक्रम पर भी पानी भाप के रूप में नहीं बदलता । जिस गीसर की भूगर्भ से सम्बन्ध रखने वाली नली या दरार पर्याप्त चौड़ी और सीधी होती है, उसमें उद्गार के समय संवाहन-क्रिया (Convection) द्वारा समस्त नली का पानी एक ही तापक्रम पर पहुँच जाता है । अतः गीसर का मुख गरम पानी का कुंड-सा बन जाता है, जिससे पानी चारों ओर बहता रहता है । किन्तु; जिस गीसर की नली संकीर्ण और टेढ़ी होती है, उसकी समस्त नली में संवाहन-क्रिया नहीं होती । टेढ़े स्थान के समीप तापक्रम इतना हो जाता है कि कुछ पानी भाप बन जाता है और अपने ऊपर के जल को ज़ोर से धकेलता है । मुख के पास दबाव में कमी होते ही अधिक पानी भाप बन जाता है और बाकी जल को फुहारे के रूप में वायु-मंडल में उछालता है । संयुक्त राज्य का प्रसिद्ध 'ओल्ड फेथफुल गीसर' अपने जल की धारा और फुहारें हवा मे १५० फीट की ऊँचाई तक उछाल देता है । गीसर के मुख में साबुन, मिट्टी का ढेला आदि किसी चीज़ के गिर जाने से भी काफ़ी ऊँचा उछाल उत्पन्न हो जाता है । गीसर के जल में विभिन्न प्रकार के खनिज घुले रहते हैं । इन खनिजों के जम जाने से मुख के पास एक टीला-सा बन जाता है । मुख में जो पानी भरा रहता है वह खौलते रहने के कारण बुलबुलों के रूप में उछलता रहता है । फलतः ऐसी दशा में मुख के चारों ओर टीला काफी ऊँचा हो जाता है और मुख को ढक लेता है । टीले के कई छिद्रों में से गीसर का उद्गार होने लगता है । आइसलैंड, न्यूज़ीलैंड, कैलीफोर्निया आदि में गीसर अधिक पाये जाते है ।

धुआँरे (Fumeroles)—जब मुखगर्त से केवल धुआँ ही धुआँ निकलता

है तो उनको धुआँरा कहते हैं। इस धुएँ का ४।५ भाग जलवाष्प होता है, और शेष में कार्बन-डाइआक्साइड, हाइड्रोक्लोरिक एसिड आदि गैसें होती हैं। इन गैसों के साथ लोहा, ताँबा आदि धातुओं के योग भी मिले रहते हैं। जिन धुआँरों से अधिकतर गन्धक का धुआँ निकलता है, उनको गन्धकीय धुआँरे (Solfatara) कहते हैं। कुछ धुआरों से अधिकतर कार्बन-डाइआक्साइड गैस निकलती है। जब कभी हवा बन्द होती है, तो यह गैस हवा से भारी होने के कारण धरती के समीप चारों ओर फैल जाती है और निचले गड्ढों में भर जाती है। इन गड्ढों में यदि कोई पशु आकर फँस जाता है, तो वह इस गैस में घबरा-घबराकर प्राण त्याग देता है। इन धुआँरों का बड़ा उपयोग किया जा रहा है। टस्कनी में धुआँरों के १०० वर्ग मील के क्षेत्र में ६०० फ़ीट गहरे गड्ढे खोदकर ऊँचे तापक्रम की भाप को एकत्र कर लिया जाता है, और उससे बिजली उत्पन्न कर ली जाती है। यह बिजली फ्लोरेन्स, पिसा आदि नगरों को पहुँच ई जाती है। इस शक्ति का प्रयोग ७०-७५ वर्षों से होता आ रहा है। १९२८ ई० में एक गहरा गड्ढा खोदकर इतनी शक्तिशाली भाप प्राप्त की गई है कि वह बिना एकत्र हुए सीधे ही बिजली उत्पन्न कर सकती है। भाप से उत्पन्न बोरिक एसिड की मात्रा का हिसाब लगाकर यह अनुमान किया गया है कि वहाँ प्रतिदिन सहस्रों मन भाप प्राप्त की जा सकती है।

इसी प्रकार की उत्तप्त भाप का अपरिमित भण्डार केलीफोर्निया में भी है। यहाँ पर भी टस्कनी की भाँति काफ़ी गहराई पर भाप मिलती है, और गहराई के साथ ही इसकी विपुल राशि की वृद्धि होती जाती है। १९२१ ई० में इस क्षेत्र में (सेनफ्रान्सिस्को से ४० मील) शक्ति उत्पन्न करने के लिए गड्ढे खोजने की योजना बनाई गई। १९२२ ई० के सितम्बर में पहला कुआँ खोदा गया। इस कुएँ से प्राप्त शक्ति से ही दूसरा कुआँ खोदा गया जो १९२३ ई० मे पूरा हुआ। अब तक आठ कुएँ खोदे गये है। सबसे गहरा कुआं ६५० फीट गहरा है। इनसे काफ़ी मात्रा में भाप प्राप्त होती है। यह योजना पूर्णतया सफल हुई है।

पंक-ज्वालामुखी (Mud volcano)—कई स्थानों पर गैसो के साथ कीचड़ का उद्गार होता है तो उन्हें पंक-ज्वालामुखी कहते है। विभिन्न खनिजों के मिले रहने से कीचड़ का रंग अनेक प्रकार का होता है। इस कीचड़ के जम जाने से एक शंकु (Cone) का निर्माण हो जाता है। इन पंक-ज्वालामुखियों में पहले पानी का स्रोत कम हो जाने से नीचे का गंदला पानी आता है जिसमें चट्टानों का चूर्ण मिला रहता है। धीरे-धीरे कीचड़ अधिक गाढ़ा आने लगता है। जब कभी इस कीचड़ के सूख जाने से पंक-ज्वालामुखी का मुख बन्द हो जाता है, तो उसके नीचे पानी की भाप बनती है। यह भाप एकदम उछलती है और अपने साथ कीचड़ भी

उछाल देती है। बर्मा और पाकिस्तान के बलूचिस्तान प्रान्त में पंक-ज्वालामुखी पाये गये हैं।

ऊपर जिन पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, वे सब एक ही आग्नेय-क्रिया के विभिन्न रूप हैं। इस चक्र से प्रारम्भ में लावा और अन्तिम अवस्था में गैसें निकलती है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रारम्भिक अवस्था में धड़ाका होता ही नहीं और अन्तिम अवस्था में लावा का प्रवाह बिलकुल नहीं होता। कई बार तो एक ही ज्वालामुखी के मुखगर्त से दो या तीन अवस्थाओं के स्वरूप दिखाई पड़ जाते है।

६६. ज्वालामुखी पर्वतों की शंकु रचना (Formation of Cones in Volcanoes)—ज्वालामुखी पर्वतों की आकृति शंकु (Cone) की तरह होती है। इन पर्वतों के शंकु छोटे से टीले से लेकर सर्वोच्च पर्वतों के बराबर तक होते है। शंकु की रचना ज्वालामुखी से निकले हुए पदार्थो के जमने से होती है। शंकु की आकृति ज्वालामुखी से निकले हुए पदार्थो के विश्रामकोण एवं उनके एकत्र रहने की शक्ति, लावे की रासायनिक रचना, वायु की दिशा, विस्फोटों तथा काट-छाँट के प्रभाव पर निर्भर होती है।

यदि हम धरातल पर बालू का ढेर इस प्रकार लगाये कि उसके कण एक दूसरे पर सधे रहें, तो धरातल पर ढेर के कोण को उसका विश्रामकोण कहेंगे। ढेर के पदार्थ मे कण जितने बड़े होगे, विश्राम कोण भी उतना ही बड़ा होगा। शंकु की रचना पर उद्गार के समय निकले हुए राख, धूल, पत्थर. बम आदि पदार्थों के विश्राम कोण का भी काफ़ी प्रभाव पड़ता है। इन पदार्थों में गरम होने के कारण एक दूसरे से मिलाये रखने की शक्ति भी पर्याप्त होती है। उद्गार के समय की वर्षा भी इस कार्य में सहायक होती है।

लावा की रासायनिक रचना भी शंकु की आकृति पर प्रभाव डालती है। लावा की परत केवल असघटित पदार्थो को जमाकर स्थायी ही नही बनाती, किन्तु स्वयं भी शंकु के ढाल पर प्रभाव डालती है। अम्ल लावा अधिक चिपचिपा होता है, अतः इसका प्रवाह अत्यन्त धीमा होता है। कभी-कभी लोग उसे गतिहीन ही समझते हैं। फलतः शंकु का ढाल प्रपाती (Steep) होता है। अकेले लावा द्वारा निर्मित शंकु पर यह प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। ठोस पदार्थो के ऊपर लावा की परतें जमकर बड़े सुन्दर शंकु का निर्माण कर देती है। विद्वानों के मत से जापान का फ़्यूज़ीयामा पर्वत संसार का सुन्दरतम एवं दर्शनीय शंकु है। फिलीपाइन्स द्वीप का मेयन तथा उत्तरी अमेरिका के हुड, शास्ता और रेनियर पर्वत भी इसी प्रकार के दर्शनीय शंकु हैं।

सनातन हवायें भी शंकु की आकृति को अपनी प्रवाह-दिशा की ओर कुछ लम्बा-सा बना देती है। उद्गार के समय निकले हुए पदार्थ हवाओं से प्रभावित हो जाते है।

विस्फोटों से शंकु की आकृति में अनक परिवर्तन हो जाते है। भयानक विस्फोटों से कई बार शंकु का ऊपरी भाग उड़ जाता है। प्रागैतिहासिक काल में विसूवियस का शंकु उड़ गया था। १८८८ ई० में वन्दाई सान का और १९१२ में कटमाई का ऊपरी भाग उड़ गया था। कभी-कभी धड़ाके के साथ शंकु के ढाल में से बहुमुखी फोड़े की तरह अनेकों छेद फूट निकलते है और इनसे भी लावा आदि निकल पड़ता है। यदि इन छेदो से उद्गार होता रहता है, तो इनके आसपास भो छोटे-छोटे शंकु बन जाते है जिनसे शंकु की विचित्र आकृति बन जाती है। एटना पर्वत पर ऐसे कई परजीवी शंकु (Parasitic Cones) बने हुए है। कभी-कभी किसी प्रचड उद्गार द्वारा निकाले हुए पदार्थ से दबकर ये परजीवी शंकु नष्ट हो जाते है।

ज्वालामुखी की प्रसुप्तावस्था में अथवा उसके शान्त हो जाने पर शकु की रचना का विकास रुक जाता है और उसके नरम भागों का क्षय होने लगता है। ज्वालामुखी की राख और जमे हुए शिलाखण्ड क्षयात्मक शवितयो के प्रभाव से उखड़-उखड़कर अलग होने लगते है। धीरे-धीरे ज्वालामुखी की गर्दन में जमे हुए कठोर लावा के ठोस स्तम्भ को छोड़कर समस्त शंकु का छोटा रूप बन जाता है।

१००. ज्वालामुखी की प्रज्वलनशीलता—जो ज्वालामुखी समय-समय पर धुआँ, लावा आदि उगलता रहता है उसे जाग्रत (Active) ज्वालामुखी कहते है। विभिन्न ज्वालामुखियों का जागरण-काल भिन्न-भिन्न होता है। एटना पर्वत के विशाल आकार को देखकर विद्वानो ने अनुमान लगाया है कि यह ज्वालामुखी ३ लाख वर्ष से प्रज्वलित रहा होगा। पिछले ढाई हज़ार वर्षो से तो इसमें उद्गार होते आये है। भारत में कोई जाग्रत ज्वालामुखी नहीं है। बृहत्तर भारत में बंगाल की खाड़ी के बेरन द्वीप में केवल एक जाग्रत ज्वालामुखी है। समस्त संसार में जाग्रत ज्वालामुखियों की संख्या ४३० समझी जाती है।

बहुत से ज्वालामुखी एक बार जाग्रत रहने के पश्चात् फिर प्रसुप्त (Dormant) हो जाते है। प्रसुप्तावस्था इतनी लम्बी हो जाती है कि लोग उन्हे शान्त समझने लगते है। वर्षो प्रसुप्त रहने के बाद ये अचानक क्रियाशील हो जाते है। इस प्रकार के उद्गार से जन-धन की अपार हानि होती है। इटली का विसूवियस पर्वत सैकड़ो वर्ष प्रसुप्त रहने के बाद १६३१ ई० में अचानक फूट पड़ा था।

जो ज्वालामुखी लावा आदि उगलना बिलकुल बन्द कर देते है, और जिनकी गर्दन का छेद बन्द हो जाने से मुख-गर्त मे जल एकत्र होकर झील बन जाती है,

उनको शान्त (Extinct) ज्वालामुखी कहते है।

१०१. भूतल पर ज्वालामुखी पर्वतों का वितरण—संसार के जिन क्षेत्रों में

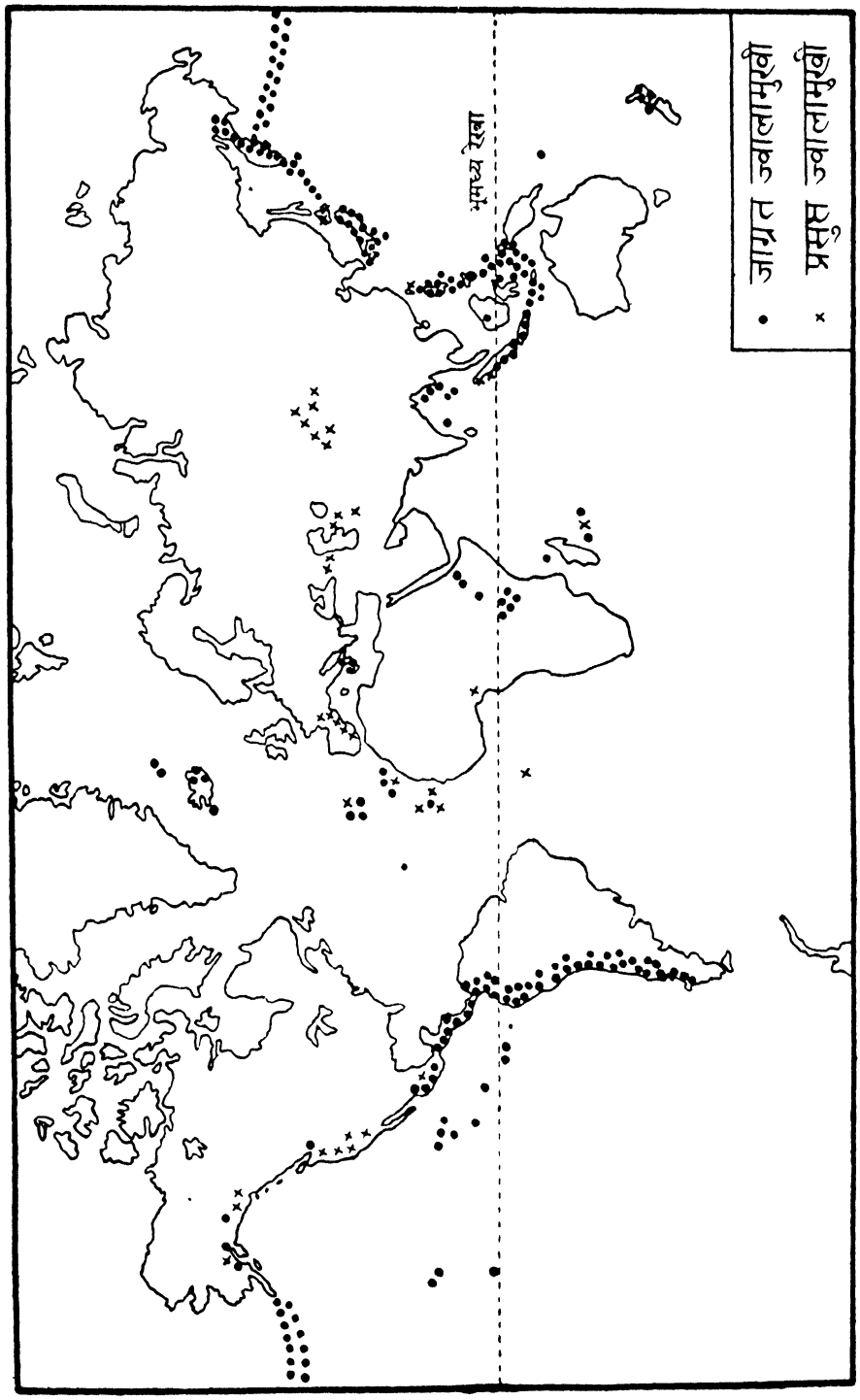

चित्र ३४. भूतल पर ज्वालामुखी पर्वतों का वितरण

ज्वालामुखी पर्वत स्थित है वे सब नव-निर्मित भूभाग है। इन भागों को निर्बल क्षेत्र कहते हैं। ज्वालामुखी पर्वतों की पंक्तियाँ दो लम्बी और नियमबद्ध पेटियों में स्थित

हैं : एक आल्प्स हिमालय की पेटी और दूसरी पेटी प्रशान्त महासागर को घेरे हुए है। इन दो के अतिरिक्त प्रशान्त, अटलाण्टिक और हिन्द महासागर के तीन समुद्री क्षेत्रों में भी ज्वालामुखी मिलते है ।

आल्प्स हिमालय की पेटी भूमध्यसागर के सहारे-सहारे फैलती हुई काकेशस, आरमीनिया, फारस, बलूचिस्तान, यूनान, ब्रह्मा, बैरन द्वीप होती हुई पूर्वी द्वीपसमूह तक चली गई है ।

प्रशान्त महासागर को घेरने वाली पेटी पूर्वी द्वीपसमूह से प्रारम्भ होती है । वहाँ से फिलिपाइन्स, फारमोसा, जापान, क्यूराइल, कमचटका प्रायद्वीप, एल्यूशियन द्वीप समूह, अलास्का प्रायद्वीप, संयुक्तराज्य के पश्चिमी तट, मैक्सिको, मध्य अमेरिका, और एंडीज के सहारे-सहारे टैराडेलफ्यूगो तक जाती है। वहाँ से एंटार्कटिक महाद्वीप के इरेबस पर्वत पर होती हुई न्यूज़ीलैड के उत्तरी द्वीप, न्यू हेब्रेडीज, सालोमन द्वीप और न्यूगनी न्यू पोमेरेनिया चाप तक पहुँच जाती है ।

जलमडल के क्षेत्रो में प्रशान्त क्षेत्र सब से प्रमुख है । संसार के जाग्रत ज्वालामुखी पर्वतों का $\frac{3}{4}$ भाग प्रशान्त सागरीय क्षेत्र में स्थित है । अटलाण्टिक और हिन्द महासागर के क्षेत्रो में भी बहुत से ज्वालामुखी फैले हुए है ।

१०२. ज्वालामुखी के उद्गार का कारण—ज्वालामुखी पर्वतों के वितरण की ओर ध्यान देने से दो बाते स्पष्ट दिखाई देती है । प्रथम तो ज्वालामुखी लम्बी नियमबद्ध पेटियो के रूप मे फैले हुए है । इससे प्रकट होता है कि लावा भूपृष्ठ में पर्याप्त गहराई तक पहुँची हुई दरारो के खास-खास स्थानों से ही निकलता है और य खास स्थान सभवतया विपरीत दिशाओ की ओर जाने वाली दो दरारो के मिलने के स्थान हो ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ज्वालामुखी पर्वत मुख्यतया समुद्रतट के समीप और द्वीपो मे पाये जाते है । दूसरे शब्दों में, ये महाद्वीपों के भीतरी भागों में प्रायः नही मिलते । इससे प्रकट होता है कि ये भूमि के निर्बल क्षेत्रों में अर्थात् महाद्वीपो और महासागरों के मिलने के स्थानों पर पाय जाते है । जहाँ कहीं भी ये महाद्वीपों के भीतरी भागों में पाये जाते है, वहाँ पर भूपृष्ठ में काफ़ी बड़ी-बड़ी दरारें होती है । उदाहरण के लिए पूर्वी अफ्रीका की विशाल रिफ़्ट घाटी ऐसा ही एक स्थल भाग है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कल्पना की जा सकती है कि ज्वालामुखी के फूटने का सम्बन्ध भूपृष्ठ की भीतरी चट्टानों के टूटने से जुड़ा हुआ है । इसी प्रकार पर्वत निर्माणकारी और भूखंड निर्माणकारी घटनाओं द्वारा पृथ्वी-तल का सिकुड़ना और फैलना भी ज्वालामखी के उद्गार से सम्बन्धित है ।

१०३. ज्वालामुखी से मनुष्य को लाभ—ज्वालामुखी पर्वतों ने मनुष्यों को काफ़ी लाभ पहुँचाया है :—

(१) सर्वप्रथम ज्वालामुखी पर्वतों ने हमारी पृथ्वी का इतिहास जानने में अपरिमित सहायता पहुँचाई है। इनके द्वारा भूपृष्ठ की भीतरी चट्टानों का रहस्य समझ में आता है।

(२) ज्वालामुखी के अध्ययन द्वारा हम भविष्य में होने वाले उद्गारों की भविष्यवाणी करके अपार जन-धन की हानि को बचा सकते हैं।

(३) ज्वालामुखी से निसृत बहुत से पदार्थ मनुष्य के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। कई स्थानों पर ज्वालामुखी के समीप गन्धक, बोरिक एसिड, प्यूमिस आदि वस्तुएं प्राप्त होती हैं।

(४) लावा के क्षय से निर्मित मिट्टी संसार की उर्वरा मिट्टियों में गिनी जाती है।

(५) उद्गार के समय जो शक्ति निसृत होती है उसका उपयोग अत्यन्त लाभप्रद है। डा० प्रेलर ने गणना की है कि यदि १९२८ ई० के एटना पर्वत के उद्गार की शक्ति एकत्रित कर ली जाती तो उससे समस्त इटली को तीन वर्ष तक बिजली दी जा सकती थी। आइसलैंड में गर्म गीसरों में भोजन पकाने और वस्त्र धोने का काम लिया जाता है। कैलीफोर्निया में भी भाप के कुओं का उपयोग किया जाता है।

(ब) भूकम्प (Earthquake)

१०४. भूकम्प किसे कहते हैं—प्रत्येक भौतिक पदार्थ धक्का लगने से हिलता है और उसमें कम्पन उत्पन्न होता है। तबले पर कसे हुए चमड़े पर चोट मारने पर वह थर्राकर काँपने लगता है। जब यह कम्पन भौतिक साधनों द्वारा हमारे मस्तिष्क में पहुँचेगा, तो हमें ध्वनि का बोध होगा। ज्योंही चमड़े का कम्पन बन्द होगा, ध्वनि भी लुप्त हो जायगी। यहां हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि एक सैकिण्ड में १६ बार से कम कम्पन होने पर उसकी ध्वनि हमें अनुभव नहीं होती।

पृथ्वी पर साधारण-से-साधारण धक्का लगने पर भी भूपृष्ठ का कुछ भाग काँप उठता है। हमारी पृथ्वी पर कम्पन बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ता है। घोड़े की टाप की कम्पन-ध्वनि मीलों दूर तक धरती से कान लगाने पर सुनाई पड़ सकती है। अमेरिका के रैड इण्डियन अपने शत्रुओं का पता लगाने के लिए धरती से कान लगाकर शत्रु के घोड़ों की टाप की आवाज सुन लेते थे। परन्तु इस प्रकार के साधारण कम्पनों को भूकम्प नहीं कहते। साधारणतः पृथ्वी के भीतर होने वाली किसी घटना के परिणामस्वरूप जब धरातल का कुछ भाग अकस्मात् काँप उठता है, तो उस आकस्मिक

कम्पन को भूकम्प कहा जाता है।

यों तो धरातल के किसी-न-किसी भाग में नित्यप्रति भूकम्प होते ही रहते हैं; परन्तु ये सभी हमारे जीवन पर प्रभाव नही डाल पाते। इनमें से अधिकांश समुद्र के गर्भ में ही समाप्त हो जाते हैं। बहुत से इतने अल्पकालिक और धीमे होते है कि हमें उनकी अनुभूति ही नहीं होती। परन्तु कभी-कभी भूकम्प इतने तीव्र वेग से आते है कि धरती बड़े जोर से हिल उठती है, मकान और पेड़ आदि झूले की तरह झूलने लगते है और धन-जन की अपार हानि होती है।

१०५. भूकम्पों के कारण—अत्यन्त प्राचीन काल से ही भूकम्पों ने मनुष्य का ध्यान आकर्षित किया है। प्राचीन लोगों का विश्वास था कि कोई जानवर हमारी पृथ्वी को उठाये हुए है और उसी जानवर के हिलने से पृथ्वी में हलचल होती है। बाली और बोर्नियो द्वीप में तथा बलगेरिया और तुर्की मे यह विश्वास प्रचलित था कि एक भैंसा पृथ्वी को अपने सींग पर उठाये हुए है। जब वह भैसा पृथ्वी को एक सींग से दूसरे सींग पर रखता है तभी पृथ्वी काँप जाती है। उत्तरी अमेरिका के मूल निवासी समझते थे कि पृथ्वी कछुए की पीठ पर है। इसी प्रकार सिलेबीज द्वीप में सूअर, ईरान में केंकड़ा, मलक्का द्वीप और भारत में सर्प पृथ्वी को उठाये हुए माने जाते थे। तिब्बतियों के अनुसार पृथ्वी एक विशाल मेंढक की पीठ पर स्थित है, और पीठ के किसी भाग के हिलने से उसी अंग पर टिकी हुई भूमि हिलती थी।

आधुनिक वैज्ञानिकों का कथन है कि तीन प्रकार के भूकम्प आते है और उनके कारण उनकी उत्पत्ति के अनुसार अलग-अलग हैं।

(क) ज्वालामुखी क्षेत्रों के भूकम्प—ज्वालामुखी पर्वतों के क्षेत्रो मे जब लावा और गैसें भूगर्भ से बाहर निकलने के लिए जोर लगाती है, तो उसके आसपास की भूमि हिलने लगती है। जब तक उद्गार होता रहता है तब तक धरती हिलती रहती है। जैसे जैसे उद्गार का वेग कम होता जाता है वैसे-ही-वैसे भूकम्प का वेग भी घटता जाता है और उद्गार के शान्त हो जाने पर भूकम्प भी बिलकुल शान्त हो जाता है। ज्वालामुखी क्षेत्रों के भूकम्पों का आघात ज्वालामुखी के आसपास तक ही सीमित रहता है। कितना ही भीषण भूकम्प क्यों न हो परन्तु उसका अनुभव अधिक-से-अधिक १००–१५० मील की दूरी तक ही होता है। बहुत ही थोड़े उदाहरण ऐसे मिलेंगे जब इनका प्रभाव हज़ारों मील तक पहुँचा हो। केवल १८८३ ई० में क्राकाटोआ द्वीप के विस्फोट के कारण जो भूकम्प आया था उससे अवश्य इतनी ऊँची लहर उठी थी कि उसका प्रभाव ८,००० मील दूर दक्षिणी अमेरिका के हार्न अन्तरीप तक पहुँच गया और वायु में इतना ज़बरदस्त आघात लगा कि १०० मील दूर बटाविया नगर के मकानों की खिड़कियो के काँच टूट गये।

(ख) भ्रंश क्षेत्रों के भूकम्प—भूगर्भ में होने वाली घटनाओं के कारण भूपृष्ठ की चट्टानों की स्थिति में अचानक परिवर्तन हो जाता है जिससे वे काँप उठती हैं और धरातल पर धक्के आते हैं। इस प्रकार चट्टानों के काँपने के तीन मुख्य कारण हैं :—

(१) जब भूपृष्ठ की चट्टानों पर तनाव या खिचाव पड़ता है, तो चट्टानें एक विशेष रेखा पर क्षितिजोत्तर या ऊपर-नीचे हटने लगती हैं। अधिक जोर पड़ने पर इसी रेखा पर चट्टानें एकदम टूट जाती हैं जिससे धक्का लगता है और कम्पन उत्पन्न हो जाता है। इन भूकम्पों की विशेषता यह है कि भूकम्प के प्रमुख धक्के के बाद भी बहुत समय तक अल्पकालिक धक्के आते रहते हैं क्योंकि टूट जाने के पीछे बहुत समय तक चट्टानें थरथराती रहती हैं।

(२) जब भूपृष्ठ की चट्टानों पर भिचाव पड़ता है, तो उनमें सिकुड़न उत्पन्न होती है। सिकुड़ते समय नीचे की ओर झुकने वाले मोड़ की ऊपरी परत के दोनों सिरे आपस में सहसा टकरा जाते हैं अथवा परतों में अव्यवस्था हो जाती है और धरातल तक धक्के आते हैं।

(३) चट्टानों की किसी दरार में होकर समुद्र का पानी भूगर्भ की अत्यन्त गरम चट्टानों तक पहुँच जाता है। वहाँ जल तुरन्त भाप में बदल जाता है, और बाहर आने के लिए छटपटाता है जिसके कारण भयंकर विस्फोट के साथ धरातल हिल उठता है।

इन भूकम्पों के कारण सैकड़ों मीलों तक धक्के लगते हैं और प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है। १९३४ ई० में उत्तरी बिहार के भूकम्प से हज़ारों वर्गमील भूमि में उथल-पुथल मच गई। मुंगेर, मुज़फ्फरपुर, जमालपुर आदि स्थानों की विध्वंस लीला ने ऐसा दृश्य उपस्थित कर दिया मानो हवाई जहाजों ने बम गिराकर पृथ्वी को तोड़-फोड़कर सर्वनाश मचाया हो। १५ अगस्त १९५० ई० के दिन आसाम के भूकम्प का ताण्डव नृत्य आज भी हमारे दिलों को कँपा देता है।

(ग) पातालीय भूकम्प—वैज्ञानिकों का कथन है कि भूगर्भ में ५० मील से ५०० मील तक की गहराई पर अदृश्य घटनाओं के कारण भूतल पर धक्के आते हैं। संभवतया संतुलन की क्रिया द्वारा यह आघात लगता

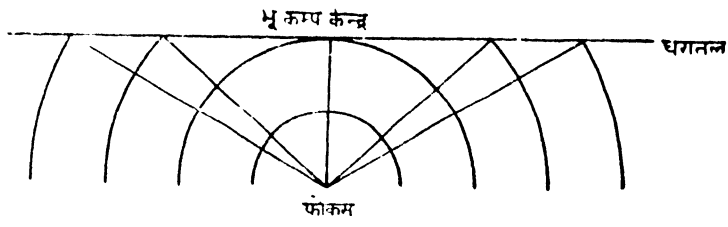

चित्र ३५

हो। भूपटल पर चट्टानों की चूर निरन्तर स्थानान्तरित होती है, जिससे कालान्तर में भू-संतुलन बिगड़ जाता है। इसको ठीक रखने के लिए पर्याप्त गहराई पर लावा बहता है, जिससे भारी चट्टानों में हलचल होती है। फलतः धरातल पर हल्के धक्के आते हैं। इस प्रकार के भूकम्प पामीर पठार के समीपवर्ती हिन्दूकुश पर्वत पर आते है। यहाँ भूतल से २०० मील की गहराई पर कम्पन उत्पन्न होने का अनुमान किया गया है। इन भूकम्पों का प्रभाव भी बहुत दूर-दूर तक फैलता है, परन्तु भ्रंश क्षेत्र के भूकम्प के समान प्रलयकारी नहीं होता। ४ मार्च १९४९ ई० को हिन्दूकुश के एक पातालीय भूकम्प से लाहौर के मकानों को हानि पहुँची थी।

१०६. भूकम्प की लहरें—भूकम्प के प्रारम्भ होने के स्थान को फोकस या कम्प-उत्पत्तिस्थान कहते है। पातालीय भूकम्पों का उत्पत्तिस्थान ५० मील से ५०० मील तक की गहराई तक हो सकता है। भ्रंश क्षेत्रों के भूकम्प इतनी गहराई पर उत्पन्न नही होते। १२ जून १८९७ ई० को आसाम में १२ मील की गहराई पर ३५ फीट चौड़ी दरार बन जाने से अत्यन्त प्रचंड भूकम्प आया था, जिससे १७ लाख ५० हज़ार वर्गमील भूमि पर प्रलय मच गई थी। १५ जनवरी, १९३४ ई० के बिहार-भूकम्प और १५ अगस्त, १९५० ई० के आसाम-भूकम्प का उत्पत्तिस्थान धरातल से बहुत कम गहराई पर स्थित था।

आघात के उत्पत्तिस्थान से चट्टानों का खिसकना तो बहुत कम होता है, परन्तु कम्पन लहरें तमाम दिशाओं को जाती है। उत्पत्तिस्थान के ठीक ऊपर धरातल पर जो स्थान होता है उसे भूकम्प-केन्द्र (Epicentre) कहते है। भूकम्प की लहरों का अधिक प्रभाव भूकम्प केन्द्र पर पड़ता है, अतः उसके आसपास के क्षेत्र में सबसे अधिक हानि होती है। उत्पत्तिस्थान से दो प्रकार की कम्पन लहरें चलती है :—

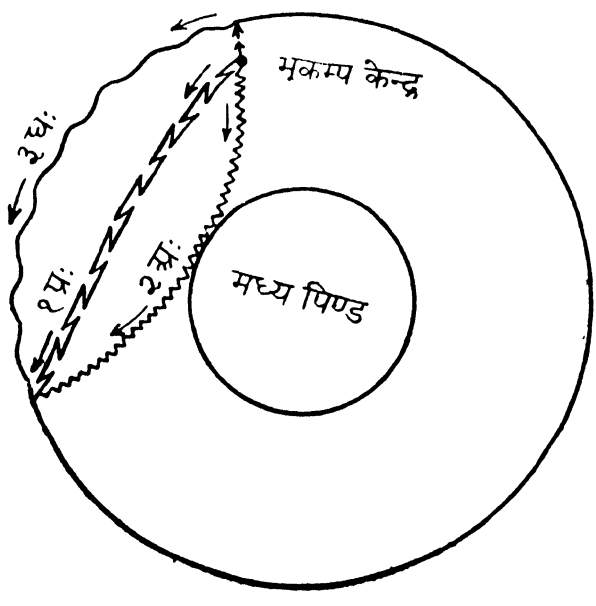

चित्र ३६. भूकम्प लहरें। १अ—प्रधान लहरें, २अ—आड़ी लहरें, ३अ—धरातल की लहरें।

(क) उत्पत्तिस्थान से जाने वाली प्रधान या लम्बी लहरें (P waves)—इनमें अणुओं का कम्पन लहरों की दिशा में होता है। उदाहरण के लिए यदि हम रबड़ के एक टुकड़े के दोनों

किनारों को पकड़कर खीचें, तो रबड़ पर लम्बा खिचाव पड़ता है। प्रधान लहरों में भी इसी प्रकार का, लहर की लम्बाई की दिशा में, कंपन होता है। माध्यम का घनत्व जितना अधिक होगा, कम्पन की लहरों का वेग भी उतना ही अधिक होगा। पृथ्वी के मध्यपिंड में प्रधान लहरों की गति ५ से ९ मील प्रति सैकिंड तक होती है। एक प्रधान लहर पृथ्वी को भेदकर भूकम्प केन्द्र के प्रतिध्रुव स्थान (Antipode) पर २१ मिनट में पहुँच जाती है।

(ख) प्रधान लहरों से समकोण पर जाने वाली आड़ी लहरें (Transverse waves)—यदि हम रबड़ के लम्बे टुकड़े को लम्बा खींचने की अपेक्षा उसको मरोड़ दें, तो लम्बाई के विपरीत दिशा में लहरें उत्पन्न होगी। इसी प्रकार की लहरें पृथ्वी में भी उत्पन्न होती हैं। इन लहरों की गति प्रधान लम्बी लहरों की गति से कम होती है तथा ये लहरें द्रव पदार्थ में होकर नहीं जा पातीं।

(ग) धरातल की लहरें (Surface waves)—उत्पत्तिस्थान में भूकम्प-केन्द्र पर पहुँचकर लहरें वहाँ से पृथ्वी की बाहरी परिक्रमा और भीतरी यात्रा करने लग जाती है। इसी कारण इन लहरों का प्रभाव किसी स्थान पर दो बार होता दिखाई देता है। इनकी गति लगभग २ मील प्रति सैकिण्ड होती है। इनका प्रभाव धरातल से अधिक गहराई पर नहीं होता। अधिक गहराई पर जाकर ये लहरें शान्त हो जाती है। किसी तालाब में पत्थर फेंक देने से जिस प्रकार लहरें उत्पन्न होती है ये लहरें भी उसी प्रकार की होती है। परन्तु जन-धन की अपार हानि मुख्यतया इन्हीं लहरों से होती है। इनके द्वारा समुद्र में काफ़ी ऊँची लहरें उठती है।

१०७. भूकम्प की नाप—लहरों का वेग और स्थान नापने के लिए एक विशेष यन्त्र का उपयोग किया जाता है जिसे कम्पलेखक या सीस्मोग्राफ़ कहते है। इस यन्त्र का मुख्य भाग एक लटकता हुआ डण्डा या पेंडुलम है, जिसका ऊपरी सिरा एक स्तम्भ से बँधा रहता है और दूसरा लटकने के लिए खुला रहता है। जब भूकम्प नहीं होता, तो पेंडुलम द्वारा बेलन पर लिपटे एक कागज पर सीधी रेखाएँ खिचती है। परन्तु भूकम्प के समय कम्पन-वेग के अनुसार रेखाएँ कम या अधिक टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती हैं। जिस बेलन पर कागज लिपटा रहता है, उसका सम्बन्ध एक घड़ी से रहता हैं, और इस प्रकार रेखा का समय भी अंकित होता जाता है। इन कम्पन-चित्रों से भूकम्प की तीव्रता तथा कम्पलेखक के स्थान से कम्पस्थान की दूरी ज्ञात होती है, परन्तु उसकी दिशा नहीं मालूम होती। विभिन्न स्थानों के कम्पन-चित्रों की तुलना करके भूकम्प के उत्पत्तिस्थान तथा कम्प-केन्द्र का पता लगाया जाता है। भूकम्प की नापजोख करने वाले अनेक यन्त्र धरातल के विभिन्न भागों में लगाये गये हैं। भारत में भी बम्बई, पूना, कलकत्ता, दिल्ली, देहरादून, हैदराबाद आदि स्थानों पर कम्पलेखक यन्त्र लगे हुए हैं।

१०८. धरातल पर भूकम्प-क्षेत्र—पृथ्वी के भूकम्प सम्बन्धी नकशों के अध्ययन से पता चला है कि धरातल के कुछ विशेष भागों में भूकम्पों का प्रकोप विशेष रूप से होता है। इन नकशों को देखने से ज्ञात होता है कि पृथ्वी के पर्वतों और समुद्र-तटों से भूकम्पों का विशेष सम्बन्ध है। धरातल पर भूकम्प-क्षेत्रों की दो संकीर्ण पट्टियाँ फैली हुई है। इनमें से एक पट्टी प्रशान्त महासागर को घेरे हुए है। भूकम्प-क्षेत्रों की यह पट्टी ज्वालामुखी पर्वतों की इन्हीं भागों में फैली पट्टी की लगभग समस्थलीय है अर्थात् इसी क्षेत्र में ज्वालामुखी के उद्गार भी आते है और यहीं पर भूकम्प भी आते है। इनके लगभग एक ही क्षेत्र में होने से यह भ्रम हो सकता है कि ज्वालामुखी और भूकम्पों मे परस्पर सम्बन्ध है। परन्तु दूसरी पट्टी को देखने से यह भ्रम दूर हो जाता है।

भूकम्प-क्षेत्रों की दूसरी पट्टी नवीनतम मोड़दार पर्वतों के सहारे-सहारे लगभग भूमध्य रेखा के समानान्तर चली गई है। इस पट्टी के बहुत से भाग ज्वालामुखी-क्षेत्रों से सहस्रों मील दूर स्थित है। भूमध्यसागर के क्षेत्र और हिमालय पर्वत इसी पट्टी में आते है।

इटली, यूनान और जापान ऐसे देश है, जहाँ भूकम्प बहुत आया करते है। जापान देश में संसार में सबसे अधिक भूकम्प आते है। टोकियो नगर में हर तीसरे दिन भूकम्प आता रहता है। इसीलिए वहाँ के लोगों ने भूकम्प का विशेष अध्ययन करके ऐसे मकान बनाये है जिन पर भूकम्प का कोई विशेष प्रभाव नही होता।

जिन भूमिभागों का निर्माण बहुत प्राचीन काल में हो चुका है और इसीलिए जहाँ का भूभाग काफ़ी स्थिर हो चुका है, वहाँ पर भूकम्प का प्रभाव बहुत कम होता है। उदाहरण के लिए ब्राजील, योरोपीय रूस, दक्षिणी भारत आदि ऐसे प्रदेश है जहाँ कभी भी कोई भीषण भूकम्प नही हुआ। फिर भी विश्व मे ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ पर भूकम्प का कभी असर नहीं हुआ हो।

१०९. भूकम्पों से हानियाँ—इन भूकम्पों से भयंकर नर-संहार होता है, और लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। हमारे देश में ही पिछले १५–१६ वर्षों में तीन भीषण भूकम्प बिहार, क्वेटा और आसाम में घटित हो चुके है, जिनकी महान् अनर्थकारी घटनाएँ हमारे स्मृति-पटल पर भलीभाँति अंकित हैं। १५ अगस्त, १९५० ई० का आसाम का भूकम्प तो बिलकुल ताजी घटना है। भारत के तृतीय स्वतन्त्रता समारोह की खुशियाँ समाप्त भी न हो पाई थी कि भूकम्प की काली छाया रात्रि के अन्धकार के साथ ही आसाम पर छा गई। समस्त संचार-साधनों के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने से सम्पूर्ण संसार से इसका सम्बन्ध विच्छेद हो गया। डिब्रूगढ़, लखीमपुर, सदिया आदि नगरों के सहस्रों ऊँचे-ऊँचे मकान धराशायी हो गये।

स्थान-स्थान पर दरारें हो जाने से जनपथ अवरुद्ध हो गये और इन दरारों में धरती काफ़ी नीची धँस गई। न जाने कितने पेड़-पौधे, पशु-पक्षी और मनुष्य इन दरारों में समाधिस्थ हो गये। रेल की पटरियाँ विचित्र ढंग से टेढ़ी-मेढ़ी हो गई तथा टूट गईं।

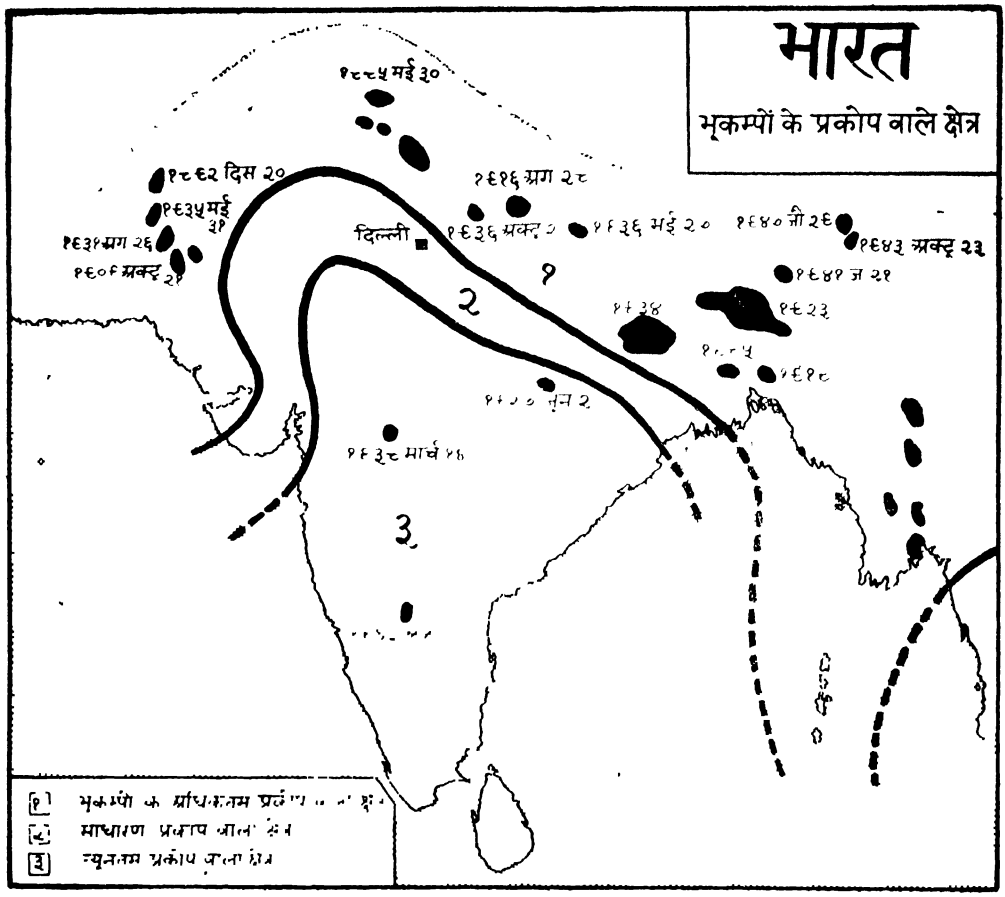

चित्र ३७.

मैदानों में भी लम्बी-चौड़ी दरारें बन गईं, जिनसे जल और बालू निकल-निकलकर धरातल पर फैल गया और उपजाऊ भूमि को ऊसर बना डाला। बालू के ढेर से धरती पर विचित्र ऊँचे-नीचे आकार बन गये और पानी ने फैलकर आसपास के क्षेत्र को बाढ़-ग्रस्त बना दिया।

पहाड़ी भागों में हानि मैदानों से अधिक हुई। अभोर की पहाड़ियों से सहस्रों पाषाण-खंड टूटकर लुढ़क गये तथा आसपास की पर्वत-शृंखलाओं के शिखर खंड-खंड होकर घाटियों में गिर गये। इन शिला-खंडों के कारण नदियों का जल-प्रवाह रुक गया। ब्रह्मपुत्र की सहायक दिहांग नदी की घाटी भी इन पाषाण-खंडों से अवरुद्ध हो गई। तीन दिन तक इस नदी का जल-प्रवाह रुका रहा। चौथे दिन इस अस्थायी बाँध के टूट जाने से भयंकर बाढ़ आई, जिसके फलस्वरूप इतनी भीषण

जन-धन हानि हुई, जितनी भूकम्प से भी नहीं हो पाई थी। ब्रह्मपुत्र नदी का जल भूगर्भ की बालू और जल से मिलने से इतना विषैला हो गया कि उसकी दुर्गन्ध से मछलियाँ भी मरने लगीं।

इस प्रकार भूकम्प मानवीय सभ्यता के सहस्रों वर्षों के आयोजन को क्षणभर म विध्वंस कर डालते हैं। भूमि की सुव्यवस्था में प्रकृति का चिर-अभीप्सित परिवर्तन कर देते हैं और असंख्यों जीवधारियों का प्राण हरण कर जीवन की क्षणिकता का पाठ पढ़ाया करते हैं।

दसवाँ अध्याय

समतल-स्थापक शक्तियाँ (१)

(Agents of Gradation)

११०. शक्तियों का आदिस्रोत—भौगर्भिक शक्तियों द्वारा स्थलमण्डल के धरातल पर जो असमानता उत्पन्न होती है उसको समान बनाने का कार्य बाह्य शक्तियाँ निरन्तर करती रहती हैं। ज्योंही कोई भूमिभाग समुद्रतल से ऊपर उठता है, त्योंही ये शक्तियाँ उसकी काट-छाँट का कार्य प्रारम्भ कर देती है। इन शक्तियों का **आदिस्रोत सूर्य** है और प्रमुख सहायक **गुरुत्वाकर्षण शक्ति** है। पृथ्वी के चारों ओर जो वायुमण्डल का आवरण है वह सूर्य का दूत है। इसी वायु मण्डल की सहायता से सूर्य भूपटल का क्षयकार्य सम्पन्न करता है। हवाओं का चलना और ऋतुओं का परिवर्तन सूर्य पर ही निर्भर है। सूर्य की गर्मी से ही जल भाप बनकर वर्षा के रूप में बरसता है या हिम के रूप में गिरता है। गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से जल धरातल पर बहने लगता है अथवा पृथ्वी के भीतर समा जाता है। इसी के प्रभाव से हिमानी (Glaciers) बहती है तथा ऊँचे भागों पर कटे हुए पदार्थ नीचे आ गिरते है। इस प्रकार सूर्य को बाह्य शक्तियों का जनक कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। बाह्य शक्तियाँ निरन्तर धीरे-धीरे प्रतिदिन, प्रतिक्षण अपना कार्य करती रहती है। इन शक्तियों में बहता हुआ जल, हिम और वायु मुख्य हैं। पेड़-पौधे, जीव-जन्तु और मनुष्य इनके कार्य में काफ़ी सहायता पहुँचाते है। इन शक्तियों को समतल-स्थापक शवितयाँ कहते है। यह शक्तियाँ अनेक प्रकार से अपना कार्य करती है।

१११. भेद—इन शक्तियों को दो मोटे विभागों में बाँट सकते हैं—(क) स्थैतिक प्रक्रियायें तथा (ख) गतिशील प्रक्रियायें। कुछ शक्तियाँ **अपने स्थान पर ही** कार्य करती रहती हैं, अतः उन्हें स्थैतिक प्रक्रियायें कहते है। शिलाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक हटाने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले उन्हें तोड़-फोड़कर हटाये जाने के योग्य बना दिया जाय। स्थैतिक शक्तियाँ शिलाओं को हटाये जाने योग्य ही बनाती हैं। कुछ शक्तियाँ **गतिवान्** होती है, अतः वे टूटी हुई चट्टानों की चूर को उठाकर बहा ले जाती हैं और दूसरे स्थान पर जमा कर देती है। इन्हें गति-शील शक्तियाँ कहते हैं।

समतल-स्थापन की विभिन्न शक्तियाँ कभी भी शान्ति से नहीं रहतीं। आज जो शिलाखण्ड एक स्थान पर जमा कर दिये गये हैं, कल वे हटाये जा सकते हैं। इस प्रकार समतल-स्थापन की कई अवस्थायें हो सकती हैं। इन विभिन्न अवस्थाओं के

कारण धरातल पर अनेक प्रकार के भूआकार बनते रहते हैं। ये भूआकार थोड़ी-बहुत सीमा तक अस्थायी कहे जा सकते हैं। जलवायु इन परिवर्तनों पर बहुत प्रभाव डालती है।

११५. **मौसमी क्षति** (Weathering)—जिन प्रक्रियाओं द्वारा शिलायें अपने स्थान पर ही नष्ट-भ्रष्ट होती रहती हैं उन सबको मौसमी क्षति कहते हैं। मौसमी क्षति दो प्रकार से हो सकती है—(क) रसायनिक क्रिया द्वारा शिलाओं के अवयवों का क्षय होना या विबन्धन (Decomposition), तथा (ख) शिलाओं का टूट-फूटकर टुकड़े-टुकड़े होना या वियोजन (Disintegration)। प्रायः दोनों प्रकार की क्रियायें साथ-साथ होती रहती हैं।

(क) रसायनिक क्षति (Chemical Weathering)—आक्सीजन, कार्बन डाइआक्साइड अथवा जल चट्टानों के अवयवों के साथ मिलकर उन चट्टानों में रसायनिक परिवर्तन कर देते हैं, जिससे चट्टानों का बन्धन ढीला हो जाता है और वे नष्ट होने लगती हैं। तापक्रम अथवा नमी के बढ़ जाने से इस प्रकार का परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से होता है। इसी कारण गर्म और नम प्रदेशों में रसायनिक क्षति सबसे अधिक होती है। इस क्रिया के कई भेद है :—

(१) आक्सिडेशन या जारण (Oxidation)—इस प्रक्रिया में आक्सीजन शिला के दूसरे अवयवों के साथ मिल जाती है। इस प्रक्रिया का प्रभाव अधिकतर लोहे के खनिजों पर पड़ता है। वर्षा के समय लोहे के खनिज आक्सीजन से मिलकर आक्साइडों के रूप में बदल जाते हैं। इस परिवर्तन से चट्टान की बनावट में एक प्रकार का ढीलापन आ जाता है जिससे वे शीघ्र ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाती है। बरसात के दिनों में लोहे की चीज़ों पर मोरचा लगा हुआ सभी ने देखा होगा। यह मोरचा (जंग) लोहे और आक्सीजन के मिलने से बनता है।

(२) कार्बोनेशन या प्रांगारीयण (Carbonation)—पानी और कार्बन डाइआक्साइड मिलकर हल्का कार्बोनिक अम्ल बन जाता है। यह अम्ल चट्टानों में बड़े-बड़े परिवर्तन कर डालता है। यह अम्ल चूनामिश्रित चट्टानों को बड़ी आसानी से घुला डालता है। बर्षा के जल से चूने का पत्थर नहीं घुलता, अतः इमारत बनाने में इसका खूब उपयोग किया जाता है। किन्तु भूमिगत जल (Ground Water) में कार्बोनिक अम्ल मिला रहता है, जिससे वह इन पत्थरों में बहुत ज्यादा परिवर्तन कर डालता है।

(३) हाइड्रेशन या जलीकरण (Hydration)—चट्टानों के खनिजों के साथ पानी के मिलने से खनिजों का आयतन बढ़ जाता है। आयतन बढ़ने से चट्टान के भीतर इतना अधिक दबाव हो जाता है कि भीतर-ही-भीतर खनिज कण पिसकर

चूर्ण बन जाते हैं। हाइड्रेशन के प्रभाव से चट्टानों के परत फूट की तरह खिल जाते हैं। जल के मिश्रण से चट्टानों में जो रसायनिक परिवर्तन होता है। वह पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। जल की प्रतिक्रिया से सबसे अधिक प्रभाव फेल्स्पार खनिज पर पड़ता है। यह खनिज लगभग सभी चट्टानों में थोड़ा-बहुत मिश्रित रहता है। इस कारण हाइड्रेशन का प्रभाव भी अधिक मात्रा में होता है। जल के प्रभाव से फेल्स्पार क्योलिन मिट्टी में बदल जाता है। जबलपुर की पहाड़ियों में पाई जाने वाली क्योलिन का जन्म फेल्स्पार के विबन्धन से हुआ है। पानी और कैल्शियम सल्फेट के मिलने से हरसोंठ धातु बनती है।

(४) **विलयन** (Solution)—चट्टानों के विभिन्न खनिजों का पानी में घुल जाना विलयन कहलाता है। वर्षा के जल में शैल-लवण (Rock salt) घुलकर बह जाता है। पानी प्रायः प्रत्येक खनिज को थोडा-बहुत घुला देता है। विलयन क्रिया द्वारा ही मिट्टी में से चूना घुलकर निकल जाता है, जिससे उसकी उर्वरा-शक्ति घट जाती है।

(ख) **शिलाचूर्णन या चट्टानों का टूटना** (Mechanical Weathering)—वियोजन (Disintegration) द्वारा चट्टानों के टूटकर टुकड़े हो जाते हैं, किन्तु उनमें कोई रसायनिक परिवर्तन नहीं होता। अतः इन प्रक्रियायों को शिलाचर्णन कहा जाता है। इन प्रक्रियाओं के प्रमुख भेद निम्नांकित है :—

(१) पृथ्वी के भीतरी भाग में क्रियाशील रहने वाली शक्तियों के प्रभाव से धरातल पर तनाव अथवा दबाव उत्पन्न होता है जिससे शिलाओं में बहुत-सी सँधें (Joints) या दरारें बन जाती है। इन सन्धियों में होकर आक्सीजन, कार्बन डाइआक्साइड और पानी भूपटल में काफी गहराई तक प्रवेश कर जाते है। अतः रसायनिक क्रिया भी बहुत गहराई तक होती रहती है।

(२) शिलाओं के छिद्रों में प्रायः वर्षा का जल भर जाता है। जब यह जल ठण्ड के कारण हिम के रूप में बदलता है, तो इसके आयतन में वृद्धि होती है। यह वृद्धि जल के आयतन का दसवाँ भाग होती है। आयतन के बढ़ने से चट्टान के संकुचित छिद्र अधिक चौड़े हो जाते है। जब ये छेद पहले से अधिक चौड़े हो जाते हैं, तो उनमें और अधिक पानी समाने लगता है। यह क्रिया प्रतिवर्ष जारी रहती है। और अन्त में चट्टान चूर-चूर हो जाती है। इस क्रिया से बड़ी-बड़ी पहाड़ियाँ और चट्टानें खण्ड-खण्ड होकर इस प्रकार फैल जाती है मानों किसी ने हथोड़े से तोड़-तोड़-कर फैलादी हों। इस प्रकार की टूट-फूट का कार्य ठण्डे देशों और ऊँचे पहाड़ी भागों में अधिक तीव्रता से होता है।

(३) दिन के समय सूर्य की गर्मी के प्रभाव से भूपटल की चट्टानों का ताप-

क्रम बढ़ता है। तापक्रम की वृद्धि से चट्टानों का आयतन बढ़ता है और वे फैलती हैं। रात्रि के समय तापक्रम के घटने पर चट्टानें सिकुड़ने लगती है। इस प्रकार तापक्रम के दैनिक परिवर्तन से चट्टानों में निरन्तर खीचतान बनी रहती है जिससे उनमें दरारें पड़ जाती हैं। धीरे-धीरे ये दरारें बड़ी होने लगती है और अन्त में चट्टान टूट जाती है। जिन देशों में साल में बहुत थोड़े दिन बादल घिरते है और गर्मी अधिक पड़ती है, वहाँ दिन और रात्रि के तापक्रम में बहुत अन्तर रहता है। ऐसी जलवायु वाले शुष्क मरुस्थलों में तापक्रम-भेद के कारण टूट-फूट बड़ी शीघ्रता से होती है।

(४) कई बार चट्टानों के छिद्रों में पेड़-पौधे उग आते है। पौधे धीरे-धीरे बढ़ते है जिससे इनकी जड़ें चट्टानों में फैलने का प्रयत्न करती है। जड़ों के फैलने से कई बार बड़ी चट्टानें तक टूट जाती है।

११३. मौसमी क्षति से मनुष्य को लाभ :—

(१) मौसमी क्षति द्वारा शिलाओं के टूटने से कालान्तर मे मिट्टी का निर्माण होता है। यही मिट्टी बहुत कुछ अंशो में मानव-जीवन की आधार है। मिट्टी के भेद समझ लेने पर उसके नीचे की चट्टानों की बनावट भी बहुत-कुछ मालूम हो सकती है।

(२) इन क्रियाओं मे बहुमूल्य धातुकण घुल-घुलकर धीरे-धीरे एकत्र होते रहते है जिन्हें हम सहज ही एक स्थान पर प्राप्त कर लेते है।

(३) इन क्रियाओं से चट्टानें टूट-टूटकर एकत्र होती रहती है। इस चूर्ण को नदियाँ बहा ले जाती है और मैदानो में बिछा देती है, जिससे भूमि की उर्वरा-शक्ति बढ़ जाती है।

११४. गतिशील प्रक्रियायें—गतिशील शक्तियों के कार्यो को दो मुख्य भेदों में बाँटा जा सकता है। स्थैतिक शक्तियों द्वारा तोड़े हुए शिलाखण्डों को हटाना और उन्हें किसी दूसरी जगह पर जमा करना, इन कार्यो के मुख्य साधक भूमिगत जल, बहता पानी, हिमानी, लहरें और वायु है। इन साधकों (Agents) की कार्यविधि को समझ लेना ज़रूरी है।

(क) क्षयात्मक कार्य या घिसाव (Erosion)—चट्टानों के टूट-टूटकर इकट्ठे हुए टुकड़ों को गतिशील शक्तियाँ हटाकर दूसरे स्थान पर ले जाती हैं। ये चट्टानों के टुकड़े (शिलाखण्ड) हटते समय धरातल की चट्टानों से रगड़ खाते हैं। इस रगड़ से चट्टानें और शिलाखण्ड दोनों ही घिस-घिसाकर क्षय होते रहते है। इस प्रकार घर्षण द्वारा घिसकर क्षय होने की क्रिया को अपरदन या घिसाव कहते है। हमें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि शिलाखण्डों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटाया जाना या परिवहन (Transportation) भी घिसाव की आवश्यक शर्त है क्योंकि

इसके बिना शिलाखण्डों की धरातल की चट्टानों से रगड़ नहीं होगी और बिना रगड़ लगे घिसाव कैसे संभव होगा।

पदार्थों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने (Transportation) के दो तरीके हैं :—

(१) हटाने वाला साधक हटने वाली चीज़ को घुलाकर अदृश्य रूप से हटाये; जैसे पानी में नमक और चूना घुल-घुलकर बहते रहते हैं।

(२) हटाने वाली शक्ति हटने वाली चीज़ को अपने ज़ोर से ठेलकर हटाये; जैसे पानी में कंकड़-पत्थर और हवा में धूल-कण उड़ते रहते हैं।

इन दो विधियों के अतिरिक्त गुरुत्वाकर्षण शक्ति के प्रभाव से भी शिलाखण्ड ऊँचे भागों से लुढ़ककर नीचे गिर जाते हैं।

शिलाखण्डों का जल्दी या देर से हटना भूमि के ढाल पर निर्भर होता है। प्रपाती ढालों (Steep slopes) पर ज्योंही कोई शिलाखण्ड मूल शिला से अलग होता है, त्योंही वह गुरुत्वाकर्षण से लुढ़ककर नीचे गिर जाता है। परन्तु सपाट तल पर वर्षा काल में भी सारे शिलाखण्ड नहीं बह पाते और वहीं ढेर बढ़ता जाता है।

(ख) रचनात्मक कार्य या निक्षेप (Deposition)—हटाये हुए शिलाखण्ड कहीं-न-कहीं जमा करने ही पड़ते हैं। ये शिलाखण्ड कभी समीप में ही जमा हो जाते हैं और कभी बहुत दूर जमा होते हैं। एक ही पदार्थ कई बार मार्ग में रुक जाता है और फिर उठाकर ले जाया जाता है। इस प्रकार की क्रिया डेल्टा में बहुत होती है। शिलाखण्डों के जमा होने से भूमितल ऊँचा उठ जाता है जिसे भूमि का उठाव (Aggradation) कहते हैं। यह क्रिया नीचे भूमिभागों को शिलाचूर्ण द्वारा पाटकर समतल बनाने के उद्देश्य से होती है। इसी क्रिया के द्वारा कई नवीन भू-आकार बन जाया करते हैं। गतिशील शक्तियों के क्षय-कार्य और जमाव के कार्य का विस्तृत वर्णन नीचे दिया जाता है।

भूमिगत जल (Ground water)

११५. वर्षाजल का भूमि में प्रवेश—वर्षा द्वारा जितना पानी भूमि पर गिरता है उसका एक अंश भाप बनकर उड़ जाता है, कुछ बह जाता है और कुछ भाग भूमि में नीचे धँस जाता है। वर्षा जल का कितना अंश धरती में धँस जायगा यह बहुत कुछ भेद्य या अभेद्य चट्टानों की न्यूनाधिकता पर निर्भर होगा। यदि धरातल के समीप अधिकतर भेद्य चट्टानें हैं, तो अधिक जल भीतर पहुँच जायगा। किन्तु यदि चट्टानें अभेद्य हैं, तो पानी उनमें होकर सरलता से न धँस सकेगा और बहुत ही थोड़ा पानी नीचे जाने पायेगा। यहाँ भेद्य और अभेद्य चट्टानों का भेद समझ लेना असंगत न होगा। छिद्रों के होने न होने से चट्टान की अभेद्यता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आग्नेय

चट्टानें के रवे (स्फट) एक दूसरे से इस प्रकार गुँथे रहते है कि उनमें बिलकुल छिद्र (Pores) नहीं होते। किन्तु यदि किसी कारणवश उन चट्टानों में चटक खाने से सन्धिस्थान बन जायँ, तो उन सन्धियों में होकर पानी भीतर प्रवेश कर सकेगा। इसके विपरीत यदि प्रस्तरीभूत चट्टानों में छिद्र इतने छोटे हों कि ऊपरी प्रवाह के कारण जल इनमें प्रवेश ही न करे, तो ये चट्टानें अभेद्य ही कहलावेगी।

११६. **जलरेखा** (Water Table)—गुरुत्वाकर्षण के कारण भूमिगत जल, जहाँ तक हो सकता है, नीचे जाने का प्रयत्न करता है। किन्तु अभेद्य चट्टानों के आ जाने से अधिक नीचे नहीं जा सकता। धरातल के अधिकांश भाग में भेद्य चट्टानों के नीचे अभेद्य चट्टानें बिछी हुई है। यदि कहीं न भी हों, तो भी भूमिगत जल की नीचे की ओर धँसने की एक सीमा है जिससे नीचे वह नही जा सकता। ऊपरी भारी दबाव के कारण अधिकांश चट्टानों की सँधें, दरारें और छेद कुछ सौ फीट से अधिक गहराई पर नहीं रह सकते। अतः भूमिगत जल भी इतनी ही गहराई तक मिलता है। अनेक स्थानों पर खानों की खुदाई में २,५००–३,००० फीट की गहराई के बाद पानी का अस्तित्व नहीं मिला। अनुमान है कि ३,००० फीट से अधिक गहराई पर ऊपरी दबाव से सभी प्रकार के छेद बन्द हो जावेंगे। अधिक गहराई पर अनेकों अभेद्य चट्टानें तो बिलकुल सूखी रहती है। पानी के नीचे धँसने की सीमा के ऊपर कुछ ऊँचाई तक सछिद्र चट्टानों के छेदों तथा अन्य सभी चट्टानों की सँधों और दरारों में जल भर जाता है। जो चट्टानें इस प्रकार जल से ओत-प्रोत रहती है उन्हें सम्पृक्त (Saturated) चट्टानें कहते है। इन जलपूर्ण चट्टानों की ऊपरी सीमा को जलरेखा (Water Table) कहते है। जलरेखा से नीचे चट्टानों में भरे हुए पानी को पाताल-जल कहते है।

११७. **जलरेखा की धरातल से गहराई**—यदि सभी चट्टानों में एक समान छेद और सँधें होतीं और इन सँधों में बराबर-बराबर पानी पहुँचता, तो जलरेखा सभी स्थानों पर एक-सी निचाई तक होती। परन्तु वर्षा और पानी के नीचे धँसने के परिमाण में भिन्नता होने के कारण धरातल से जलरेखा की गहराई अलग-अलग स्थानों में अलग-अलग होती है। वर्षा का पानी अधिक परिमाण में उपलब्ध होने के कारण अधिक वर्षा वाले भागों में कम वर्षा वाले भागों की अपेक्षा जलरेखा धरातल से कम गहराई पर मिलेगी। इसी प्रकार वर्षा ऋतु में अथवा नदियों या झीलों के पास भी पाताल जल की गहराई कम होगी। पानी का नीचे धँसना भूमि की बनावट तथा उसके ढाल पर निर्भर है। पहाड़ी भागों और प्रपाती ढालों पर भूमिगत जल अधिक गहराई पर मिलेगा। मैदानों में इस जल की गहराई कम होगी। भारत के उत्तर प्रदेश राज्य में थोड़ी-सी गहराई पर ही यह जल मिल जाता है।

कई बार चट्टानों की संरचना के अनुसार एक ही स्थान की विभिन्न गहराइयों पर बहुत-सी जलरेखायें बन जाती हैं। उदाहरण के लिए मान लीजिये किसी भूभाग के नीचे ग्रेवल (Gravel) और ग्रेवल पत्थर के नीचे सूक्ष्म कण वाला बलुआ पत्थर बिछा है। ग्रेवल पत्थर में बहुत से छेद होते है। अतः उसमें होकर इतना अधिक पानी नीचे पहुँच जाता है कि वह सारा का सारा बलुवा पत्थर में प्रवेश नहीं कर पाता। फलतः बलुआ पत्थर आंशिक रूप से अभेद्य चट्टान का कार्य करता है और कुछ पानी ग्रेवल चट्टान में भरा रहता है। इसी प्रकार विभिन्न संरचना वाली चट्टानों के परत जहाँ-जहाँ मिलते होंगे, वहीं पर एक अस्थायी जलरेखा का होना सम्भव है। इस तरह की जलरेखा प्रायः अस्थिर और अनिश्चित रहती है।

११८. पाताल जल या भूमिगत जल मे गति—चट्टानों में पानी धँस सकने के गुण में अन्तर होने के अनुसार ही भूमिगत जल ऊँचे ढाल से नीचे ढाल की तरफ बहता है। मान लीजिये नीचे ढाल की तरफ एक दिशा में ऐसी चट्टानें है जिनमें ऊपरी ढाल की चट्टानों से निकला हुआ सारा पानी प्रवेश नहीं कर सकता, तो इस दिशा को भूमिगत जल नहीं बह सकेगा। भूमिगत जल के बहने की यह विशेषता जलरेखा को बहुत ही अनिश्चित बना देती है। जहाँ कहीं भी घाटियाँ या गड्ढे आ जाने के कारण पृथ्वी का धरातल जलरेखा से (भूमिगत जल के तल से) नीचा हो जाता है, वहीं यह जल प्रकट हो जाता है और जितना पानी झरने द्वारा बह जाता है उतने ही अनुपात से इस जल का तल नीचे की ओर झुक जाता है। जल के तल के नीचे झुकने पर ही झरने में निरन्तर पानी आता रहता है क्योंकि इस पानी को बहते समय शिलाओं के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता है। चट्टानों के छिद्रों और सँधो में होकर तथा शिलाओं से रगड़कर बहने के कारण भूमिगत जल का प्रवाह बहुत ही धीमा होता है। अतः झरने में निरन्तर जलप्रवाह बने रहने के लिए यह आवश्यक है कि जलरेखा चित्र ३८ के अनुसार झरने के उद्गम पर नीचे की ओर झुकी हुई हो।

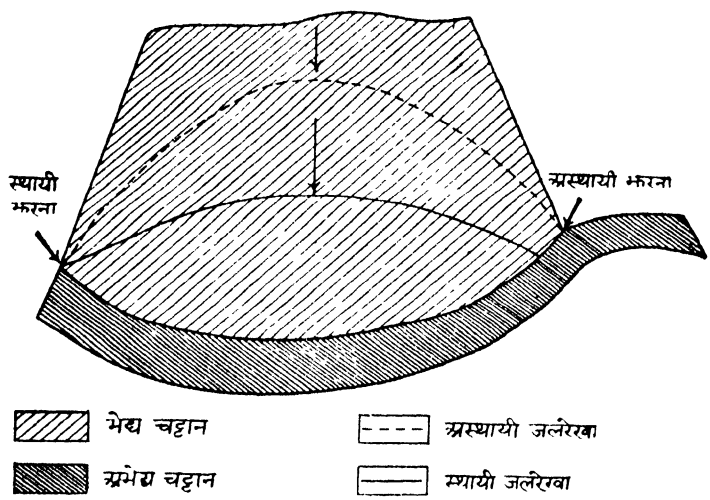

चित्र ३८.

११९. झरने—जब यह जल बूँद-बूँद कर आता है तो इसे **जलस्रोत** कहते हैं।

जब ऐसे स्रोतों का जल अधिक वेग से निकलता है, तो उसे **झरना** कहते हैं। झरने के जल की मात्रा यदि और भी अधिक होती है तो उसे **धारा** कहते हैं। मसूरी, देहरादून आदि पर्वतीय स्थानों पर ऐसे अनेक प्राकृतिक जलस्रोत मिलते हैं। निकले हुए जल की मात्रा की वृद्धि के अनुसार जलरेखा का झुकाव भी अधिकाधिक होता जाता है।

१२०. **कुएँ**—जब हम कुआँ खोदते हैं, तो उस समय तक स्थायी पानी नहीं मिलता जब तक भूमिगत जल का तल नहीं आ जाता। ज्योंही जलरेखा से नीचे वाली चट्टान में कुएँ का छेद पहुँचा, त्योंही चारों ओर की चट्टानों का जल उस छेद में आकर भर जाता है। कभी-कभी नीचे की ओर धँसता हुआ वर्षा का जल अभेद्य चट्टान के आ जाने पर रुक जाता है अथवा नीचे की चट्टान में ऊपर का सारा पानी नहीं भिद सकता और भरा रह जाता है। इस जल का कुछ अधिक गहराई पर स्थित भूमिगत जल या पाताल से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। अतः यदि इस चट्टान के ऊपर कुआँ खोदा जायगा तो पानी थोड़ी-सी गहराई पर ही मिल जाता है। किन्तु इसका जल थोड़े दिनों में ही सूख जाता है। इस चट्टान के आसपास कुएँ काफ़ी गहरे होते हैं। कभी-कभी अभेद्य चट्टान इतनी बड़ी होती है कि जलरेखा के बहुत नीचे तक इसका विस्तार होता है। ऐसी दशा में वहाँ कुआँ खोदने पर बहुत गहराई तक पानी नहीं मिलता।

१२१. **आर्टीजन या पातालतोड़ कुएँ**—जब कभी भेद्य चट्टान अभेद्य चट्टानों के बीच में स्थित होती है, तो भेद्य चट्टानों में जमा होने वाले पानी को बहने का कोई मार्ग नहीं मिलता। वर्षाकाल में जब इस चट्टान में काफ़ी अधिक पानी एकत्रित हो जाता है, तो इसके सिरों के पास जलस्रोत बहने लगते हैं। इस चट्टान के ऊपर ढाल की गहराई के समीप अभेद्य चट्टान को खोदकर कुआँ बना दिया जाय, तो कुएँ

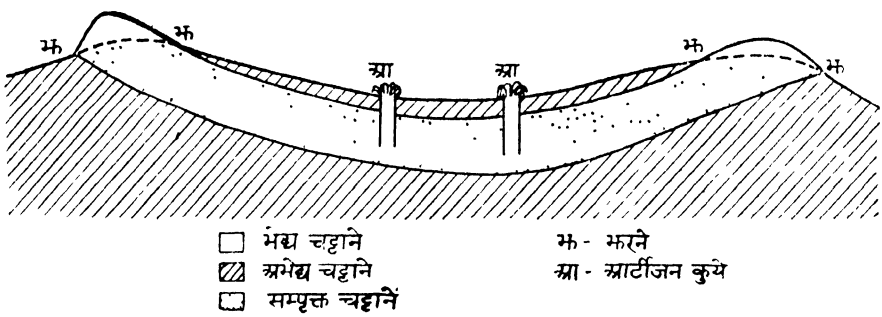

चित्र ३९.

के छेद में होकर पानी उछलकर बहने लगेगा। क्योंकि भेद्य चट्टान के ऊँचे भागों में भरा हुआ पानी उस पर दबाव डालता रहेगा। इन कुओं को पातालतोड़ कुएँ कहते

हैं। ऐसे कुएँ आस्ट्रेलिया में बहुत है। हिमालय की तलहटी में भी ऐसे कुएँ बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार भूमिगत जल से ही हमें झरनों कुओं और आर्टीजन कुओं में पानी मिलता है।

१२२. भूमिगत जल का क्षयात्मक कार्य (Erosion)—भूमि के भीतर भूमिगत जल इतनी धीमी गति से बहता है कि वह चट्टानों को तोड़-फोड़ नहीं सकता। इसका मुख्य कार्य चट्टानों के खनिजों को घुलाकर बहा ले जाना है। चट्टानों को घुलाते-घुलाते यह जल इतना पोला कर देता है कि धरातल नीचे की ओर धँसक जाता है। भूमिगत जल के दो महत्त्वपूर्ण कार्य होते है—चट्टानो को घुला-घुलाकर नष्ट करना तथा घुले अंशों को दूसरे स्थानों पर जमा करना और नवीन चट्टान की रचना करना।

वर्षा के जल में भूमि के अन्दर प्रवेश करने पर अधातुओं (कार्बन, गंधक और नाइट्रोजन आदि) की कुछ आक्साइड मिल जाती है जिससे एक प्रकार का अम्ल बन जाता है जो चट्टानों में बहुत परिवर्तन कर देता है। उदाहरण के लिए, भूमिगत जल में कार्बन डाइआक्साइड गैस घुल जाने से हल्का-सा कार्बोनिक अम्ल बन जाता है। अम्लमिश्रित भूमिगत जल कैलशियम (चूना) और मैगनेशियम मिश्रित चट्टानों में से इन तत्त्वों को घुला डालता है। घुलन क्रिया का सबसे अधिक प्रभाव चूने की चट्टानों (चूने का पत्थर, खड़िया और सेलखरी) पर होना है। ये सभी चट्टानें केलशियम कार्बोनेट से बनी हैं। धीरे-धीरे भूमि खोखली हो जाती है और धरातल के धँस जाने से बड़े-बड़े गर्त (Sink holes) बन जाते है। यदि खोखले स्थान की छत की चट्टान सख्त और मोटी होती है, तो धरातल नीचे को नहीं धँसता बल्कि खोखले स्थान की लम्बाई-चौड़ाई बढ़ती जाती है और भीतर-ही-भीतर कन्दरायें बन जाती है। जिन स्थानों पर चूने की चट्टानों की बहुलता है, वहाँ सौ फीट से आठ-दस मील लम्बी और दो-तीन मील तक चौड़ी कन्दरायें पाई गई है। जब कभी इन कन्दराओं की छतें टूट जाती है, तो एक ब त बड़ा गड्ढा बन जाता है। ऐसे भू-आकार को कार्स्ट स्थानवृत (Karst Topography) कहते हैं।

१२३. भूमिगत जल द्वारा जमाव या निक्षेपात्मक कार्य—जब पानी में खनिज तत्त्व बहुत अधिक घुल जाते है, तो उसमें इतनी शक्ति नही रहती कि घुले हुए पदार्थों को पूर्ण रूप से अपने में बनाये रक्खे। अतः यह जल घुले हुए तत्त्वों को जमा करने लगता है। इसके दो मुख्य कारण है—(१) तापक्रम के बढ़ने पर कुछ जल भाप बन जाता है, अथवा (२) तापक्रम के घटने पर पानी की घुलाने की शक्ति कम रह जाती है। इन कारणों के अतिरिक्त कार्बन डाइआक्साइड गैस के निकल जाने, दबाव घट जाने, कुछ चट्टानों पर जल की रसायनिक प्रतिक्रिया से अथवा कुछ

अत्यन्त सूक्ष्म घास आदि (Algae) की प्रतिक्रिया से भी पानी को अपने अन्दर घुले हुए पदार्थों का कुछ अंश जमा करना पड़ता है।

कार्बोनिक अम्ल मिश्रित जल चट्टानों के चूना और मेगनेशियम को घुला लेता है जिससे कई प्रकार के बाइकार्बोनेट बन जाते हैं। इन बाइकार्बोनेटों से युक्त जल के जमाव से अनेकों विचित्र प्रकार के पिण्ड बन जाते हैं। धरातल से नीचे की ओर जाता हुआ जल चट्टानों से रिस-रिसकर कन्दराओं की छत तक पहुँच जाता है और छत से बूँद-बूँद करके टपकता है। जितनी देर बूँद छत से चिपकी हुई रहती है उतनी देर में पानी का कुछ अंश भाप बन जाता है, जिससे कुछ कार्बन डाइआक्साइड गैस भी निकल जाती है। फलतः पानी में घुला हुआ चूने का कुछ अंश छत पर चिपका रह जाता है। प्रत्येक बूँद कुछ-न-कुछ खनिज जमा करती है। इस क्रिया के दीर्घकाल तक होते रहने के कारण कालान्तर में छत से लटकता हुआ चूने का पाषाणीय स्तम्भ बन जाता है जिसे **स्टेलेक्टाइट (आश्चुताश्म)** कहते हैं। टपक-

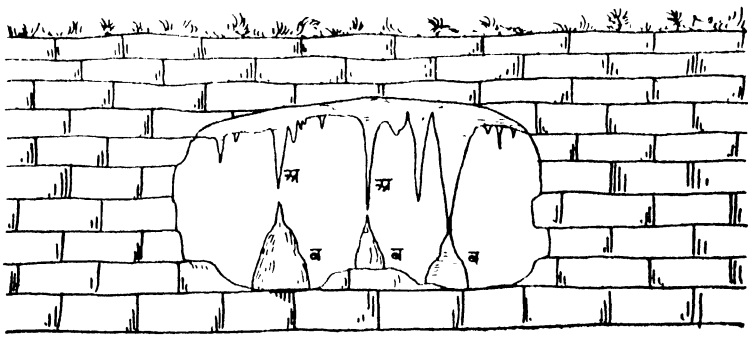

अ- स्टेलेक्टाइट या आश्चुताश्म
ब- स्टेलेग्माइट या निश्चुताश्म

चित्र ४०.

कर नीचे गिरी हुई बूँदों से भी इसी प्रकार कन्दरातल से ऊपर उठते हुए पिण्ड बन जाते हैं जिनको **स्टेलेग्माइट (निश्चुताश्म)** कहते हैं। ये पिण्ड कई रूपों के होते हैं। इनकी विचित्रता देखते ही बनती है। कभी-कभी छत से लटकने वाले और भूमि से ऊँचे उठते हुए, दोनों पिण्ड, अधिक समीप आ जाने से जुड़ जाते हैं और एक **कन्दरा स्तम्भ** बन जाता है। न्यू मेक्सिको के कार्ल्सबाद नामक स्थान की कन्दराओं में भूमि से उठता हुआ एक पिण्ड ५० फीट ऊँचा है और उसका व्यास भूमि के समीप १५ फीट से भी अधिक है।

कई बार भूमिगत जल बड़े विचित्र ढंग से खनिज जमा करता है। कुछ चट्टानों के खनिज भूमिगत जल में घुल जाने से जो स्थान खाली हो जाता है, वहाँ जल की प्रतिक्रिया से दूसरे खनिज जमा हो जाते हैं। एक खनिज का जितना भाग घुलता है

उसके स्थान पर उतना ही दूसरा खनिज जमा हो जाता है। लोहे और चूने के खनिजों के स्थान पर बालू के कण जम जाते है। बालू की चट्टानों में चूना भर जाता है। इस क्रिया से धरातल के नीचे दबे हुए वृक्ष के तनों, हड्डियों और घोंघों आदि पर भी प्रभाव पड़ता है। तने आदि के एक-एक कण के स्थान पर बालू या चूने के कण जमा होते रहते हैं।-इस प्रकार सम्पूर्ण तना पत्थर का बन जाता है परन्तु उसकी आकृति में कोई फर्क नहीं पड़ता। ऊपर की मोटी छाल भी वैसी की वैसी ही बनी रहती है। ऐसे वृक्ष को पाषाण वृक्ष (Petrified tree) कहते है। इस प्रकार का परिवर्तन जिन हड्डियों या घोंघों में हो जाता है उन्हें पथराये हुए घोंघे या पथराई हुई हड्डी कहते हैं।

१२४. भूमिगत जल के जमाव कार्य का आर्थिक महत्त्व—उपर्युक्त प्रकार से खनिजों की अदला-बदली हमारे लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुई है। भूमिगत जल चट्टानों के भीतर से मूल्यवान् खनिजों को घुला-घुलाकर एकत्र करता रहता है और फिर उन्हें एक स्थान पर जमा कर देता है। चट्टानों की दरारों में बालू, चूना या लोहे के खनिज तो जमा होते ही है, परन्तु सोना, चाँदी आदि धातुयें भी पाई जाती हैं। कभी-कभी खनिजों की अदला-बदली परतों में होती है। इस जल द्वारा बनने वाले नये खनिजों के परत एक के ऊपर दूसरे जमा हो जाते है। (Agate) नामक खनिज इसी प्रकार बनता है। बहुत से खनिज झरनों के साथ धरातलों पर आ जाते है और दबाव तथा गर्मी कम हो जाने से वही जमा हो जाते है जिनको हम बड़ी सरलता से प्राप्त कर लेते हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय

समतल-स्थापक शक्तियाँ (२)

प्रवाहित जल (Running Water)

१२५. नदी की उत्पत्ति—प्रारम्भ में जब कोई विशाल स्थलखण्ड सागरगर्भ से सिर निकालकर बाहर निकला होगा, उस समय तक संभवतया उस पर भू-आकारों (Landforms) का अभाव रहा होगा। वर्षा होने पर कुछ जल पृथ्वी के भीतर समा जायगा और कुछ भाप बनकर हवा में मिल जायगा। जो जल धरातल के ऊपर बच रहेगा, उसे अतिरिक्त-जल (Surplus Water) कहा जायगा। यह अतिरिक्त-जल धरती के ऊपर बहने लगेगा। प्रारम्भ में यह जल छोटे-छोटे नालों के रूप में बहता है। धीरे-धीरे उसका बड़ा नाला बनता है। कई नाले मिल कर जलधारा बनती है और बहुतसी जलधाराओं के मिलने से नदी बन जाती है। इस प्रकार स्थलखण्ड पर स्वाभाविक रूप से बहने वाली जलधारा और उसके मार्ग को नदी कहते हैं।

२६. नदी की शक्ति और उसका कारण—नदी वर्षा के अतिरिक्त-जल को ऊँचे ढाल से नीचे के ढाल की ओर बहा ले जाती है। इस प्रकार गुरुत्वाकर्षण-शक्ति ही जल के बहने का कारण है। बहने के कारण जल में शक्ति उत्पन्न होती है। इसी शक्ति के कारण जल में शिलाखण्ड बहते हैं और प्रवाह-प्रदेश में क्षय-कार्य होता रहता है। भूमि के क्षय तथा शिलाखण्डों को ढोने में बहता जल सब शक्तियों से अग्रणी है। सच तो यह है कि इस कार्य का अधिकांश भाग बहते जल के द्वारा ही सम्पन्न होता है।

१२७. नदी का कार्य-क्षेत्र—ऊँचे ढाल से जितनी जलधारायें बहती हैं वे सभी स्वतन्त्र नदी का रूप नहीं धारण करतीं, किन्तु बहुतसी धारायें किसी बड़ी धारा में जा मिलती हैं। इन छोटी-छोटी धाराओं को उपनदी या सहायक नदी कहते हैं। जितने भूभाग का अतिरिक्त-जल किसी नदी अथवा उसकी सहायक नदियों में बहकर आता है उस समस्त प्रदेश को उस नदी का प्रवाह-प्रदेश (Drainage Area) अथवा उसका बेसिन (River Basin) कहा जाता है। बहते जल का कार्य-क्षेत्र नदी के प्रवाह-प्रदेश में ही सीमित रहता है।

१२८. नदी के कार्य—बहता जल (अथवा नदी) अपनी प्रवाह-शक्ति से शिला-खण्डों को ढोता है। इस ढुलाई के कारण नदी दो प्रकार का काम करती है। प्रथम तो नदी अपने ढोये हुए शिलाचूर्ण की सहायता से अपने प्रवाह के मार्ग को गहरा काटकर

तलैटी (Channel) बनाती है और अपने दोनों किनारों को काटकर पाट को चौड़ा करती है। नदी के इस कार्य को घाटी बनाना कहते हैं। दूसरे, नदी अपने ढोये हुए पदार्थ को स्थान-स्थान पर जमा करके मैदान आदि अनेक भू-आकारों की रचना करती है। नदी का यह कार्य उसका रचनात्मक कार्य है। चूँकि कई कारणों से प्रत्येक स्थान पर नदी के पानी की मात्रा और उसकी प्रवाह-गति में अन्तर होता रहता है, अतः उन्हीं के कारण स्थान-स्थान पर अनेकों प्रकार के विचित्र भू-दृश्य बन जाया करते हैं।

१२९. नदी का क्षयात्मक कार्य—बहते जल द्वारा चट्टानों का क्षय कई प्रकार से होता है—

(१) मौसमी क्षति (Weathering) के द्वारा चट्टानों के छोटे-बड़े अनेक रूप के टुकड़े हो जाते हैं। ये टुकड़े बहते पानी (नदी) की तेज धारा में पड़कर आपस में टकराते हैं और चूर-चूर हो जाते हैं। छोटे टुकड़े बड़े शिलाखण्डों के नीचे पिसकर चूर्ण हो जाते हैं और कुछ आपसी घर्षण से घिसघिसाकर नुकीले और पतली धार वाले बन जाते हैं। ये टुकड़े तली को काटने में बहुत सहायता देते है। धीरे-धीरे ये टुकड़े रोड़े और बजरी बन जाते हैं और अन्त में बालू के रूप में परिणित हो जाते हैं।

(२) पानी की घुलन-शक्ति अत्यन्त प्रभावशाली है। अधिक समय तक पानी में पड़े रहने पर सभी तत्त्व थोड़े या बहुत पानी में घुल ही जाते हैं। इस प्रकार नदी चट्टानों का कुछ-न-कुछ अंश घुलाकर बहाती रहती है।

(३) पैनी धार वाले रोड़े पानी में बहते समय मार्ग की चट्टानों से रगड़ खाते हुए जाते हैं जिससे धरातल की चट्टानें धीरे-धीरे घिसती रहती हैं और नदी की तलैटी गहरी होती जाती है। नदी के जल में मिले हुए सूक्ष्म रेत या बालू के कण किनारों को काटते व घिसते रहते हैं जिससे नदी का पाट चौड़ा होता जाता है।

१३०. घाटी-निर्माण (Valley formation)—घाटी-निर्माण का कार्य तलैटी बनाने से प्रारम्भ होता है। शुरू में नाले का बहता जल अपने ढाल के सबसे निचले भाग के पास भूमि को गहरा काट देता है। यह कटान धीरे-धीरे ढाल के ऊपरी

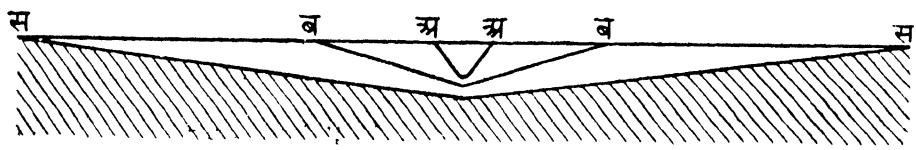

चित्र ४१.

भाग की ओर बढ़ती जाती है। यह कटान ज्यों-ज्यों ढाल के ऊपरी भाग की ओर बढ़ती जाती है, नीचे की ओर उसकी गहराई भी बढ़ती जाती है। इस प्रकार जल

बहने के लिए एक लम्बी कटान बन जाती है जिसे वारिपथ या तलैटी (Channel) कहते है। निचले भाग में चारों ओर से वर्षा का जल बहकर आता है। अतः मुख्य कटान के दोनों किनारों पर छोटी-छोटी कटानें बनने लगती हैं और उनकी वृद्धि भी ऊपरी ढाल की ओर होती जाती है। इस प्रकार सहायक नदियों की तलैटी का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है।

नदी की क्षय-शक्ति की मात्रा—नदी की क्षय-शक्ति मुख्यतया उसमें बहने वाले जल की मात्रा, उसकी प्रवाह-गति तथा उसके ढोये हुए शिलाखण्डों के अनुसार होती है।

(क) **जल की मात्रा**—नदी के जल की मात्रा उसके उद्गम तथा उद्गम के आसपास के प्रवाह-क्षेत्र में होने वाली वर्षा के ऊपर निर्भर होती है। हिमानियों (Glaciers) से निकलने वाली नदियाँ हिम के अधिक पिघलने पर अधिक जल प्राप्त कर लेती हैं। कहीं-कहीं भूमिगत जल भी नदी के जल की मात्रा को बढ़ा देता है। नदी में जल की मात्रा बढ़ने पर उसकी क्षय-शक्ति ही नहीं बढ़ती, किन्तु उसकी प्रवाह-गति और उसके बोझ ढोने की शक्ति भी बढ़ जाती है। इसलिये क्षय-कार्य में जल की मात्रा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(ख) **प्रवाह-गति**—नदी का बहाव जितना ही अधिक तेज होगा, नदी की क्षय-शक्ति उतनी ही अधिक प्रबल होगी। बहाव की गति मुख्यतया जल की मात्रा, बहाव के ढाल तथा पाट की चौड़ाई पर निर्भर होती है। ढाल जितना ही अधिक प्रपाती (Steep) होगा, नदी उतनी ही अधिक तेज बहेगी। इसी तरह जिस नदी का पाट चौड़ा होता है, उसकी गति मन्द होती है और संकीर्ण पाट वाली नदी अपेक्षाकृत तेज बहती है।

(ग) **शिलाखण्ड**—स्वच्छ जल में काटने और घिसने की शक्ति नहीं के बराबर होती है। पानी में बहने वाली बजरी काटने और घिसने के कार्य में बहुत सहायता देती है।

अस्तु, नदी अपने साथ लाये हुए शिलाचूर्ण की सहायता से अपनी तलैटी को निरन्तर गहरा करती रहती है। नदी की प्रारम्भिक अवस्था में तलैटी का गहरा करने का कार्य बड़ी शीघ्रता से होता है क्योंकि सहायक धारायें थोड़ी होती हैं और बारीक मिट्टी या बजरी बहुत थोड़ी मात्रा में बहकर आती है। ध्यान रहे कि बारीक मिट्टी किनारों को अधिक काट सकती है जबकि मोटे शिलाखण्ड तलैटी को गहरा करते हैं। यदि नदी की क्षयक्रिया केवल तलैटी को ही गहरा करने में सीमित रहती है तो धीरे-धीरे बड़ी गहरी घाटियाँ बन जाती हैं जिनके पार्श्व (किनारे) एकदम सीधे ऊँचे

बने रहते हैं। सामान्यतया घिसने और काटने की क्रिया तलैटी और कगारों (Sides) दोनों पर ही होती है। कगारों को काटने में मौसमी क्षति निरन्तर सहायता करती रहती है। तलैटी और कगारों के कटने और घिसने से धारा का मार्ग गहरा तथा विस्तीर्ण हो जाता है जिसे नदी की घाटी (Valley) कहते हैं।

नदी अपनी तली को निरन्तर गहरी काटती रहती है। परन्तु इस गहराई की एक सीमा निश्चित है। यह सीमा नदी का आधार-तल (Base-level) होता है। किसी नदी की गहराई उसके मुहाने के तल से नीची नहीं हो सकती। नदी के मुहाने के तल को ही नदी का आधार-तल कहा जाता है। महासागरों का तल नदियों का सबसे अधिक गहरा आधार-तल है। जो नदियाँ समुद्र में नहीं गिरती उनका आधार-तल समुद्रतल कैसे हो सकता है? अस्तु, कुछ नदियों का अस्थायी आधार-तल भी होता है। जिन नदियों का संगम झीलों में होता है, उनका आधार-तल झीलों का तल ही रहता है। इसी प्रकार सहायक नदियों का आधार-तल उनकी मुख्य नदियों का तल रहता है।

ज्योंही कोई नदी अपनी तलैटी को काटते-काटते अपने आधार-तल तक पहुँच जाती है, त्योंही उसका घाटी को गहरा काटने का काम समाप्त हो जाता है, परन्तु उसकी चौड़ाई का विस्तार होता रहता है। घाटी को चौड़ा बनाने का अधिकांश काम मौसमी क्षति द्वार सम्पन्न होता है। मौसमी क्षति द्वारा घाटी की दीवारें जल्दी नष्ट होती हैं।

१३२. घाटी के भाग—उद्गम से मुहाने तक नदी के तीन भाग किये जाते हैं: (१) ऊपरी घाटी, (२) मध्य घाटी, और (३) निम्न घाटी।

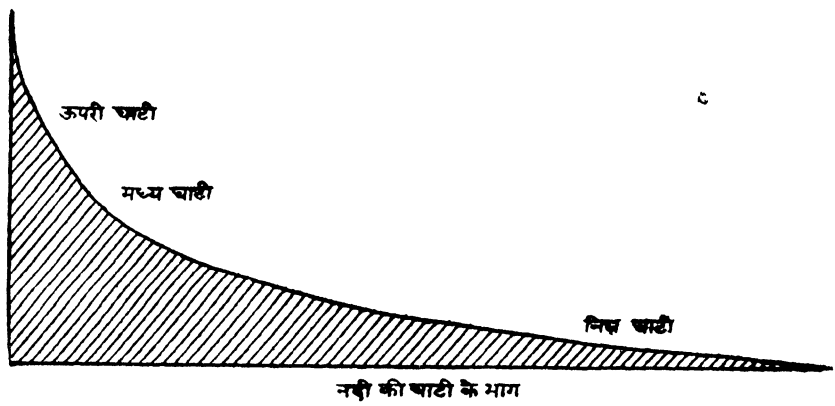

चित्र ४२.

(१) ऊपरी घाटी—नदी का यह भाग स्थलखण्ड के पहाड़ी भाग में स्थित होता है। पहाड़ी भागों में भूमि अधिक ऊबड़-खाबड़ होती है और ढाल अधिक ऊँचा-नीचा रहता है। इसी कारण इस भाग में नदी की चाल काफी तेज रहती है और नदी

अपनी तलैटी को गहरा करती रहती है। नदी का बहाव टेढ़े-मेढ़े मार्ग में होकर जाता है तथा झीलों और प्रपातों की बहुलता रहती है। जब कभी घाटी के पार्श्व से टूटकर कोई भारी शिला नदी के जल का बहाव रोक देती है, तो वहाँ पर एक बड़ी झील बन जाती है। कुछ काल बाद मौसमी क्षति आदि शक्तियों के प्रभाव से जब यह भारी शिला टूट जाती है तो नदी में बड़े ज़ोर की बाढ़ आ जाती है।

(२) **मध्य घाटी**—पहाड़ी स्थानों के टेढ़े-मेढ़े, सँकरे और ऊँचे-नीचे मार्ग को छोड़कर जब नदी मैदान में प्रवेश करती है, तो उसकी चाल भी धीमी पड़ जाती है। घाटी के इस भाग में नदी का क्षय-कार्य एवं उसका रचनात्मक कार्य समान रूप से होता रहता है। छोटे-छोटे रोड़े तली में बहते हुए तलैटी को गहरा काटते जाते हैं और नदी की बारीक मिट्टी किनारों पर छूटती जाती है जिससे जमाव का कार्य शुरू हो जाता है।

(३) **निम्न घाटी**—अपनी घाटी के इस भाग में नदी की चाल अत्यन्त धीमी होती है क्योंकि यहाँ पर भूमि का ढाल बहुत धीमा होता है। निम्न घाटी में बहते हुए नदी में अनेक घुमाव बनते है और नदी का रचनात्मक कार्य प्रारम्भ हो जाता है। इस भाग में नदी अपनी तली को गहरा नहीं कर पाती, किन्तु अपने किनारों को काट-कर अपना मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा करती रहती है। जमाव के कारण अनेक प्रकार के दृश्य बन जाते हैं।

प्रवाह-प्रणाली या नदी-प्रणाली
(Drainage System or River System)

१३३. **प्रारम्भिक प्रणालियाँ**—नदियों की जो तलैटियाँ प्रारम्भ में बनती हैं उनमें कई बार परिवर्तन होता रहता है। प्रारम्भ में नदी को जिधर ढाल मिलता है उसी तरफ को बह निकलती है क्योंकि उसकी चेष्टा यथाशीघ्र निचले प्रदेश में पहुँचने की रहती है। कभी-कभी प्रारम्भ में नदी को ऊँचे भागों पर थोड़े से भाग में भी मीलों का चक्कर काटना पड़ता है और तब कहीं उस प्रदेश से बाहर निकल पाती है। इस प्रकार प्रथम अवस्था में नदी उसी मार्ग से बहती है जो उसके प्रवाह-प्रदेश के ढाल के अनुसार बनेगा। ऐसी नदियों को **ढाल के अनुरूप बहने वाली नदियाँ** (Consequent streams) कहते हैं।

ढाल के अनुरूप बहने वाली मुख्य नदी के दोनो ओर दोनों दिशाओं से मिलने वाली सहायक नदियों को **ढाल के अनुरूप उप-धारायें** (Subsequent streams) कहते हैं।

इन उप-धाराओं के दोनों किनारों पर भी अनेक जलधारायें आकर मिलती हैं। इन जलधाराओं का मार्ग मुख्य नदी के मार्ग की दिशा में अथवा उसके बिल्कुल

विपरीत दिशा मे होता है। इन जलधाराओ को **ढाल के अनुरूप बहने वाली सहायक उप-जलधारायें** (Obsequent streams) कहते हैं।

१३४. **विशेष परिवर्तन**—उपर्युक्त तीनों प्रकार की धारायें प्रारम्भ में ढाल के अनुसार अस्थायी मार्ग बना लेती है। परन्तु बाद में घाटी निर्माण करते समय नदियों को अपना मार्ग बदलना पड़ता है। यह परिवर्तन कई प्रकार के विभिन्न कारणों से होता है :—

(१) यदि नदी का मार्ग प्रारम्भ में अत्यन्त टेढ़ा-मेढ़ा है और उस घुमाव से एक ओर के किनारे को काटकर नदी सरलतापूर्वक सीधा मार्ग ग्रहण कर सकती है तो कुछ समय बाद नदी अधिक सीधा मार्ग अपना लेती है।

(२) मार्ग निश्चित होने के बाद नदी के किसी भाग के नीचे अत्यन्त सख्त चट्टान मिलती है जिसको वह नदी आसानी से नहीं काट सकती, परन्तु समीपस्थ भाग में चट्टान कमज़ोर है जिसका काटना आसान है। ऐसी अवस्था में नदी कमज़ोर चट्टान को काटना शुरू कर देगी और धीरे-धीरे नदी के मार्ग में परिवर्तन हो जायगा।

(३) नदियों के घाटी बनाने के विचित्र दृश्य पहाड़ी भागों मे देखने को मिलते है। कई बार एक नदी की सहायक नदी इतनी शीघ्रता से घाटी बनाती है कि दूसरी नदी की सहायक नदी का पानी हड़प लेती है। यह अत्यन्त विचित्र करिश्मा है। इसका कारण यह है कि जिस सहायक नदी में पानी अधिक होता है, ढाल अधिक

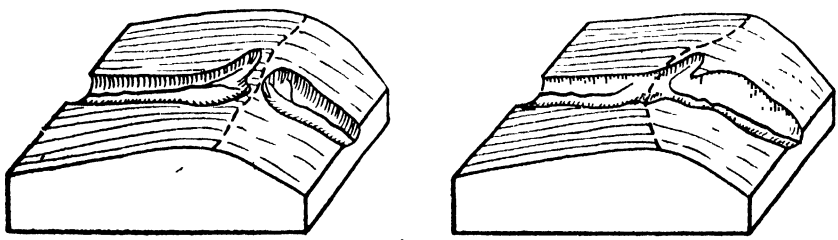

नदी का पानी हडपना

चित्र ४३.

प्रपाती होता है अथवा मुख्य नदी का तल अधिक नीचा होता है, तो सहायक नदी बड़ी शीघ्रता से अपने उद्गम की ओर घाटी निर्माण करती जाती है। काटते-काटते यह सहायक नदी किसी दूसरी नदी की सहायक नदी के पास तक पहुँच जाती है। चूँकि अधिक शीघ्रता से काटने वाली नदी की घाटी गहरी होती है, इसलिए दूसरी सहायक नदी का सारा पानी इसी सहायक नदी में बहने लगता है, और दूसरी की घाटी सूखी पड़ी रह जाती है। इस करिश्मे को नदी का जीवनयापन के लिए **पानी हड़प लेना** (River capture) कहते हैं।

(४) **कई बार** दो नदियाँ अपने उद्गम की ओर काटते-काटते अपने बांच

के पर्वत को काटकर समाप्त कर देती हैं और दोनों नदियाँ मिल जाती है।

(५) **यथापूर्व प्रवाह** (Antecedent Drainage)—कई बार प्रवाह की प्रणाली के स्थापित होने के बाद उस क्षेत्र में भूमि भाग ऊँचा उठने लगता है। परन्तु यदि भूमि के ऊँचे उठने की गति नदी की तलैटी गहरा करने की गति से भी अधिक धीमी होगी, तो उस प्रदेश की प्रवाह-प्रणाली पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ेगा और वहाँ की प्रवाह-प्रणाली यथापूर्व रहेगी और उस नदी की घाटी गहरी होती जायगी। कहा जाता है कि सिन्धु नदी का प्रवाह भी इसी प्रकार का है। नदी की घाटी बन जाने के बाद हिमालय पर्वत ऊँचे उठने लगे। परन्तु उनके ऊँचे उठने की गति इतनी धीमी थी कि सिन्धु नदी अपनी घाटी को गहरी करती रही और उसकी प्रवाह-प्रणाली यथापूर्व बनी रही। कुछ विद्वानों का मत है कि तिस्ता नदी और ब्रह्मपुत्र नदी भी इसी प्रकार अपनी पहिली घाटी में बहती रही हैं। इस प्रकार के प्रवाह को यथापूर्व प्रवाह (Antecedent Drainage) कहा जाता है।

(६) **पूर्व-आरोपित प्रवाह** (Super Imposed Drainage)—यथापूर्व प्रवाह की भाँति ही पूर्व-आरोपित प्रवाह में नदी का प्रवाह उसकी तलैटी की चट्टानों की संरचना के अनुसार नहीं होता। मान लीजिये कोई नदी अपने प्रवाह-प्रदेश में तली की चट्टानों की संरचना के अनुसार अपना स्थायी मार्ग बना चुकी है। धीरे-धीरे नदी ने अपनी घाटी का ऊपरी स्ट्रेटा घिसघिसाकर बहा डाला। इसके पश्चात् तली में दूसरे प्रकार की चट्टानें ऊपर होगयीं। इन चट्टानों की संरचना बिलकुल भिन्न है। यदि घाटी बनाने के प्रारम्भ में इस प्रकार की चट्टानें धरातल पर ऊपर ही बिछी होतीं, तो नदी इनसे हटकर ही बहती। परन्तु स्थायी घाटी बन जाने पर अब नदी इनको भी काटने लगती है। इस प्रकार का प्रवाह पूर्व-आरोपित प्रवाह कहा जाता है क्योंकि इन चट्टानों के ऊपर आने से पहले जो भी प्रवाह-प्रणाली बन गयी थी वही इन चट्टानों पर भी आरोपित हो गयी। पूर्व-आरोपित प्रवाह और यथापूर्व प्रवाह में यह अन्तर है कि एक तो यथापूर्व प्रवाह में नदी को एक ही प्रकार की संरचना वाली चट्टानों को काटना होता है जबकि पूर्व-आरोपित प्रवाह में चट्टानों की संरचना पहले की चट्टानों से भिन्न होती है। दूसरे, यथापूर्व प्रवाह में नदी को भूमि के ऊँचे उठते हुए भाग को काटना होता है जिससे घाटियाँ गहरी होती जाती हैं और नदी एक संकीर्ण गहरी घाटी में होकर बहती है। इसके विपरीत पूर्व-आरोपित प्रवाह में नदी स्वाभाविक रूप से अपनी घाटी बना रही होती है। चट्टानों की किस्म बदल जाने पर उनमें भँवर, प्रपात आदि बन सकते हैं और पाट भी तंग हो सकता है।

प्रवाह-प्रदेश की चट्टानों की बनावट के अनुसार नदियों के विचित्र रूप बन जाया करते है। जिन स्थलखण्डों की चट्टानों की बनावट एक ही प्रकार की है वहाँ

नदियों की कटान सर्वत्र एक-सी होगी और मार्ग में परिवर्तन नहीं होगा। इस प्रकार के स्थल भाग में मुख्य नदी और उसकी सहायक नदियों का प्रसार वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं के समान होगा (Dendric)।

जिन भागों में चट्टानों की बनावट एक-सी नहीं होती, वहाँ नदियाँ कमज़ोर भाग को काट देंगी और सख्त भाग ऊपर उठ जायगा। इन सख्त भागों के कारण दो नदियाँ और उनकी सहायक धारायें अलग-अलग बँट जायँगी। इन नदियों की घाटियाँ लगभग समानान्तर और सीधी होंगी (Trellic)।

१३५. नदियों का घाटी चक्र (River Valley Cycle)—क्षयकार्य की मात्रा के अनुसार कई विद्वानों ने नदियों की कई अवस्थायें मानी हैं। नदियों की अवस्था का चक्र प्रस्तुत करने वाला वैज्ञानिक डेविस नामक एक अमेरिकन था। नदियों की अवस्था साधारण वर्षों के अनुसार नहीं नापी जाती। अधिकांश नदियाँ मनुष्य की स्मृति के पूर्व ही जन्म ले चुकी थीं। अतः नदियों की कार्य-प्रणाली के आधार पर ही उनकी अवस्था निश्चित की जाती है। इसी आधार पर इनकी तीन अवस्थायें निश्चित की गयी हैं—(१) नवीन अवस्था, (२) परिपक्व अवस्था, और (३) जीर्ण अवस्था।

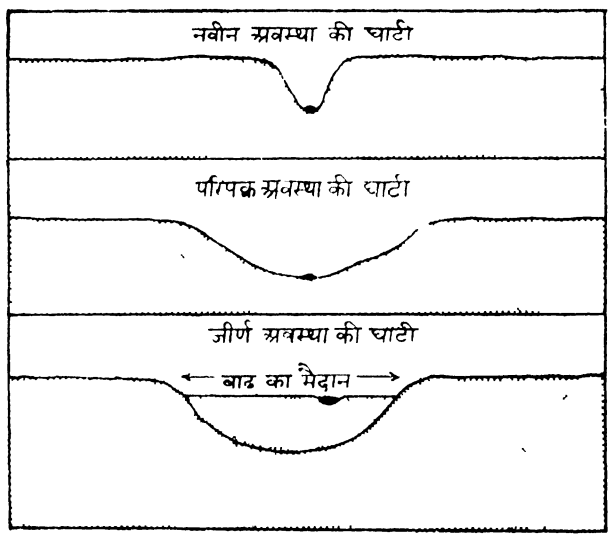

चित्र ४४. घाटी चक्र

१३६. नवीन अवस्था की नदियाँ और उनकी घाटियाँ—नवीन अवस्था की नदियो में चार मुख्य विशेषतायें होती हैं—गहरी घाटियाँ, जलप्रपातों का बाहुल्य, झीलें और अविकसित जल-विभाजक।

ज्योंही कोई भूभाग जल-मण्डल से निकलकर ऊपर आता है, त्योंही उस पर नवीन अवस्था की नदियों का आक्रमण होता है। नई भूमि का ढाल अधिक प्रपाती (Steep) होता है, फलतः नदी की प्रवाह गति तेज होती है और तलैटी गहरी कटती जाती है। धारा के बीच में पानी की मात्रा और गति अधिक रहती है। इसीलिए किनारों की अपेक्षा बीच में तलैटी अधिक गहरी कट जाती है। किनारों की चट्टानों को मौसमी क्षति और वर्षा का जल काटते रहते हैं, जिससे घाटी चौड़ी होने लगती है। इस प्रकार कटते रहने से घाटी की आकृति अंग्रेज़ी के अक्षर

V के समान होजाती है। जिन भागों में चट्टानें नरम होंगी, वहाँ पर V काफी चौड़ी और विस्तृत होगी, परन्तु जहाँ चट्टानें कठोर होंगी, वहाँ पर V गहरी और संकीर्ण होगी। मैदानी भागों में घाटी विस्तृत होती है, परन्तु पहाड़ी और पठारी भागो में कहीं-कहीं सैकड़ों फीट गहरी घाटी देखी गयी है। यदि किसी पठारी भाग म धरातल पर चट्टानें आड़ी (Horizontal) बिछी हुई हैं और वहाँ वर्षा कम होती है, तो उस स्थान पर बहने वाली नदी की घाटी बहुत गहरी होगी। ऐसी गहरी घाटियों को केनयान (Canyon) कहते है। उत्तरी अमेरिका की कोलोरेडो नदी की गहरी घाटियाँ (Canyons) जगत्प्रसिद्ध हैं। कोलोरेडो की ग्राण्ड केनयान घाटी २०० मील से भी अधिक लम्बी है। इसकी चौड़ाई ५ से १२ मील तक तथा गहराई लगभग ६,००० फीट है। भारत में कृष्णा नदी ने बम्बई राज्य में महाबलेश्वर के पास लगभग २,००० फीट गहरी केनयान घाटी बनाई है। अबीसीनिया देश में भी केनयान घाटियाँ पाई जाती हैं।

यदि नवीन नदी की तली में एक-सी चट्टानें बिछी हुई है तो घाटी एक-सी बनेगी। परन्तु प्रायः ऐसा नहीं होता है। कही पर चट्टानें कठोर हैं और कहीं पर

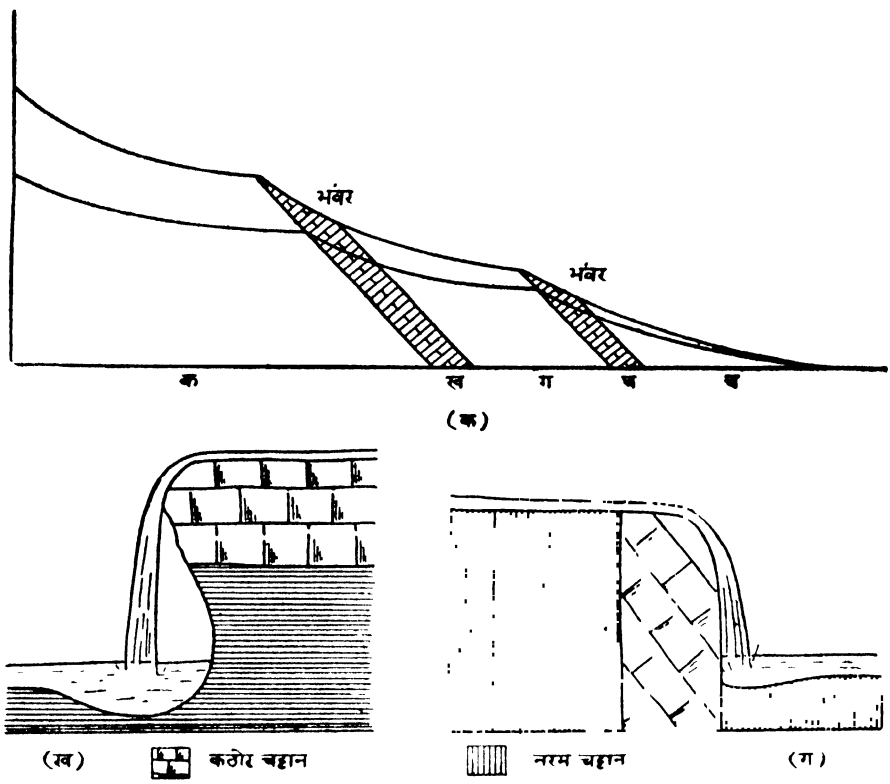

चित्र ४५. भँवर और जलप्रपात।

नरम। नरम भाग तो जल्दी कट जाते हैं, परन्तु कठोर के कटने में अधिक समय लगता

है। फलस्वरूप नदी के मार्ग में प्रपात (Waterfalls) बन जाते है। धरातल पर चट्टानें जिस क्रम से संयुक्त होजाती है, उसी के आधार पर भँवर (Rapid) या प्रपात का बनना या न बनना निर्भर होता है। उदाहरण के लिए चित्र ४५ 'क' मे कठोर और नरम चट्टानें एक दूसरी के बराबर बिछी हुई है। इस प्रकार की चट्टानों में भँवर बनेंगे। परन्तु यदि चित्र 'ख' में दिये हुए क्रम के अनुसार कठोर चट्टान धरातल के समानान्तर बिछी हुई कई चट्टानों के ऊपर स्थित है, तो बहाव के कारण नीचे की चट्टानें तो कट जायँगी और कठोर चट्टान आगे निकली रहेगी, जिससे जलप्रपात बन जायगा। बहुत समय बाद कठोर चट्टान का कुछ भाग टूटकर गिर जायगा और जलप्रपात पीछे को हटने लगेगा। न्यागरा का प्रपात इसी प्रकार प्रतिवर्ष तीन फीट पीछे अर्थात् उद्गम की ओर हटता रहा है और अपने मूलस्थान लैविस्टन से ७ मील पीछे हट चुका है। प्रपात के पीछे हटने से घाटी की गहराई बढ़ती जाती है।

चित्र ४५ 'ग' में चट्टानें एक दूसरे के अगल-बगल में धरातल पर लम्बाकार बिछी हुई हैं। ऐसी अवस्था में नरम चट्टानें कट जाती हैं, परन्तु कठोर चट्टानें काफी समय तक खड़ी रहती हैं। ऐसे प्रपात दीर्घकाल तक स्थायी-से बने रहते हैं।

पर्वतीय प्रदेशों में तथा स्थल के ऊँचे भागों में सबसे ऊँची वक्ररेखा को, जिसके दोनों तरफ दो अलग-अलग नदियों के प्रवाह-क्षेत्र हों, **जल - विभाजक** (Divide) कहते हैं। नवीन नदियों के अलग जल-विभाजक नहीं बन पाते हैं क्योंकि स्थल पर कटान बहुत ही कम हो पाती है।

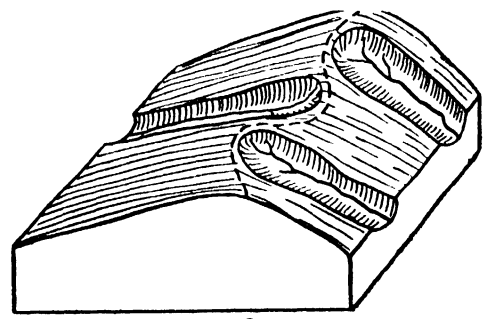

चित्र ४६.

१३७. मध्य अवस्था (Mature Stage) की नदियाँ और उनकी घाटियाँ— जब नदी अपनी तलैटी को काटते-काटते अपनी निश्चित सीमा तक गहरा कर देती है, तो वह अपने आधारतल तक पहुँची हुई समझी जाती है। आधारतल तक पहुँचने पर नदी की मध्य अवस्था (Mature Stage) प्रारम्भ होती है। इस अवस्था की मुख्य विशेषता यह है कि नदी के काटने के ढंग में परिवर्तन हो जाता है। नदी अब तलैटी को गहरा काटने के स्थान पर घाटी चौड़ी करने लगती है। आधारतल पर पहुँचने के कारण नदी का ढाल क्रमिक (Gradual) हो जाता है और ढाल के कम होजाने से धारा की प्रवाह गति मन्द होजाती है। प्रवाह-गति मन्द होजाने पर नदी की बोझा ढोने की शक्ति घट जाती है। धारा की प्रवाह-गति और बोझा ढोने की शक्ति में छठे घात (Sixth Power) का अनुपात है। इस नियम के अनुसार यदि

नदी की प्रवाह-गति दूनी हो जाय, तो उसकी बोझा ढोने की शक्ति (२)^{६} अर्थात् २×२×२×२×२×२=६४ गुनी हो जायगी। इसी प्रकार यदि गति में कमी आ जाय तो नदी अपने भार को तुरन्त पटक देगी। जिस स्थान पर नदी अपना बोझ जमा कर देती है वहाँ पर पानी की गति रुकती है और नदी के मार्ग में मोड़ पड़ने लगता है। धीरे-धीरे नदी का मार्ग हँसिये के समान वक्राकार बनता जाता है। नदी के मार्ग में घुमाव (Meanders) पड़ जाने से घाटी में बिचित्र दृश्य बन जाते हैं। घुमाव के कारण नदी अपने तट की एक ओर अधिक घिसाई करती है। इस प्रकार जब तट के एक ओर चट्टानों की जड़ तेजी से कट जाती है तो ऊपर का भाग ढह जाता है और तट पीछे की ओर हटने लगता है। मौसमी क्षति इस कार्य में काफी सहायता पहुँचाती है। इस प्रकार अब घाटी की चौड़ाई में वृद्धि होने लगती है। ज्यों-ज्यों किनारे की कटान में वृद्धि होने लगती है त्यों-त्यों नदी की सहायक नदियाँ भी बढ़ने लगती हैं। सहायक नदियाँ भी अपनी घाटी को विस्तृत करने लगती हैं जिससे दो धाराओं के बीच का विस्तृत ऊँचा भाग कम होता जाता है। कालान्तर में केवल कुछ कठोर चट्टानें ऊँची पहाड़ियों के रूप में खड़ी रह जाती है। इसी प्रकार दो नदियों के प्रवाह प्रदेशों के बीच में भी पहाड़ियाँ-सी खड़ी रह जाती है जो जल-विभाजक (Divide) का काम करती है। इस अवस्था में नदी की कटान से विशेष प्रकार के भू आकार बन जाते हैं। कहीं पहाड़ियाँ बन जाती है और कहीं विस्तृत मैदान।

१३८. जीर्णावस्था (Old Stage) की नदियाँ और उनकी घाटियाँ—इस अवस्था में नदियाँ और उनकी सहायक धारायें अपने अन्तिम तल तक पहुँच जाती है। पानी की गति और अधिक मन्द होजाती है जिससे उसमें बहा ले जाने की शक्ति बिलकुल कम हो जाती है। बोझा ढोने का कार्य केवल नदी की ऊपरी घाटी में होता रहता है। यह बोझा नदी अपनी मध्य घाटी में जमा करती रहती है। नदी का क्षय-कार्य भी क्षीण हो जाता है। इस समय धाराओं के बीच की ऊँची भूमि मुख्यतया मौसमी क्षति से कटती रहती है। कटान की अन्तिम अवस्था में समस्त प्रवाह प्रदेश कट-कटकर लगभग समतल मैदान बन जाता है जिसे नदी द्वारा निर्मित मैदान कहते हैं। इस मैदान में कहीं-कहीं ऊँचे टीले रह जाते है।

जब नदी घाटी को काट-काटकर अत्यन्त विस्तीर्ण और समतल मैदान बना चुकती है, तो वह इस मैदान में पतली गहरी धारा के रूप में धीरे-धीरे बहती है और ऐसी नदी को पुरानी नदी कहते हैं। जीर्णावस्था में मध्य अवस्था की नदी की भाँति इठलाते हुए इधर-उधर भटककर बहना समाप्त हो जाता है और पुरानी नदी अपने निश्चित मार्ग से ही बहती है। नई और पुरानी नदियों की अवस्था वर्षों के अनुसार नहीं नापी जा सकती। केवल उनकी कार्य-प्रणाली के आधार पर ही उनको नई या

पुरानी सज्ञा दी जाती है ।

१३९. **नदी में नवजीवन** (Rejuvenation)—जीर्णावस्था मे नदी अनन्त काल तक रह सकती है । परन्तु धरातल की किसी उथल-पुथल के कारण प्रदेश के तनिक भी ऊँचा या नीचा हो जाने से अथवा जलवायु सम्बन्धी परिवर्तनों के कारण उद्गम स्थल में अधिक वर्षा होने पर नदी में जल की अधिक मात्रा हो जाने से नदी की अवस्था में परिवर्तन हो जाता है और वह पुनः अपना कार्य प्रारम्भ कर देती है । इस अवस्था को नदी में नवजीवन का संचार कहते है ।

नदी का रचनात्मक कार्य—नदी अपने साथ जो तलछट (Sediment) बहाकर लाती है उसको अपनी घाटी में बिछा देती है । उससे अनेक प्रकार के आकार बन जाया करते है ।

१४०. **पर्वत-प्रान्ती मैदान**—पर्वतीय अंचल को छोड़कर ज्योंही नदी आगे कदम रखती है त्योंही उसका ढाल बदल जाता है । धीमे ढाल पर बहने से नदी की गति भी धीमी हो जाती है और उसे अपने साथ ढोकर लाये हुए शिलाचूर्ण को सँभालना कठिन हो जाता है । पहले बड़े आकार के शिलाखण्ड नदी की तली में बैठ जाते है । इनकी अधिक मात्रा होने पर नदी का बहाव रुक जाता है और नदी कई धाराओं में फैल जाती है । बहाव के रुकने वाले स्थान पर बारीक मिट्टी भी जमा होने लगती है और नदी की धारायें एक त्रिभुजाकार आकृति में फैलती हैं जिसका शीर्ष पर्वत-प्रान्ती भाग में होता है । धीरे-धीरे काँप (Alluvium) जमा होने लगती है जिससे पंखे के आकार का मैदान बन जाता है । इस प्रकार के मैदानों को भारत में भावर कहते हैं । कुछ लोग इन्हें शंकु डेल्टा (Cone Delta) या (Alluvial fan) भी कहते हैं ।

१४१. **बाढ़ के मैदान** (Flood Plains)—आगे चलकर नदी की गति बहुत धीमी हो जाती है । नदी की घाटी की चौड़ाई बढ़ जाती है । जब कभी नदी में बाढ़ आती है, तो नदी का पाट दूर-दूर तक फैल जाता है । मुख्य धार को छोड़कर अन्य स्थानों पर बहाव की गति धीमी होती है अतः नदी की तलछट सभी जगह जमती रहती है । प्रत्येक बाढ़ के अवसर पर नदी की घाटी ऊँची होती जाती है । इस प्रकार जो मैदान बन जाता है उसे बाढ़ निर्मित मैदान कहते है । इन मैदानों में नदी के दोनों ओर ऊँचे-ऊँचे चौरस चबूतरे से बन जाते है । इन ऊँचे चौरस चबूतरों का छोर बहुत ढालू होता है । इन्हें काँप के ऊँचे मैदान (Alluvial Terraces) कहा जाता है ।

चित्र ४७.

१४२. लेवीज़ (Levees)—हम जानते हैं कि नदी का बहाव तली के पास और दोनों पार्श्वों पर अपेक्षाकृत धीमा रहता है क्योंकि भूमि की रगड़ के कारण बहाव में रुकावट पैदा हो जाती है। जो नदियाँ बहुत सी मिट्टी बहा लाती है, उनकी मिट्टी तली और पार्श्वों पर जमने लगती है। जमाव नदी की निम्न घाटी में अधिक होता है। धीरे-धीरे नदी की तली ऊँची होती जाती है और अन्त में नदी की तली आसपास के भूभाग से ऊँची हो जाती है। नदी के पानी को रोकने के लिए केवल उसके ऊँचे उठे हुए कगार ही रह जाते हैं। इन ऊँचे उठे हुए कगारों को लेवीज़ या उन्नत कगार कहते हैं। ऐसे ऊँचे उठे हुए कगार मिसीसिपी, पो, ह्वाँगहो आदि नदियों की निम्न घाटियों में देखे जा सकते हैं। ये कगार नदी की लायी हुई मुलायम मिट्टी से बने होते हैं, अतः नदी में बाढ़ आने पर पानी के दबाव से टूट जाया करते हैं। इनके टूट जाने पर नदी का पानी सारे मैदान में फैल जाता है और धन-जन की अपार हानि होती है। चीन की ह्वाँगहो नदी में अनेकों बार बाढ़ें आयी है, अतः इस नदी को 'चीन का शोक' कहा जाता था। मिसीसिपी नदी की ऐसी बाढ़ों को रोकने के लिए लेवीज़ (उन्नत कगारों) को सीमेन्ट के बाँध बनाकर दृढ़ कर दिया गया। परन्तु फिर भी नदी कई बार इन मजबूत बाँधों को तोड़कर चारों ओर फैल गयी। अतः मिसीसिपी की सहायक नदियों पर बाँध बनाकर उनका पानी मिसीसिपी में जाने से रोका गया और तब कहीं जाकर इन बाढ़ों का ज़ोर कम हुआ है। इसी प्रकार भारत में हुगली नदी की बाढ़ को रोकने के लिए दामोदर घाटी योजना कार्यान्वित की जा रही है।

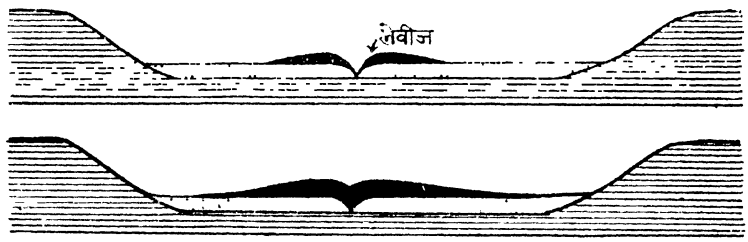

चित्र ४८.

१४३. डेल्टा—डेल्टाओं का विस्तृत वर्णन हम मैदानों में करेंगे। यहाँ पर हम केवल डेल्टा बनने के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालेंगे।

डेल्टा बनने के कई कारण हैं—

(क) नदी का उद्गम किसी ऊँचे पर्वतीय प्रदेश में हो, जिससे वह अपने क्षय-कार्य में शीघ्रता करे और अपने साथ काफी चूरचार बहाकर लाये। यदि नदी की बहुत सी ऐसी सहायक नदियाँ हैं जो पर्याप्त मात्रा में चूरचार बहाकर लाती है, तो डेल्टा बनने में बड़ी शीघ्रता होती है।

(ख) नदी के मुहाने पर ज्वार की कोई प्रभावशील लहरें न पहुँच पाती हों। ज्वार की प्रभावशील लहरें डेल्टा-निर्माण के कार्य में कठिनाई उपस्थित कर देती हैं।

(ग) नदी के मार्ग में बहुत बड़ी झीलें न आती हों। यदि नदी के मार्ग में झीलें होंगी, तो नदी की ढोकर लायी हुई चूरचार झील की तली में ही जमा होती रहेगी और डेल्टा निर्माण कठिन हो जायगा।

(घ) नदी की निम्न घाटी का विस्तार काफी बड़ा हो ताकि समुद्र तक पहुँचते-पहुँचते नदी का बहाव बिलकुल ही धीमा हो जाय और नदी की तलछट को उसके मुहाने के पास ही इकट्ठा होने का अवसर रहे। यदि निम्न घाटी में नदी का बहाव तेज होगा, तो नदी अपनी तलछट को ढोकर समुद्र में पटक देगी।

बारहवाँ अध्याय

समतल-स्थापक शक्तियाँ (३)

हिम

१४४. तुषार वर्षा (Snowfall)—पृथ्वी के धरातल पर परिवर्तन करने वाली शक्तियों में जल का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। जल के वायव्य, द्रव और स्थूल तीनों ही रूप महान् परिवर्तनकारी हैं। प्रथम दो रूपों के कार्य का विचार किया जा चुका है। अब उसके **स्थूल रूप पर विचार करेंगे।**

जलवायु के **अधिक ठण्डे होने पर जलवृष्टि के स्थान** पर हिमपात (Snow-fall) होने लगता है। **उष्णकटिबन्ध में तो एक विशेष ऊँचाई** से ऊपर ही तुषारवृष्टि होती है। शीतोष्ण **कटिबन्ध में मैदानों और घाटियों में भी तुषारवृष्टि होती है,** परन्तु वह गर्मी में पिघलकर बह जाती है। **लेकिन** शीत कटिबन्ध में जो तुषारपात होता है वह सब का सब पिघल नहीं पाता। अतः इकट्ठा होने लगता है। अस्तु, अधिक ऊँचाई वाले भागों में **और ऊँचे अक्षांशों में** इतनी तुषारवृष्टि होती है कि गर्मी में सब की सब पिघल नहीं पाती। जिन स्थानों पर इतनी अधिक हिमवृष्टि होती है कि गर्मी की ऋतु में पिघल जाने के बाद भी हिम प्रचुर परिमाण में शेष रह जाती है, वे स्थान सदैव ही हिमाच्छादित रहते हैं। इस प्रकार हिम से निरन्तर ढके रहने वाले प्रदेशों को **हिमक्षेत्र** कहते हैं।

१४५. हिमरेखा (Snowline)—जिन-जिन स्थानों से ऊपर की ओर निरन्तर हिमक्षेत्र बना रहता है यदि उन-उन स्थानों को किसी कल्पित रेखा से मिला दिया जाय, **तो उस रेखा को हिमरेखा कहेंगे।** दूसरे शब्दों में स्थल के किसी भाग

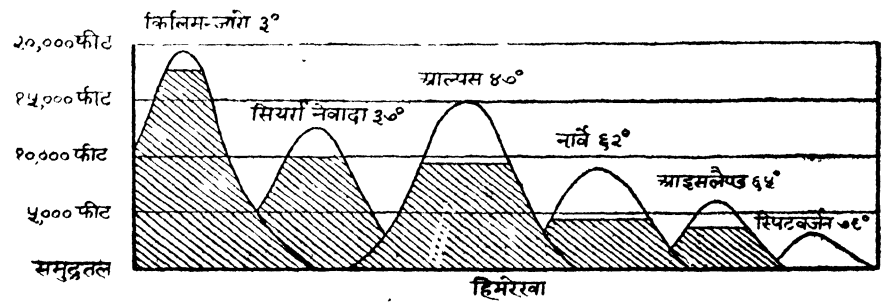

चित्र ४९.

की सब से कम ऊँचाई, जहाँ पर सदैव बर्फ जमी रहती हो, हिमरेखा कहलायेगी। हिमरेखा की ऊँचाई अक्षांश, तुषार-पात की मात्रा, हवाओं की दिशा और भूमि की

प्राकृतिक दशा पर निर्भर होती है।

(क) ज्यों-ज्यों हम भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर जायेंगे, त्यों-त्यों समुद्रतल से हिमरेखा की ऊँचाई कम होती जायगी। भूमध्यरेखा के ऊपर एण्डीज पर्वतों पर हिमरेखा की ऊँचाई १८,००० फीट है। कुछ उत्तर की ओर राकी पर्वतों पर ११,००० फीट है और ग्रीनलैण्ड में केवल २,००० फीट ही है।

(ख) यदि किसी स्थान पर इतनी कम हिम गिरती है सबकी सब पिघल सकती है, तो वहाँ हिमरेखा ऊँची रहेगी। परन्तु अधिक हिमपात होने पर हिमरेखा नीची होगी।

(ग) यदि कोई स्थान शुष्क हवाओं के मार्ग में पड़ता है, तो उस स्थान पर बर्फ जल्दी पिघलने लगेगी अतः हिमरेखा ऊँची होगी। परन्तु तर हवाओं के मार्ग में पड़ने वाले स्थानों पर नीची होगी।

(घ) यदि हिमपात प्रपाती (Steep) ढालों पर होगा, तो वहाँ से फिसलकर हिम घाटी में पहुँच जावेगी और हिमरेखा ऊँची होगी। धीर ढाल (Gentle slope) पर हिमरेखा नीची होगी।

१४६. तुषार (Snow) से हिम में परिवर्तन—तुषार-पात के समय रूई के गालों के समान हल्का और फूला तुषार धरती को ढँक लेता है। परन्तु कई बार तुषार गिरने से उसकी मोटाई अधिक हो जाती है, तो वह अपने ही भार से दबने लगता है। सूर्य की गर्मी से ऊपरी भाग का कुछ तुषार पिघलकर जल बन जाता है और तुषार के परतों में होकर नीचे की ओर बहता है, परन्तु बीच ही में ठण्ड से जम जाता है। जमते हुए जल की बूँदें तुषार को अधिक घना बना देती हैं। उधर तुषार का भार भी बढ़ता जाता है जिससे निचला परत घना होकर हिम का पिण्ड बन जाता है। धीरे-धीरे हिम के परत मोटे होते जाते हैं और हिम के परत हिमशिलाओं का रूप धारण कर लेते हैं, हिमशिलाओं में हिम के जमे हुए परत स्पष्ट दीख पड़ते हैं। किसी-किसी परत में धूल मिट्टी भी दिखाई देती है जिससे ज्ञात होता है कि दो तुषार-वृष्टियों के बीच में इतना अन्तर पड़ गया है कि धूल मिट्टी को हिम परतों पर जमने का समय मिल गया।

१४७. हिमानी (Glacier)—हिमक्षेत्र में तुषारवर्षा होते-होते हिमशिलाओं का भार इतना अधिक हो जाता है कि उनका स्थिर रहना असंभव हो जाता है। ऐसी दशा में तनिक भी अधिक भार बढ़ने पर हिमशिलाएँ गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से नीचे ढाल की ओर खिसकने लगती हैं। नीचे की ओर खिसकते हुए हिमपिण्ड को हिमानी या ग्लेशियर कहते हैं। हमें यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि हिमानी

हिमक्षेत्र का विस्तारमात्र है। जिस प्रकार जीभ को मुंह से बाहर निकाल देने पर भी उसका सम्बन्ध शरीर से बना रहता है, उसी प्रकार हिमानी को भी हिमक्षेत्र का आगे बढ़ा हुआ भाग ही समझना चाहिए। जीभ को कम या अधिक बाहर निकालने की शक्ति जिस प्रकार शरीर में ही निहित है, उसी प्रकार हिमानी की आगे बढ़ने की सीमा मुख्यत: हिमक्षेत्र में होने वाली तुषारवृष्टि पर निर्भर होती है। यदि मार्ग में नष्ट होने वाली हिम की मात्रा से अधिक हिम हिमक्षेत्र से आती रहती है, तो हिमानी काफी दूर तक बढ़ती चली जाती है।

हिमानी की उत्पत्ति विस्तृत हिमक्षेत्र में होती है, अत: वहाँ यह बहुत चौड़ी होती है और उसकी प्रवाह-गति भी धीमी होती है। परन्तु धीरे-धीरे उसको सँकरी घाटियों में होकर बहना पड़ता है, अत: ज्यों-ज्यों हिमानी आगे बढ़ती है त्यों-त्यों उसको भी संकीर्ण होना पड़ता है। इन घाटियों में इसकी चाल भी कुछ तेज़ हो जाती है। फिर भी इसकी प्रवाहगति इतनी धीमी होती है कि बहुत दिनों तक लोग इसको स्थिर समझने की भूल करते रहे। हिमानी दो प्रकार की होती हैं—(क) महाद्वीपीय हिमानी और (ख) पर्वतीय हिमानी।

१४८. महाद्वीपीय हिमानी (Continental Glacier)—ग्रीनलैण्ड और एण्टार्कटिका जैसे शीत प्रदेशों में जाड़ों में बहुत अधिक मात्रा में तुषारवृष्टि होती है और गर्मी में बहुत थोड़ी पिघल पाती है। अत: ऐसे प्रदेशों में प्रतिवर्ष बढ़ते-बढ़ते इतनी अधिक मात्रा में हिम इकट्ठी हो जाती है कि वहाँ के पर्वतों, घाटियों और मैदानों सभी को ढक लेती है। चारों ओर हिम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई देता। इस प्रकार से छाये हुए हिम के आवरण को हिमावरण (Ice-sheet) कहते हैं। ग्रीनलैण्ड का अधिकांश भाग इसी प्रकार के हिमावरण से आच्छादित है। यह हिमावरण सात लाख वर्गमील में फैला हुआ है। इस हिमावरण की मोटाई सर्वत्र एक-सी नहीं है, परन्तु केन्द्रीय भाग में यह एक मील से भी अधिक मोटा परत है। यह हिमावरण सब दिशाओं में फैलता है जिससे तटीय भाग पर घाटियों में चलने वाले ग्लेशियर बन जाते हैं। इनमें से कुछ समुद्र तक पहुँच जाते हैं और समुद्र की लहरों से टूटकर हिमखण्डों (Icebergs) के रूप में समुद्र में तैरते रहते हैं। लैब्रोडोर की ठण्डी धारा इनको न्यूफाउण्डलैण्ड तक बहा लाती है। बहुत से जहाज़ इन हिमखण्डों से टकराकर टूट चुके हैं। एण्टार्कटिक महाद्वीप में पचास लाख वर्गमील से भी अधिक भाग हिमावरण से आच्छादित है।

प्राचीन काल में किसी समय उत्तरी अमेरिका का उत्तरी भाग और उत्तर-पश्चिमी योरोप भी इसी प्रकार के हिमावरण से ढँका हुआ था। उत्तरी अमेरिका में हिमावरण का केन्द्र हडसन की खाड़ी के दोनों तरफ था। इन दो केन्द्रों से हिमानी चारों

ओर को प्रवाहित हुई। परन्तु दक्षिण की ओर इसका प्रभाव अधिक रहा। इन्हीं को रगड़ से उत्तरी अमेरिका की सुप्रसिद्ध झीलें निर्मित हुई। योरोपीय हिमावरण का केन्द्र बाल्टिक प्रदेश और स्काटलैण्ड में था। इस केन्द्र से हिमानी दक्षिण की ओर इंग्लैण्ड, हालैण्ड, जर्मनी, पोलैण्ड, और रूस की तरफ प्रवाहित हुआ। इन हिमानियों का प्रभाव इन देशों की नदियों की दिशा पर स्पष्ट मालूम पड़ता है। कुछ लोगों ने इन हिमावरणों की उत्पत्ति का कारण जलवायु में विषम परिवर्तन माना है। परन्तु वर्तमान समय की अपेक्षा तुषारवृष्टि अधिक होने लगे अथवा तापक्रम थोड़ा और ठण्डा हो जाय, तो यह बिलकुल संभव है कि एक वर्ष की हिम के पूर्णतया पिघलने से पहिले ही दूसरे वर्ष की तुषारवृष्टि प्रारम्भ हो जाय। यदि इस प्रकार की परिस्थिति वर्षों तक बनी रहे, तो कुछ वर्षों में पर्याप्त हिम का आवरण छा सकता है। तुषार-वृष्टि में कमी हो जाने से अथवा तापक्रम में वृद्धि हो जाने से इन भागों का हिमावरण नष्ट हो गया होगा। इस प्रकार से हिमावरण के आच्छादित होने और उसके नष्ट होने में सहस्रों वर्ष लगते होंगे।

१४९. पर्वतीय हिमानी (Mountain Glacier)—ऊँचे पर्वतों पर जो हिमक्षेत्र होते हैं उनसे निचले ढालों की तरफ हिमशिलाएँ आगे की ओर खिसकती हैं .जन्हें घाटियों में बहने वाली हिमानी कहते हैं। घाटी में बहने वाली हिमानी का आकार घाटी के अनुसार बदलता रहता है। जहाँ घाटी चौड़ी होती है, वहाँ हिमानी भी फैल जाती है और जहाँ घाटी सँकरी होती है, वहाँ हिमानी को भी सिकुड़ना पड़ता है। हिमानी की लम्बाई एक-दो मील से लेकर पचास मील के लगभग तक होती है। हिमालय पर्वत में दो या तीन मील लम्बी बहुत-सी हिमानियाँ हैं। परन्तु लम्बे हिमनद भी बहुत हैं। हिमालय का सिआचन ग्लेशियर ४५ मील लम्बा है जो शीतोष्ण कटिबन्ध के ग्लेशियरों में एक को छोड़कर सबसे अधिक लम्बा है। हिमालय के इन हिमनदों ने अनेकों नदियों और झीलों को जन्म दिया है। हिमानी की मोटाई भी दस-बीस फुट से लेकर हज़ारों फीट तक होती है। हिमानी के छोर पर मोटाई कम होती है। घाटियों में हिमक्षेत्र के खिसकने से जो हिमपिण्ड आता है उसके अतिरिक्त निम्न प्रकार से कुछ और हिम एकत्रित हो जाता है—(१) घाटी के ऊँचे ढालों पर जो तुषार गिरता है वह फिसलकर घाटियों में ही जमा हो जाता है; (२) स्वयं घाटियों में ही आकाश से तुषारवृष्टि होती है; (३) हवाएँ हिमक्षेत्र से तुषार-कणों को अपने साथ उड़ा लाती हैं और उन्हें घाटियों में गिरा देती है।

१५०. हिमानी की चाल—सर्वप्रथम ह्यजी नामक एक स्विस विद्वान् ने १८२७ ई० में यह ज्ञात किया कि हिमानी गतिशील होती है। इससे पूर्व उन्हें स्थिर ही समझा जाता था। प्रो० ह्यजी ने आल्प्स के आर नामक ग्लेशियर पर एक कुटी

बनाई। १४ वष बाद यहाँ कुटी ४,७०० फीट आगे पहुँच गई। इस प्रकार उसने प्रमाणित किया कि ग्लेशियर प्रति दिन एक फुट के हिसाब से आगे बढ़ी। लुई अगासीज नामक दूसरे स्विस विद्वान् ने यह ज्ञात किया कि हिमानी किनारों की अपेक्षा मध्य में और तली की अपेक्षा सतह पर अधिक तेज़ी से बहती है। उसने १८३५ ई० में ग्लेशियर के आर-पार एक किनारे से दूसरे किनारे तक कई खूंटे गाढे। कुछ समय बाद देखा गया कि बीच के खूंटे किनारे के खूंटों से कुछ आगे निकल गये तथा वे घाटी के ढाल की ओर झुक भी गये थे। उसने स्पष्ट किया कि किनारों पर रुकावट पड़ने से तथा तली पर भूमि से रगड़ते हुए चलने से इन स्थानों पर चाल कुछ मन्द हो जाती है।

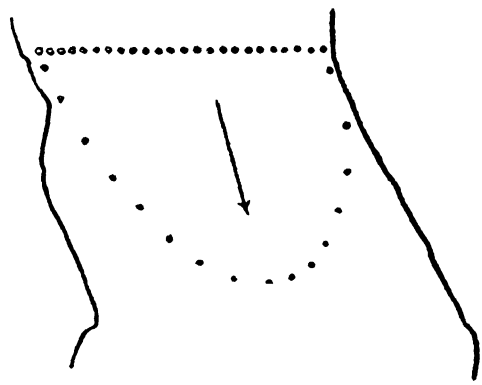

चित्र ५०.

विभिन्न हिमानियों की प्रवाह-गति में भी पर्याप्त अन्तर रहता है। गति का तीव्र या धीमा होना हिमानी के विस्तार, घाटी के ढाल तथा हिम के तापक्रम पर निर्भर है। छोटी हिमानी बहुत धीमी गति से चलती है परन्तु विशाल आकार के हिमनद एक दिन में कई फीट तक चलते हैं। आल्प्स पर्वत के ग्लेशियरों की मन्द गति का वर्णन कर चुके हैं। ग्रीनलैण्ड के विशाल ग्लेशियरों की प्रवाह-गति ६० फीट प्रति-दिन तक आँकी गई है। यदि ग्लेशियर का मार्ग अधिक ढालू होता है, तो उसकी प्रवाह-गति भी कुछ अधिक तीव्र हो जाती है। हिम के तापक्रम पर भी हिमानी की गति निर्भर होती है। यदि हिम का तापक्रम हिमांक (३२° फा) के समीप होता है, तो गति कुछ तेज़ होती है, परन्तु जब तापक्रम काफी नीचा होता है तो गति भी मन्द हो जाती है। इसी कारण जाड़ों की अपेक्षा गर्मी की ऋतु में हिमानी का चाल दुगुनी या तिगुनी तक हो जाया करती है।

१५१. हिमानियों में दरारें—घाटियों में बहने वाले ग्लेशियरों को टेढ़े-मेढ़े रास्तों और ऊँचे-नीचे ढालों पर होकर चलना पड़ता है। हिम के स्थूल रूप और कड़ेपन के कारण भारत जैसे गरम देश के निवासी यह अनुमान नहीं लगा सकते कि हिमानी परिस्थिति के अनुकूल अपने आपको मोड़ सकती है। यह अवश्य है कि हिम शीघ्रता के साथ नई परिस्थिति के अनुसार नहीं हो सकती। घुमावदार घाटी में बहते समय हिमानी को मुड़ना पड़ता है। मुड़ने के कारण उसके एक पार्श्व में भिचाव पड़ता है और दूसरे पार्श्व में खिचाव पड़ता है। फलतः हिमानी में कहीं-कहीं पर दरारें पड़ जाती हैं। ऐसे समय कहीं लम्बी और कहीं आड़ी दरारें पड़ती हैं। ढाल के

एकदम ऊँचा या नीचा हो जाने से चौड़ाई के आर-पार दरारें उत्पन्न हो जाती है। दबाव पड़ने पर ये दरारें अदृश्य हो जाती हैं। परन्तु ऊपरी सतह पर दरारों के

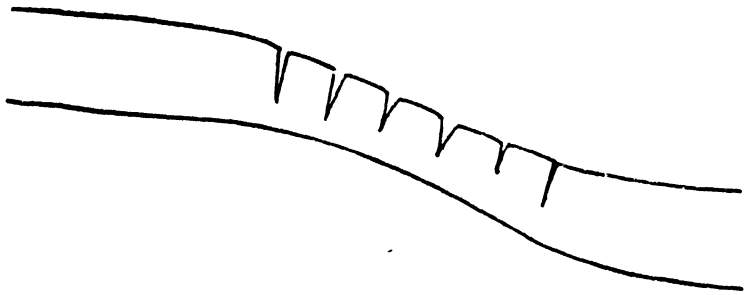

चित्र ५१. हिमानी में दरारें।

निशान बने रहते है। दरारों की धार को सूर्य की किरणें पिघला-पिघलाकर गोल और चौड़ी बना देती हैं।

१५२. हिमानियों का समाप्त होना—हिमानी अधिक दूर तक नहीं बह सकती। कभी-न-कभी उसको समाप्त होना ही पड़ता है। ध्रुव-प्रदेशों के हिमनद टूट-टूटकर हिमखण्ड (Iceberg) बन जाते है। ये हिमखण्ड कुछ दिनों तक बहते रहते हैं और अन्त में पिघलकर नष्ट हो जाते है। ऊँचे अक्षांशों के हिमनद पिघलकर नदियों और झीलों को जन्म देते हैं। कुछ हिम गरमी से सीधे वाष्परूप में बदल जाता है। यों तो भाप बनने की क्रिया सीधे हिमक्षेत्र से हिमानी के अन्तिम छोर तक होती रहती है, परन्तु कहा जाता है कि कुछ छोटे हिमनदों का अन्त भाप बनने के कारण ही हो जाता है।

१५३. हिमानियों का पीछे हटना—हिमानियों का अन्तिम छोर कुछ समय तक आगे बढ़ता है, परन्तु फिर कुछ समय को पीछे भी हट सकता है। ग्लेशियरों के आगे बढ़ने और पीछे हटने का कारण जलवायु का परिवर्तन बताया जाता है। यदि हिमक्षेत्र में तुषारपात अधिक हो जाता है और मार्ग में हिम कम नष्ट होता है, तो हिमानी का अन्तिम छोर आगे बढ़ जाता है। परन्तु यदि हिमक्षेत्र में तुषार कम गिरता है और हिम अधिक नष्ट होता है, तो हिमानी का छोर पीछे हटता है। १८५० ई० तक संसार के सभी हिमनद आगे बढ़ते रहे। परन्तु १९१८ ई० के पश्चात् सभी पीछे को हट रहे हैं। संयुक्तराज्य के रेनियर पर्वत का एक ग्लेशियर १९१८ ई० से पीछे हटने लगा और १९२९ ई० में यह ग्लेशियर पहिले स्थान से ७४८ फीट पीछे हट गया। इसी प्रकार स्विटज़रलैण्ड में आल्प्स पर्वत का एक ग्लेशियर १८५५ ई० के बाद पीछे हटने लगा। इसके पीछे हटने पर लोगों ने एक संगमरमर की खान देखी जो पहले इसके नीचे दबी पड़ी थी। कहते हैं इसी खान के संगमरमर से बर्न नगर के मकान बने थे। इसका अर्थ यह हुआ कि बर्न नगर बनने के पश्चात् ग्लेशियर

आगे बढ़ आया था और अब फिर पीछे हट गया।

१५४. हिमानियों द्वारा शिलाखण्डों का हटाया जाना—मौसमी क्षति के द्वारा पर्वतों के खण्ड टूटते रहते हैं। ये शिलाखण्ड हिमानियों में मिल जाते है। घाटियों मे बहने वाले ग्लेशियरों में नीचे से ऊपर तक शिलाखण्ड जमे रहते हैं। मार्ग में बिखरे हुए शिलाखण्ड ग्लेशियर की तली में घुस जाते हैं अथवा हिम की शीतलता से हिम-मण्डित होकर ग्लेशियर का अंश बन जाते है। घाटी की दोनों पार्श्वों से चट्टानों की चूर और बड़े-बड़े टुकड़े ग्लेशियर के ऊपर गिरते रहते हैं और उस पर तुषार भी गिरता जाता है। इस प्रकार कुछ शिलाचूर्ण हिमपिण्ड के परतों में जम जाता है। हवायें भी कुछ शिलाचूर्ण को ग्लेशियर के ऊपर डाल देती हैं। इस प्रकार शिलाचूर्ण ग्लेशियर की तली में, परतों के बीच में और ऊपरी सतह पर लदा हुआ चलता है। हिमानियों द्वारा बहाए हुए शिलाचूर्ण में बारीक चूर से लेकर बड़े विशाल शिलाखण्ड तक रहते है।

ग्लेशियरों द्वारा शिलाखण्डों को हटाने की क्रिया नदियों की क्रिया से भिन्न होती है। बड़े-बड़े शिलाखण्ड नदियों में अधिक दूर नहीं बह सकते। परन्तु हिमानियों के ठोस होने के कारण बड़े-से-बड़े शिलाखण्ड ऐसे स्थान पर पाये जाते है जहाँ दूर-दूर तक कोई ऐसा पर्वत दिखाई नहीं पड़ता जिसमें इस प्रकार की चट्टानें हों।

१५५. हिमानियों का क्षयात्मक कार्य—बहुत दिनों तक लोग ग्लेशियर के क्षयकार्य की महत्ता नहीं समझ पाये। इसके बहुत से कारण थे—(१) ग्लेशियरों का क्षयकार्य मुख्यतः ऊँचे पर्वतीय भागों में सम्पन्न होता है। (२) इनका क्षयकार्य हिमशिलाओं के नीचे छिपा रहने के कारण साधारण तौर से दृष्टिगोचर नहीं होता। १८३७ ई० में आगासीज ने देखा कि आल्प्स पर्वतों की निचली घाटियों में पड़े हुए शिलाखण्डो के निशान हिमानियों द्वारा ऊपरी घाटियों में जमा किये हुए शिलाखण्डों के निशानों से बिलकुल मिलते-जुलते है। इस अनुसन्धान के आधार पर उसने यह अनुमान लगाया कि इन निचली घाटियों में भी किसी समय हिमनदियों का विस्तार था और उन्होंने ही इन शिलाखण्डों को निचली घाटियों में डाल दिया होगा। अगासीज के इस निष्कर्ष ने हिमानियों के क्षयात्मक कार्य का अध्ययन करने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। हिमानियों द्वारा क्षयात्मक कार्य का अध्ययन करते समय हमें दो बातों का ध्यान रखना चाहिए। प्रथमतः इनका कार्य बहुत ही सीमित क्षेत्र में होता है और दूसरे, किसी युग में इनका कार्य अधिक होता है और कभी नहीं भी होता।

अकेली हिमशिलाएँ चट्टानों को नहीं घिस सकतीं, परन्तु हिमानियों की तली और पार्श्व मे जमे हुए शिलाखण्डों की सहायता से चट्टानें बड़ी जल्दी घिस जाती हैं।

चट्टानों की घिसाई होने के लिए यह आवश्यक है कि हिमानी की तली चट्टानों से रगड़ती रहे। परन्तु इस सम्बन्ध में ग्लेशियर की परिस्थितियाँ जलधारा से सर्वथा भिन्न होती हैं। एक तो जल की तुलना मे हिम की गति बहुत ही नगण्य होती है। दूसरे, ग्लेशियर की तली धरातल से पूरी तरह रगड़ नहीं खाती। घाटी के ढाल के अनुसार ग्लेशियर की गति, मोटाई और धरातल से रगड़ खाने में अन्तर पड़ता रहता है। ज्योंही भूमि अधिक ढालू होने लगती है, ग्लेशियर की प्रवाह-गति तीव्र हो जाती है, उसकी मोटाई कम हो जाती है और घाटी की तली से उसकी तली पूरी तरह रगड़ नही खाती। अधिक ढालू स्थानों पर ग्लेशियर में दरारें उत्पन्न हो जाती हैं जिनके कारण दबाव घट जाता है और तली से पूर्ण सम्बन्ध नहीं हो पाता। ग्लेशियर के क्षयात्मक कार्य के सम्बन्ध में डी मार्टोनी ने एक नियम निर्धारित किया था कि ढाल के परिवर्तन होते ही तली का सबसे अधिक घिसाव ग्लेशियर की दरारों से ऊपर या नीचे के स्थानों पर होगा।

जो शिलाखण्ड हिमानी की तली मे दब जाते है या उसके दोनो किनारो में फँस जाते हैं, मार्ग की चट्टानों से उनकी निरन्तर रगड़ होती रहती है। इस रगड़ से वे पतले और चिकने होते रहते हैं। जब कभी हिम की पकड़ कुछ ढीली हो जाती है तो ये शिलाखण्ड उलट जाते हैं और दूसरी ओर से घिसने लगते हैं। इस तरह सभी ओर से इनकी घिसाई हो जाती है। कभी-कभी घिसाव से इनके कोने भी घिस जाते हैं और इनका आकार गोल हो जाता है। फल यह होता है कि इन शिलाखण्डों के अनेक विचित्र रूप और आकार बन जाते है। खरोचों और घिसाव के निशान इतने गहरे होते हैं कि प्राकृतिक शक्तियाँ भी उनको अनेकों वर्षों तक नहीं मिटा पाती।

अपने साथ लाये हुए शिलाखण्डों के अतिरिक्त ग्लेशियर अपनी घाटी की तली और किनारों को भी घिसता चलता है। उसके इस कार्य में हिम से पिघला हुआ जल बहुत सहायता पहुँचाता है। जिस प्रकार रेती की रगड़ से खरोंचें बन जाती है, उसी प्रकार की अनेको धार वाली खरोंच ग्लेशियर की रगड़ से धरातल की चट्टानों पर बन जाती हैं। इन खरोंचों के कारण ग्लेशियर द्वारा कटी हुई चट्टानों को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। कई बार हिम के पिघलने से बना हुआ जल चट्टानों के जोड़ों और छिद्रों में भर जाता है और उनको तोड़-तोड़कर खोखला करता रहता है। इस प्रकार की खुदाई (Quarrying) घाटी के पार्श्व की चट्टानों में भी होती रहती है। तुषारवृष्टि इस कार्य में पर्याप्त सहायता पहुँचाती है। हिम के कटान से अनेक प्रकार के विचित्र और मनोरम दृश्य बन जाया करते हैं जिनमें से प्रमुख नीचे दिये जा रहे हैं।

१५६. हिमागार या सिरक (Cirques)—कभी-कभी हिम की कटान से घाटी

के किसी पार्श्व में चट्टानें कट-कटकर खोखली हो जाती हैं, जिससे इस पार्श्व पर एक गड्ढा बन जाता है। दूर से देखने पर यह गर्त अर्द्ध गोल मंच के समान (Amphi-theatre-like) दिखाई पड़ता है। इस गर्त से ग्लेशियर उसी प्रकार निकल पड़ता है जिस प्रकार किसी झील से एक नदी निकल जाती है। इसी गर्त को हिमागार कहते हैं। इस हिमागार की उत्पत्ति के विषय में जानसन और मालथेज नामक दो विद्वानों का कथन है कि पर्वतों के ढालों पर जो हिम गिरता है उसका कुछ भाग पिघलकर चट्टानों की सँधों और दरारों में भर जाता है। रात्रि की ठण्ड से यह जल फिर हिम बनता है, तो इसके आयतन में वृद्धि हो जाती है जिससे चट्टान टूटने लगती है। जब चट्टान काफी खोखली हो जाती है, तो उसमें हिम स्थायी रूप से एकत्र हो जाती है और चट्टान के टूटने की क्रिया बड़े पैमाने पर होने लगती है। धीरे-धीरे छोटा-सा छिद्र एक विशाल गर्त के रूप में परिवर्तित हो जाता है जिसमें हिमशिलाएँ एकत्रित होती रहती हैं और उसमें से हिमानी बह निकलती है। हिमालय पर्वत पर अधिक ऊँचाई पर ऐसे बहुत से हिमागार हैं जिनमें से निकली हुई हिमानी ऐसी मालूम देती है मानों किसी ने उनको वहाँ पर लटका दिया हो।

कभी-कभी किसी पर्वत पर बराबर ऊँचाई पर दो हिमागार एक दूसरे से ठीक विपरीत दिशा में बनने लगते हैं। कालान्तर में दोनों के बीच की दीवार टूट जाने से एक विशाल खड्ड पर्वत के आर-पार बन जाता है जिसे हिमखड्ड या कोल (Col) कहते है। इसी प्रकार समान ऊँचाई पर बहुत से हिमागार पर्वत के चारों ओर बनने लगते है और कालान्तर में सब मिल जाते हैं तो उससे तीन या चार पार्श्व वाले पिरामिड की तरह एक गिरिशृंग (Horn) बन जाया करता है। आल्प्स पर्वतमाला का मैटरहार्न इसका एक सुन्दर नमूना है।

१५७. अंग्रेजी के U अक्षर के समान घाटियाँ—नदियों की तरह हिमानी नई घाटी नहीं बना सकती, परन्तु पुरानी घाटियों को काट या घिसकर उसका रूप बदल देती है। हिमानी जब किसी नदी की टेढ़ी-मेढ़ी और सँकरी घाटी में होकर बहती है, तो अपने कठोर और स्थूल रूप के कारण किनारे की चट्टानों से टकराती है। फलतः किनारों पर होने वाला घिसाव तल की अपेक्षा अधिक होता है। नित्यप्रति की घिसान और खुरचन से किनारे की आगे को निकली हुई नोंकदार चट्टानें घिस-घिसकर चिकनी और सीधी हो जाती हैं। जितने अधिक काल

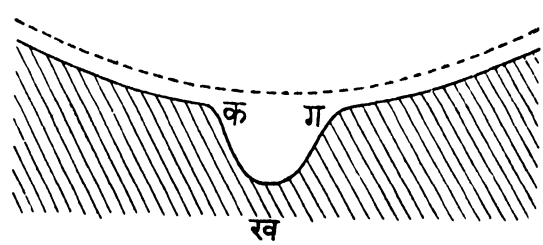

चित्र ५२. हिमानी की घाटी।

रहती है। इस प्रकार पहले की V के आकार की घाटी घिस-घिसाकर U के आकार जैसा रूप धारण कर लेती है।

१५८. लटकती हुई घाटियाँ (Hanging Valleys)—घाटियों में बहने वाला ग्लेशियर नदियों की पुरानी घाटियों को काफी गहरी और चौड़ी बना देता है। इस कटान के कारण मुख्य घाटी तो काफी गहरी हो जाती है, परन्तु उसकी सहायक नदियों की घाटियों का रूप बड़ा विचित्र हो जाता है। मुख्य घाटी के चौड़े होने से सहायक घाटी का मुहाना या प्रवेश-द्वार घिसते-घिसते पीछे हटता जाता है। परन्तु उसमें बहने वाली सहायक नदी इतनी शीघ्रता से अपनी तली को नहीं घिस पाती। फलस्वरूप कुछ काल के बाद सहायक नदी की घाटी के मुहाने का ढाल घिसकर नष्ट हो जाता है। साथ-ही-साथ मुख्य घाटी की गहराई भी अधिक बढ़ती है जिससे सहायक घाटी कुछ ऊँची हो जाती है।

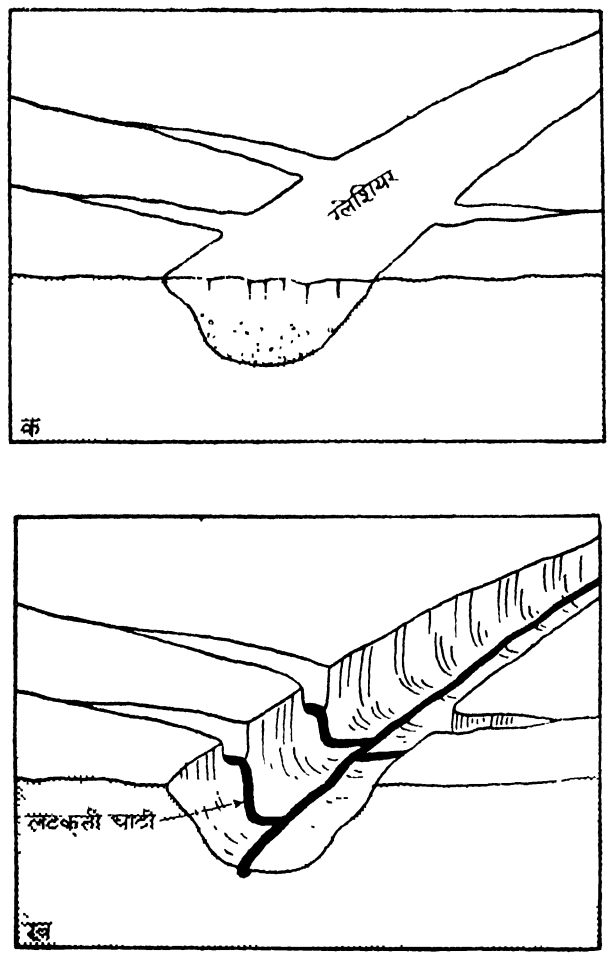

चित्र ५३. लटकती घाटी।

बाद में जब हिम पिघलकर ग्लेशियर समाप्त हो जाती है, तो सहायक नदी का जल झरन के रूप में मुख्य नदी में गिरता है। इस प्रकार की झरने वाली घाटी को लटकती हुई घाटी कहते हैं। इस सहायक घाटी का तल मुख्य घाटी के तल से ऊँचा टँगा हुआ-सा प्रतीत होता है। नार्वे, चिली, अलास्का आदि देशों के फियोर्ड संभवतः इसी प्रकार की घाटियों के प्रवेश द्वार हैं।

१५९. मेषशिलाएँ (Sheep Rocks)—ग्लेशियर मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं से अलग हटकर टेढ़ा-मेढ़ा बहने का प्रयत्न नहीं करता, किन्तु मार्ग की समतल अथवा ऊबड़-खाबड़ सभी प्रकार की चट्टानों को घिस डालता है। हिमानियों द्वारा आल्प्स पर्वत की डोलोमाइट चट्टानों को घिस डालने के फलस्वरूप

उन घाटियों में अण्डे के आकार की छोटी-छोटी पहाड़ियाँ बन गई हैं। ये छोटे-छोटे टीले दूर से देखने पर भेड़-जैसी आकृति के दिखाई पड़ते है, अतः इनको मेषशिलाएँ (Sheep Rocks) कहते है। फ्रेंच भाषा में इन टीलो को Roches Mountonnees कहते हैं। मेषशिलाओं की उत्पत्ति के विषय में ओटो पलकीजर नामक विद्वान् का मत है कि ऊबड़-खाबड़ चट्टानों के मिलने पर हिमनद उनके ऊपर

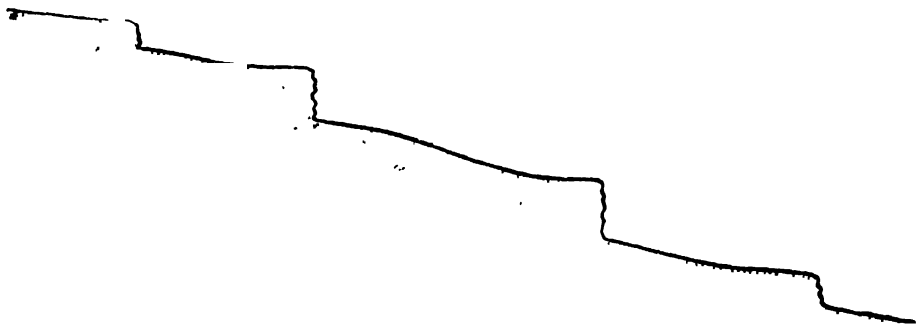

चित्र ५४.

चढ़ने लगता है। चढ़ाव के समय उसकी तली का चट्टानो से पूर्ण सम्पर्क स्थापित हो जाता है। फलतः घिसाव पूरे ज़ोर से होता है और चढ़ाई वाला भाग नीचे से ऊपर तक घिसकर चिकना बन जाता है। साथ ही हिमनद की तली में फँसे हुए नुकीले शिलाखण्डों की रगड़ से उसमें बहुत सी खरोंचे भी बन जाती है। उतार के समय परिस्थिति बदल जाती है। उतार के समय हिमनद की तली का धरातल से पूर्ण सम्पर्क नहीं रह पाता। फलतः धरातल पर ग्लेशियर की रगड़ थोड़ी-थोड़ी दूर के पश्चात् ही लग सकती है। ऐसी दशा में चट्टान की कटान एक समान नही होगी और चट्टानों के बिना कटे भाग सीढ़ियों की पंक्ति के रूप में दिखाई देंगे। इस प्रकार कटे हुए टीलों का एक ढाल तो समतल और चिकना होगा, परन्तु दूसरी ओर संकीर्ण सीढ़ियों की पंक्ति-सी बन जायगी। ये टीले अथवा मेषशिलाएँ हिम की बहती हुई धारा में ऊँची उठी हुई लहरों के सदृश दिखाई देती है।

१६०. हिमानियों का निक्षेपात्मक कार्य—हिमानी अपने साथ विभिन्न आकार के शिलाखण्ड बहा लाती है। इन शिलाखण्डों में सूक्ष्म रेत से लेकर ४० या ५० फीट व्यास के भारी शिलाखण्ड तक होते है। नदियों की तरह हिमानी इनकी छँटनी नहीं करती, बल्कि सभी आकार के टुकड़े साथ-साथ मिले रहते है। हिमानी इन शिलाखण्डों की राशि को अपने पार्श्व भाग में अथवा अन्तिम छोर पर जमा कर देती है। जमा किये हुए शिलाखण्ड एक टीले के रूप में दिखाई देते है जिन्हे 'मोरेन' (Moraine) कहते हैं। बनने के स्थान के अनुसार मोरेन तीन प्रकार के होते हैं—

पार्श्ववर्ती मोरेन, मध्यवर्ती मोरेन और अन्तिम मोरेन।

१६१. **मोरेन** (Moraine)—हिमरेखा (Snowline) से नीचे उतरते ही हिमानी का हिम पिघलने लगता है। ज्यों-ज्यों हिमानी घाटी से नीचे उतरती है, वैसे ही वैसे हिम अधिकाधिक मात्रा में पिघलकर जल रूप में बदलता जाता है। सबसे पहले धूप या गर्मी के प्रभाव से ऊपरी तल का हिम पिघलता है। जैसे-जैसे इस जल की मात्रा बढ़ती है, यह जल छोटी-छोटी नालियों के रूप में बहता रहता है। यह नालियाँ जल की कटान से हिमानी के ऊपरी तल पर बन जाती हैं। ऊपरी तल पर लदे हुए शिलाखण्डों के बोझ का कुछ भाग हिमानी के दोनों पार्श्वों पर भी गिरता जाता है। तली का हिम भी धरातल की गर्मी का स्पर्श पाकर पिघल जाता है। फलतः पार्श्व के कंकड़, पत्थर और रोड़े वहीं छूट जाते हैं। इस प्रकार हिमानी के दोनों पार्श्वों में सैकड़ों फीट ऊँची शिलाखण्डों की राशि जमा हो जाती है जिसे **पार्श्ववर्ती मोरेन** (Lateral Moraine) कहते हैं। पार्श्ववर्ती टीले अकेली श्रेणी के रूप में होते हैं और इनके शिलाखण्डों की राशि बिखरी हुई रहती है। जब दो हिमानियाँ एक स्थान पर मिल जाती हैं, तो उनके संगम पर दोनों के पार्श्ववर्ती टीले मिल जाते हैं। उनके मिलने से बने हुए टीले को **मध्यवर्ती मोरेन** (Medial Moraine) कहते हैं। धरती की गर्मी से तली का हिम भी अधिकाधिक मात्रा में पिघलने लगता है। यह जल हिमानी के भीतर-ही-भीतर सुरंगों की तरह मार्ग बनाता हुआ बहता है और हिमानी के अन्तिम छोर पर उससे बाहर निकल जाता है। अन्तिम छोर पर बहुत कम हिम रह जाता है और हिमानी का लाया हुआ बोझ यहीं पर जमा हो जाता है। शिलाखण्डों की राशि जमा होने से जो पहाड़ी-सी बन जाती है उसे **अन्तिम मोरेन** (Terminal Moraine) कहते हैं। यदि बहुत लम्बे समय तक हिमानी एक ही स्थान पर पिघलती रहती है, तो शिलाखण्डों की बहुत बड़ी राशि इकट्ठी हो जाती है। जब कभी हिमानी पीछे हटती है, तभी वह पहले अन्तिम टीले से कुछ पीछे हटकर दूसरा अन्तिम टीला बना देती है। यदि हिमानी एक ही दिशा में पीछे नहीं हटती, तो अलग-अलग दूरी पर अनियमित टीले बन जाया करते हैं। प्रत्येक टीले का मध्य भाग आगे की ओर निकला हुआ रहता है।

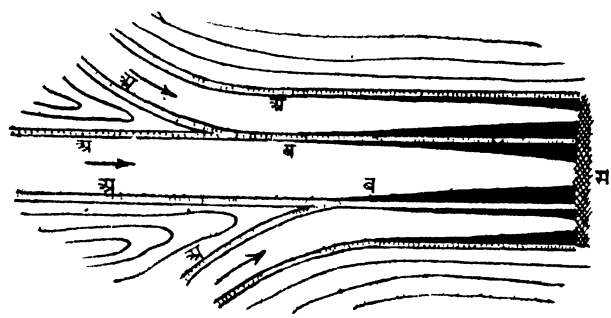

चित्र ५५.

अ-अ—पार्श्ववर्ती मोरेन। ब-ब—मध्यवर्ती मोरेन। स—अन्तिम मोरेन।

उत्तरी जर्मनी में इन अन्तिम टीलों की पंक्तियाँ ऐसी सुन्दर लगती हैं मानों धरती का कण्ठहार हों। कभी-कभी इन टीलों के पीछे हिमानी का पिघला हुआ पानी एकत्र हो जाने से सुन्दर झील बन जाती है। यदि किसी समय झील के पानी से कट-कटकर टीला फूट जाता है, तो निचले भाग में बाढ़ आजाया करती है। कभी-कभी हिमानी भी आगे बढ़ने लगती है और इन टीलों को आगे की ओर ठेल देती है।

तेरहवाँ अध्याय

समतल-स्थापक शक्तियाँ (४)

समुद्री लहरें और वायु

१६२. लहरें—हवा तथा अन्य प्रभावों के कारण समुद्र का पानी गतिशील हो जाता है जिससे उसमें लहरे उत्पन्न हो जाती हैं। यह तरंगें तट के स्थलीय भाग के आकार में निरन्तर परिवर्तन किया करती हैं। तरंगों द्वारा समुद्र के आक्रमण का उद्देश्य स्थलमण्डल का विध्वंस करके समतल-स्थापन होता है। समतल-स्थापन के अन्य साधकों के समान सागर की तरंगें भी स्थल को काटती हैं, कटे हुए भूपदार्थ को बहा ले जाती हैं तथा उसे अन्यत्र जमा कर देती हैं।

१६३. लहरों का कार्यक्षेत्र—समुद्री लहरों का क्षयात्मक कार्य समुद्रतट की भूमि तक ही सीमित रहता है। समुद्रतल से ऊपर ज्वार के सर्वोच्च स्थान के आसपास तक लहरों का आक्रमण हो सकता है। समुद्रतल से नीचे की ओर जल की गहराई बढ़ने के साथ-ही-साथ लहरों की क्रियाशीलता भी नष्ट होती जाती है, अतः इनका प्रभाव कम गहरे भागों तक ही सीमित रहता है। अनुमान है कि ६०० फीट से अधिक गहराई पर इनका प्रभाव नहीं होता। इन कम गहरे भागों में भी लहरों का प्रभाव कुछ फीटों की गहराई तक ही अधिक होता है। परन्तु चूँकि संसार के समुद्रतट की लम्बाई हज़ारों मील है, इसलिए लहरों का परिमित कार्य भी काफी महत्त्वपूर्ण हो जाता है।

१६४. लहरों का क्षयात्मक कार्य—समुद्र की लहरों के आक्रमण से तट भाग कटकर नष्ट होता रहता है और तटरेखा स्थल की ओर हटती जाती है। तटरेखा का पीछे हटना लहरो की शक्ति तथा अन्य परिस्थितियो पर निर्भर होता है। इन परिस्थितियो में लहरों के साथ बहाये हुए कंकड़-पत्थरों की मात्रा, चट्टानों की बनावट एवं उनके स्तरों के क्रम (Arrangement) आदि महत्त्वपूर्ण है।

समुद्र द्वारा स्थल को क्षय करने की गति मुख्यतया लहरों की शक्ति के अनुसार होती है। वायु द्वारा उत्पन्न लहरे हमेशा तट से टकराया करती है। इनकी शक्ति विभिन्न परिस्थितियो के कारण सब स्थानों पर एक समान नहीं होती। ऋतुओं के अनुसार हवाओं की गति और दिशा में अन्तर होने पर इनकी शक्ति में भी अन्तर पड़ जाता है। स्काटिश लाइटहाउस बोर्ड ने अटलाण्टिक महासागर की लहरों के दबाव का अध्ययन किया। बोर्ड ने पाया कि गर्मी की ऋतु में लहरों की शक्ति ६११ पौण्ड प्रति वर्गफुट रहती है, परन्तु वायु-विक्षोभ वाली जाड़े की ऋतु में यह

शक्ति २०८६ पौण्ड प्रति वर्गफुट हो जाती है। सबसे अधिक शक्ति की नाप ६०८३ पौण्ड प्रति वर्गफुट पाई गई थी। इतनी शक्ति वाली लहरो की चोट से तटवर्ती स्थल खण्ड-खण्ड हो जाता है। स्काटलैण्ड के उत्तर-पूर्वी कोने पर स्थित विक (Wick) बन्दरगाह को लहरो की चोट से बचाने के लिए कंकरीट का लगभग ३८,००० मन भारी एक विशाल स्तूप बनाया गया था। १८७३ ई० के दिसम्बर मास में यह विशाल स्तूप समुद्र की लहरों के थपेडे खाकर उखड़कर गिर गया। उसके स्थान पर उससे लगभग दुगुना भारी दूसरा स्तूप बनाया गया। परन्तु १८७७ ई० मे वह भी उखड़कर गिर पड़ा। इस एक उदाहरण से लहरों की शक्ति का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

लहरों की प्रचण्ड शक्ति से चट्टानें टूट-टूटकर लहरों के साथ बह जाती है। काफी बड़े शिलाखण्ड भी समुद्र की विकराल तरंगों द्वारा गेंद की तरह उछल जाते है और फिर तटभमि से टकराते हैं। नदियों द्वारा बहाकर लाये हुए शिलाचूर्ण भी लहरों के साथ बहकर किनारे मे रगड़ खाते हैं। इस प्रकार लहरों के साथ बहकर आये हुए शिलाखण्ड स्थल पर चोट करके उसे तोड़ते रहते है और स्वयं भी टकराकर घिसते रहते है। जब लहरें तट से टकराती हैं, उसी समय निचले भाग से पानी समुद्र की ओर लौटता रहता है तथा अपने साथ लाये हुए शिलाखण्डों से तट के निचले भागों को खुरचता जाता है। यह टूटे हुए टुकड़े फिर लहरों के साथ उछलकर किनारों से टकराते है। यह क्रम चलता रहता है और स्थल पीछे की ओर हटता जाता है।

तट प्रदेश के नष्ट होने की गति चट्टानों की बनावट पर भी बहुत निर्भर रहती है। यदि तट के पास चट्टानों की बनावट एक-सी है, तो लहरों की कटान भी समान रूप से बढ़ेगी। परन्तु यदि तट पर नरम और कठोर दो प्रकार की चट्टानें है, तो

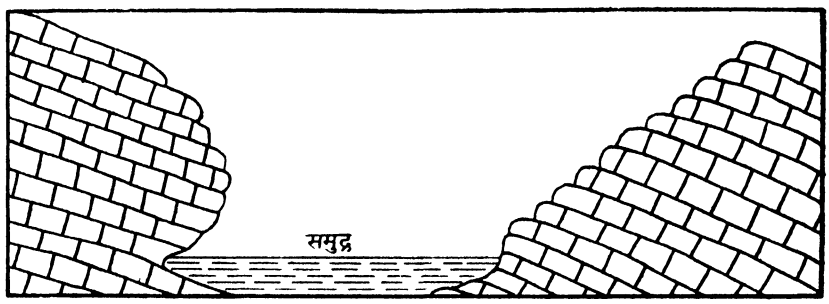

लहरों का क्षयात्मक कार्य

चित्र ५६.

नरम चट्टानें शीघ्र कट जावेंगी और कठोर चट्टान समुद्र की ओर निकली रहेंगी जिससे तट पर खाड़ियाँ बन जायेंगो। ज्यों-ज्यों खाड़ियों का विस्तार भीतर की ओर होता

जायगा, त्यों-त्यों नरम चट्टानों पर लहरों का प्रभाव घटता जायगा और फिर कठोर चट्टानों पर लहरों का आक्रमण होने लगेगा। कालान्तर में कठोर-से-कठोर चट्टान भी लहरों के थपेड़ों और पत्थरों की बौछार के आगे हार मान लेती है। भारत का पश्चिमी तट समान रूप से कटा हुआ है, परन्तु आयरलैण्ड का पश्चिमी तट बहुत कटाफटा है।

चट्टान के परतों की रचना-विधि से भी क्षयकार्य की गति में शीघ्रता या सुस्ती आ सकती है। यदि चट्टानों के परत खड़े रूप में (Vertical) स्थित हैं, तो लहरों को उनके काटने में कठिनाई पड़ेगी। परन्तु यदि परत आड़े-तिरछे (Horizontal) बिछे हैं, तो उनका विनाश शीघ्रता से होगा।

लहरों के आक्रमण की दिशा भी क्षयकार्य पर प्रभाव डालती है। यदि लहरें चट्टान पर टेढ़ी टकराती हैं, तो उनकी चोट का अधिक प्रभाव नहीं होगा। परन्तु यदि वे सीधी आकर टकरायेंगी, तो कटान शीघ्रतापूर्वक होगी।

१६५. लहरों की कटान द्वारा उत्पन्न दृश्य—लहरों की कटान से तटरेखा पर बड़े विचित्र दृश्य बन जाया करते हैं। लहरों की कटान से चट्टानों का निचला भाग क्षीण होता रहता है और ऊपर का भाग समुद्र की ओर लटकता रह जाता है। धीरे-धीरे मौसमी क्षति के प्रभाव से लटकता हुआ भाग भी कटकर गिर पड़ता है।

कभी-कभी लहरों की कटान से चट्टानों के निचले भाग खोखले होकर गुफा-सी बन जाती है। जब कभी लहरों का जल इस प्रकार की गुफा में अचानक भर जाता है, तो गुफा की हवा सिकुड़ती है। यदि चट्टान में कोई सँध या दरार होती है, तो हवा उसमें बड़ी तेज़ी से घुसती है। सँध के बड़े हो जाने पर हवा के साथ जल भी उसमें होकर फौव्वारे की तरह बहने लगता है। कालान्तर में चट्टान के आर-पार एक सुरंग बन जाती है और चट्टान का ऊपरी भाग पुल की तरह ऊपर बना रहता है।

तट प्रदेश के क्षय होते-होते कहीं-कहीं पर संकीर्ण मैदान तैयार हो जाता है। नार्वे के पश्चिमी तट, स्पेन के उत्तरी तट और भारत के पूर्वी तट पर इसी प्रकार के संकीर्ण मैदान बन गये हैं।

कहीं-कहीं सागर तट का नरम भाग कट जाता है और कठोर तट एक टीले

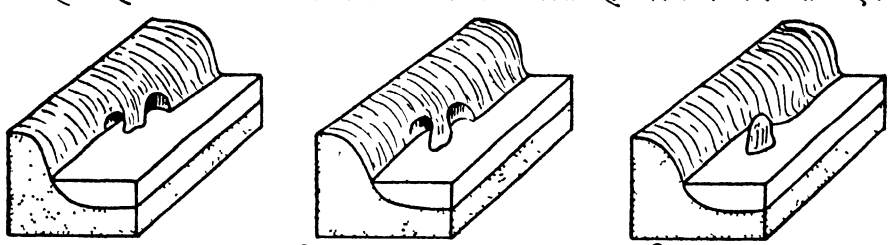

समुद्र की तरंगों द्वारा प्राकृतिक पिरामिड का निर्माण

चित्र ५७.

के रूप में खड़ा रह जाता है। इस प्रकार के **पिरामिड जैसे टीले** आयरलैण्ड के पश्चिमी

तट पर बहुतायत से पाये जाते हैं। स्काटलैण्ड के पश्चिमी तट पर भी ऐसे प्राकृतिक पिरामिड देखने में आते हैं।

१६६. लहरों का निक्षेपात्मक कार्य—लहरों द्वारा चट्टानों के विखण्डित भाग को वहीं पड़े रहने दिया जाय, तो धीरे-धीरे उनका मोटा परत चट्टानों के ऊपर एकत्रित हो जायगा और फिर चट्टानों का क्षयकार्य बन्द हो जायगा। परन्तु प्रकृति को ऐसी परिस्थिति स्वीकार नहीं है। आक्रमणकारी लहरें पीछे हटते समय अपने साथ चट्टानों की चूर को बहा ले जाती हैं। इसी प्रकार भाटे की लहरें भी शिलाचूर्ण को अपने साथ बहा लाती हैं। चूँकि लहरों का प्रभाव बहुत कम गहराई तक ही सीमित है, अतः अधिक गहराई की चूर को नहीं हटाया जा सकता है। यद्यपि लहरें कभी तो कम गहरी तली से चूरचार को उठाकर तट पर दे मारती हैं और कभी तट की चूर को हटाकर अस्थायी रूप से छिछले समुद्र में छोड़ देती हैं, फिर भी अधिकांश चूरचार समुद्र में जमा होने लगती है। इस जमा होने वाले भाग का अधिकांश महाद्वीपीय जलमग्न तट (Continental Shelf) पर ही जमा हो जाता है। इसके जमा होते समय छटनी होती है। भारी और बड़े टुकड़े पहले जमा होते हैं और फिर आकार के अनुसार जमा होते जाते हैं। इनके परत पर परत जमा होते रहते हैं और इस प्रकार प्रस्तरीभूत चट्टानों का जन्म होता है। लहरों के वेग में परिवर्तन होने पर इस जमाव में अन्तर पड़ जाता है तथा कंकड़, पत्थर, मिट्टी आदि एक ही स्थान पर जमा हो जाती हैं।

वायु (Wind)

१६७. वायु का महत्त्व—मौसम और जलवायु में परिवर्तन करके तथा समु में लहरें आदि उत्पन्न करके हवा अप्रत्यक्ष रूप से धरातल पर प्रमुख परिवर्तन करती है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से भी हवा का यह कार्य कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अन्य बाह्य शक्तियों के समान हवा भी शिलाचूर्ण के बारीक कणों की ढुलाई करती है। ढुलाई के साथ-ही-साथ हवा में उड़ते हुए धूल के कण परस्पर टकराते हैं और छोटे होते रहते हैं। इन्हीं कणों की सहायता से हवा धरती की चट्टानों को रगड़कर घिसती रहती है।

१६८. वायु का कार्यक्षेत्र—जिन स्थानों पर वर्षा पर्याप्त होती है वहाँ भूमितल पर तरी रहती है। अतः तरी उन स्थानों पर धूलकणों को जमाये रहती है जिससे अधिक धूलकण हवा में नहीं उड़ सकते। दूसरे, उन स्थानों पर जहाँ घास या पेड़-पौधे धरती को ढँक लेते हैं, हवा का प्रभाव कम पड़ता है। इसके विपरीत जिन स्थानों पर वनस्पति कम होती है, जो भाग शुष्क होते हैं और जो भाग समुद्र के रेतीले तटों समीप होते हैं, उन भागों से वायु धूल और रेत के अधिक कण उठा लेती है और के

ऐसे भागो में वायु का कार्य अधिक शीघ्रता से होता है। नदियों के कछारों से भी हवा धूल के कण उड़ा ले जाती है।

१६९. वायु में धूलकणों की मात्रा—हवा कितने अधिक और कितने बड़े आकार के कण उड़ा पाती है, यह उसकी गति पर निर्भर रहता है। मन्द गति से चलने वाली हवा में बहुत बारीक कण उड़ सकते हैं और उनकी मात्रा भी कम होती है। परन्तु प्रचण्ड गति से चलने वाली आँधी में बड़े-बड़े कंकड़ भी उड़ जाते हैं तथा धूलकण इतने प्रचुर परिमाण में होते हैं कि दिन की रात हो जाती है। भारत के थार मरुस्थल में चलने वाली आँधियों के कारण अनेकों बार इतना अँधेरा हो जाता है कि यातायात रुक जाता है। गर्मी में चलने वाली 'लू' इस प्रकार बालू के बादल उड़ाती है कि मार्ग में चलना कठिन हो जाता है। धूलकणों को हटाने के लिए यह आवश्यक नहीं कि आँधी ही चले। कई बार जब हवा बन्द हो जाती है, तब भी दोपहर की तेज़ गर्मी से धरातल की हवा गर्म होकर ऊपर की ओर फैलती है और ज़ोर से भँवर की तरह घूमती है। इस घूमने के कारण धूलकण बड़ी तेज़ी से नाचते हुए एक स्तम्भ की तरह आगे बढ़ते हैं। ऐसे धूलस्तम्भ राजस्थान और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में गर्मी की ऋतु में दोपहर के समय बहुत बार देखने में आते हैं।

प्रतिवर्ष मरुस्थलों से उड़ने वाली धूल की मात्रा का अनुमान लगाना बहुत कठिन है। यद्यपि जल द्वारा हटाये गये शिलाखण्डों की तुलना में वायु द्वारा हटाई हुई धूल-मिट्टी की मात्रा नगण्य-सी है, परन्तु वायु की एक विशेषता जल से बढ़कर है। जल ऊँचे स्थानों से काटकर लाया हुआ पदार्थ निचले प्रदेशों में जमा करता है तथा उसका प्रभाव जलधाराओं के प्रवाह-क्षेत्र तक सीमित रहता है। इसके विपरीत वायु धूलकणों को उड़ाकर संसार के किसी भी दूरस्थ भाग में पहुँचा सकती है। सहरा मरुस्थल से उड़ाई हुई धूल को भूमध्यसागर के पार दक्षिणी यूरोप में पहुँचा दिया जाता है।

१७०. वायु का क्षयात्मक कार्य—हवा के साथ उड़कर आये हुए धूलकण चट्टानों को घिसने और काटने के साधन बन जाते हैं। इन कणों की रगड़ से चट्टानें उस प्रकार घिस जाती हैं जैसे रेती से लकड़ी आदि घिस जाती है। आँधी की धूल में स्फटिक पत्थर (Quartz) के कण मिले रहते हैं। स्फटिक के कण बहुत ही कठोर और तीक्ष्ण धार वाले होते हैं। अतः आँधी में चट्टानों को घिस डालने की प्रचण्ड शक्ति होती है। कमज़ोर चट्टानें इन कणों की रगड़ से आसानी से घिस जाती हैं, परन्तु कठोर चट्टानों के घिसने में पर्याप्त समय लगता है। समुद्रतट के पास मकानों की खिड़कियों के काँच एक ही आँधी से धुँधले पड़ जाते हैं और उन पर अनेकों खरोंचें पड़ जाती हैं। कई रेगिस्तानों में आँधी की चोट से रेल की पटरियाँ भी घिसी हुई

देखी गयी हैं। मिस्र देश की सुप्रसिद्ध स्फिन्क्स मूर्ति को आँधियों ने बुरी तरह घिस डाला है। लीबिया देश में मरुस्थल की परिस्थितियाँ पूर्ण रूप से मिलती हे। अतः इस देश मे आँधियों के क्षयकार्य ने विचित्र दृश्य उपस्थित कर दिये है। लीबिया के दक्षिणी भाग में धरातल पर चूने के पत्थर की अधिकता है। चूने का पत्थर अपेक्षाकृत **नरम** होता है, अतः इन चट्टानों को घिसकर चिकना तथा नालीदार बना दिया है। इस

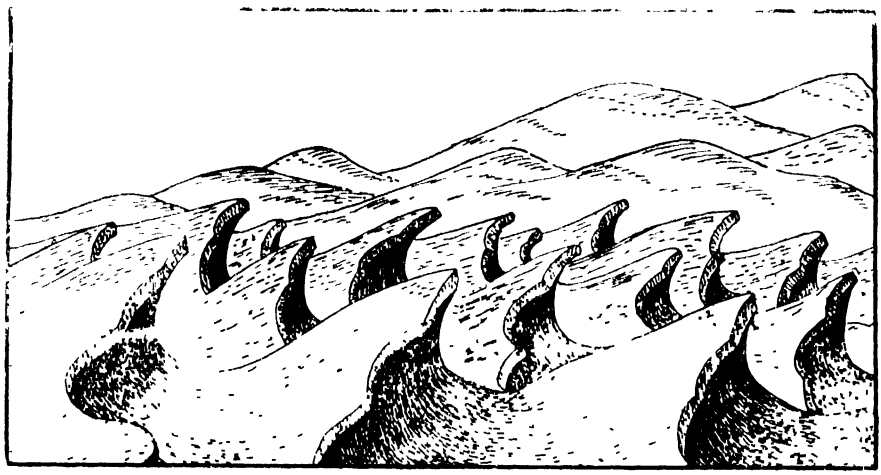

चित्र ५८. लीबिया मरुस्थल का एक दृश्य।

देश के उत्तरी भाग में बालुका-प्रस्तर (Sandstone) की अधिकता है। आँधियों ने इन चट्टानों को घिस-घिसकर ऊबड़-खाबड़ बना दिया है।

धूलकण हवा में नीचे की ओर अधिक रहते है, परन्तु ज्यों-ज्यों ऊपर की ओर जाते है धूलकणों की मात्रा घटती जाती है। फलतः ऊपर की ओर निकली हुई चट्टानों का निचला भाग अधिक घिसता है और ऊपर का भाग कुछ कम घिसता है। इस प्रकार के कटान से नीचे की ओर पतले और ऊपर की ओर मोटे प्राकृतिक स्तम्भ बन जाते है। धीरे-धीरे इन विचित्र स्तम्भों की जड़ बिलकुल क्षीण हो जाती है और तब ये स्तम्भ धराशायी हो जाते हैं।

यदि लम्बे समय तक हवा एक ही दिशा में चलती है, तो कटान एक ही तरफ होती है। परन्तु यदि हवा के रुख में परिवर्तन होता रहता है, तो घिसाव दूसरी तरफ भी होता है। इस तरह के घिसाव से शुष्क प्रदेशों में विचित्र आकृतियों के गोल, नुकीले, कई धार वाले और चिकने पाषाण-खण्ड पाये जाते है। ये पाषाण-खण्ड ऐसे लगते हैं मानो किसी ने छेनी से घिसघिसाकर तैयार किये हों। ऐसे पाषाण-खण्डों को वायु-विरचित पाषाण-खण्ड कहते हैं। वायु-विरचित पाषाण-खण्डों की एक मोटी परत स्काटलैण्ड के उत्तर-पश्चिम में मिली है जिसके कारण यह अनुमान लगाया गया है कि किसी युग में यह प्रदेश शुष्क जलवायु का अनुभव कर चुका है।

१७१. वायु का निक्षेपात्मक अथवा रचनात्मक कार्य—वायु की गति में कमी होते ही उसमें धूल के कणों को उड़ा ले जाने की शक्ति कम हो जाती है। अतः वह अपने बोझ को पटकने लगती है। इस प्रकार वायु द्वारा जमा की हुई धूल-मिट्टी स्थायी भी जमा रह सकती है अथवा अस्थायी भी रह सकती है। अस्थायी जमा की हुई धूल-मिट्टी को हवा के झोंके एक स्थान से उठाकर दूसरे स्थान पर पटक देते हैं। वायु के रचनात्मक कार्य का सुन्दर नमूना बालू के टीलों और लोयस मैदानों का निर्माण है। कुछ बालू की चट्टानें भी वायु द्वारा बालू के परतों को जमा करने से बनी हैं।

१७२. बालुका-स्तूप (Sand Dunes)—हवा जिन बालू के कणों को उड़ा ले जाती है वे जब अनेक प्रकार के अनिश्चित आकार वाले टीलों के रूप में जमा हो जाते हैं, तो उन्हें बालू के टीले या बालुका-स्तूप कहते हैं। बालुका-स्तूपों की रचना के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है—(१) प्रचुर परिमाण में सूक्ष्म कणों का होना, (२) बालू के कणों को उड़ाने की क्षमता रखने वाली प्रचण्ड गति की आँधी, तथा (३) वायु को रोकने वाले अवरोधक।

सर्वप्रथम बालुका-स्तूपों के निर्माण के लिए प्रचुर परिमाण में बालुका-कणों का होना आवश्यक है। ऐसी अनंत रजराशि मरुस्थलों में और सागर के उन तटों पर मिल सकती है जहाँ बालू अधिक जमा होती है। अतएव मरुस्थलों और बालुका-आच्छादित सागर-तटों पर ही बालू के टीलों का साम्राज्य है। परन्तु हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि ऐसे प्रदेशों में समस्त भूमि पर टीले-ही-टीले फैले होंगे। विश्व में सबसे अधिक बालुका-स्तूपों वाले अरब देश में धरातल के एक-तिहाई भाग पर ही बालू के टीले हैं। विशाल सहरा रेगिस्तान के केवल नवें भाग पर ही बालू के ढेर हैं। इन मरुस्थलों के शेष भाग पर शिलाखण्ड, वायु-विरचित पाषाण-खण्ड और धरा-शिलायें (Bed-rocks) ही बिछी पड़ी हैं। बालू की प्रचुरता धरातल की चट्टानों की बनावट पर निर्भर है। जिन शुष्क प्रदेशों में धरातल पर बालुका-प्रस्तर (Sandstone) की अधिकता होगी, वहाँ बालुका-कणों की प्रचुरता होगी। संयुक्त राज्य के यूटा और अरीजोना राज्यों में बालू की चट्टानें अधिक हैं। अतः इन राज्यों में बालू के टीले भी अधिक बन गये हैं। परन्तु जहाँ चूने की चट्टानें अधिक होती हैं अथवा जहाँ शेल पत्थर का बाहुल्य होता है, वहाँ बालुकाकणों की कमी से टीलों का अभाव रहता है। यही कारण है कि दक्षिणी नेवेदा राज्य में शुष्क जलवायु होते हुए भी टीले नहीं हैं।

शुष्क प्रदेशों में गर्मी की अधिकता से वायु-भार में बहुत अन्तर पड़ जाया करता है। अतः इन भागों में तेज आँधियाँ चला करती हैं जो धूलकणों को हटाती रहती हैं।

बालुका-स्तूपों के निर्माण के लिए तीसरी आवश्यकता आँधी के मार्ग में बाधा उपस्थित होना है। शुष्क प्रदेशों में सूर्य के ताप से चट्टानों से टूटे हुए बालुका-कण आँधी से उड़ तो जाते हैं, परन्तु स्तूपों का निर्माण वहीं होता है जहाँ वायु को रोकने के लिए कोई अवरोधक हो। जब धूल से भरी आँधी चल रही हो, उस समय किसी

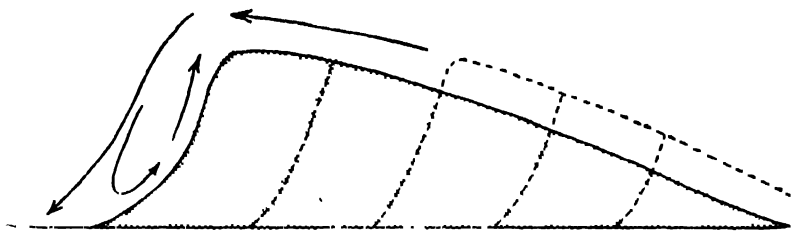

चित्र ५९. बालुका-स्तूप।

झाड़ी या पेड़, ऊँचे उठे हुए शिलाखण्ड, ऊँची-नीची भूमि अथवा कभी-कभी घनी घास के मार्ग में आजाने से आँधी का वेग उस स्थान पर कम हो जाता है। फलतः वायु सम्पूर्ण धूल को उड़ा ले जाने में असमर्थ होती है और कुछ धूल वहीं गिरकर जमा हो जाती है। जब यह बालू का ढेर काफी ऊँचा हो जाता है, तो वह स्वयं भी वायु का रास्ता रोक लेता है और उसके ऊपर निरन्तर थोड़ी-बहुत धूल जमा होती रहती है। इस प्रकार टीले की ऊँचाई बढ़ती रहती है।

१७३. **स्तूपों का आकार**—बालुका-स्तूप विचित्र प्रकार के अनेकों आकार वाले होते हैं। कहीं गोल, कहीं नवचन्द्राकार या चपटे, फैले हुए अथवा एक दूसरे से सटे हुए आदि अनेक रूपों में उनके दर्शन होते है। इनके विभिन्न रूप मुख्यतः वायु की प्रवाह-दिशा पर निर्भर होते हैं। जिस दिशा से हवा चलती है, उस ओर बालू गिरकर जमा होती रहती है जिससे इस तरफ टीले का ढाल लम्बा और धीर (gentle) होता है। परन्तु दूसरी तरफ बालू खिसककर जाती है, अतः उधर बालू के कण जितना संभव होता है उतने ही एक दूसरे पर सीधे स्थित हो जाते हैं जिससे इस ओर का ढाल प्रपाती होता है। यदि हवा निरन्तर एक ही दिशा में बहती है, तो वह स्तूपों की दोनों बगलों पर कुछ आगे तक रेत जमा कर देती है जिससे किनारों पर दो सींग से बन जाते हैं। वायु की विपरीत दिशा से देखने पर स्तूप का आकार नवचन्द्र-सा दिखाई पड़ता है। यदि आँधी चारों तरफ से चलती है, तो टीले का आकार गोल बन जाता है। परन्तु यदि आँधी की कोई निश्चित दिशा नहीं होती, तो आकार भी विचित्र प्रकार के बन जाया करते हैं।

स्तूप की विशालता बालू की प्रचुरता पर निर्भर होती है। जिन प्रदेशों में बालू की अधिकता होती है और आँधियाँ भी अधिक आती रहती हैं, उनमें स्तूपों की ऊँचाई साधारणतया १०० फीट तक हो जाती है। भारतीय थार मरुस्थल में ५०

फीट से २०० फीट तक की ऊँचाई के स्तूप मिलते है। अधिक ऊँचे स्तूप थार के पश्चिमी भाग मे है। कुछ स्तूपो की लम्बाई २ मील तक देखी गयी है और कुछ ४०० फीट ऊँचे है। सहरा मरुस्थल में भी ४०० फीट ऊँचे स्तूप पाये जाते है।

स्तूपों का ऊपरी तल रेत की पतली लहरों से युक्त होता है। इसकी उपमा उस तालाब के जल से दी जा सकती है जिसमें हवा चलने से हिलोरें उठ रही हों। लगभग सभी स्तूपों के तल में यह विशेषता मिलती है। जिन भागो में हवा की दिशा बदलती रहती है, उन भागों के स्तूपों में लहरों के निशान स्पष्ट नहीं रहते बल्कि कही आड़े, कही तिरछे और कही एक दूसरे को काटते रहते है।

१७४. स्तूपों का स्थान परिवर्तन—इन बालुका-स्तूपों की बालू जब तक स्वतन्त्रतापूर्वक उड़ सकती है, तब तक इनका स्थान बदलता रहता है। स्तूप के शिखर की बालू धीरे-धीरे हवा से उड़कर कुछ आगे गिरती रहती है। ढाल की बालू खिसकती हुई शिखर तक पहुँचती है और वहाँ से आगे को लुढ़क जाती है। अन्त में धीरे-धीरे सारा टीला ही आगे पहुँच जाता है। टीलों की आगे बढ़ने की गति अधिक-से-अधिक एक वर्ष में १०० फीट होती है। टीलों की इस प्रकार की यात्रा से रेगिस्तान अपना

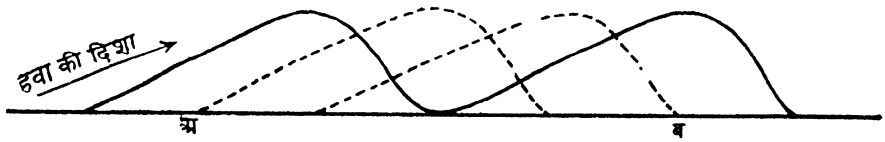

चित्र ६०. स्तूपों का स्थान परिवर्तन।

विस्तार किया करता है। अनेकों उपजाऊ खेत बालू फैल जाने से उजाड़ बन जाते है। रेगिस्तान बढ़ने से मिस्र और सीरिया के बड़े-बड़े नगर रेत के नीचे दब गये थे। भारत की सैन्धव सभ्यता का अभिमान, मोहनजोदड़ो नगर, संभवतः रेत से दबकर नष्ट हो गया। फ्रांस के पश्चिमी तट पर समुद्री बालू की बाढ़ से सैकड़ों गाँव नष्ट हो गये। इस बाढ़ को लाण्डीज प्रदेश में वनस्पति उगाकर ही रोका जा सका था। भारत का थार मरुस्थल भी निरन्तर धीरे-धीरे आगे को बढ़ रहा है जिससे उत्तर प्रदेश का पश्चिमी भाग उजाड़ खण्ड बन जायगा। इसकी वृद्धि को रोकने के लिए भारतीय सरकार वृक्षों की पंक्तियाँ लगाने की योजना बना रही है।

कई विशाल स्तूप गतिविहीन भी होते हैं। इनकी ऊपरी बालू बहुत थोड़ी मात्रा में इधर-उधर उड़ जाती है। इनके गतिविहीन होने के दो कारण हैं। प्रथम तो इन टीलो पर घास या झाड़ियाँ उगकर उनकी बालू को स्थिर बना देती हैं। दूसरे, वर्षा का जल इनके भीतर पहुँचकर बालू के कणों को नम बना देता है जिससे कणों में स्थिरता आ जाती है।

१७५. स्तूपों की उपयोगिता—मरुस्थलों में ये बालुका-स्तूप पानी को सोख लेने के कारण उपयोगी सिद्ध होते है यद्यपि मरुस्थलों में बहुत कम वर्षा होती है परन्तु उसका अधिकांश भाग बालू के असंगठित कणों में होता हुआ पृथ्वी में समा जाता है जिससे टीलों के नीचे जलरेखा (Water Table) ऊँची उठ जाती है। इन भागों में जल रेखा टीलों के आकार के अनुसार ऊँची-नीची होती रहती है। जहाँ भी जलरेखा ऊँची होती है, वहाँ थोड़ी-सी निचाई पर ही काफी जल मिल जाता है और वहीं नखलिस्तान बन जाता है।

१७६. लोयस—हवा द्वारा जमा की हुई बारीक मिट्टी को लोयस (Loess) कहते है। मध्य यूरोप, उत्तरी चीन तथा मिसीसिपी की घाटी में हवा ने बारीक कण वाली मिट्टी बिछा दी है। उत्तरी चीन में इस मिट्टी की गहराई कहीं-कहीं २०० फीट तक पहुँच गयी है। अन्य भागों में इसकी गहराई २० फीट से ४० फीट तक और कहीं-कही १०० फीट तक है। इस मिट्टी में दो विशेषतायें पायी जाती हैं। एक तो इसमें अन्य चट्टानों के समान परत नही होते, बल्कि ढेर के रूप में एकत्र हुई प्रतीत होती है। दूसरे, इस मिट्टी के कण बहुत ही बारीक होते है। इन विशेषताओं से ज्ञात होता है कि अतीत में निरन्तर चलने वाली आँधियों ने इस मिट्टी को स्थायी रूप से निचले भागों में जमा किया होगा और महाद्वीपीय ग्लेशियरों द्वारा घिसे हुए भागों से बारीक मिट्टी को हवायें उड़ा लायी होंगी। यह मिट्टी पानी को जल्दी सोख लेती है और ऊपरी तल बड़ी जल्दी सूखा-सा हो जाता है। नदियाँ इसको बड़ी आसानी से काट देती है। अतः इस मिट्टी में घाटियाँ बहुत गहरी होती है। इस मिट्टी में बहुत से स्थल के जीवों के अवशेष मिले हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि इसका जमाव समुद्र में नही हुआ।

चौदहवां अध्याय

मैदान (Plains)

१७७. भू-आकारों में मैदान का महत्त्व—पृथ्वी के धरातल पर अनेक प्रकार के विचित्र दृश्य हैं। कहीं पहाड़ हैं तो कहीं घाटियाँ; कहीं समतल मैदान हैं तो कहीं ऊबड़-खाबड़ पठार। पृथ्वी के इन आकारों को तीन मुख्य भागों में विभाजित कर सकते हैं। मैदान, पर्वत-प्रदेश तथा पठार। भू-आकारों के विभिन्न भेदों में मैदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। क्षेत्रफल के विचार से भी मैदानों का स्थान सर्वप्रथम है क्योंकि स्थल के अधिकांश भाग पर इन्हीं का विस्तार है। दूसरे, मैदान अति प्राचीन काल से ही मानव के क्रीड़ास्थल रहे हैं। संसार की विभिन्न सभ्यतायें और संस्कृतियाँ मैदानों में ही जन्मीं तथा पल्लवित हुईं। आज भी संसार की जनसंख्या का अधिकांश भाग मैदानों में ही निवास पाता है। खेती के लिए अनुकूल वातावरण तथा आवागमन की सुख-सुविधा होने के कारण ही मैदान मानव के लिए आकर्षण के प्रधान केन्द्र रहे हैं।

१७८. मैदान किसे कहते हैं—मैदान उस समतल भूभाग को कहते हैं जिसके ऊँचे-से-ऊँचे और नीचे-से-नीचे भागों में ५०० फीट से अधिक अन्तर न हो और जिसका ढाल क्रमिक (Gradual) हो अर्थात् जो धीरे-धीरे ऊँचा या नीचा होता गया है। कुछ लोगों के अनुसार मैदान स्थल के वे विस्तृत भूभाग हैं जो समुद्र-तल से ५०० फीट तक ऊँचे हों। मैदानों की यह परिभाषा ठीक नहीं है। कई मैदान समुद्रतल से सैकड़ों फीट ऊँचे है जैसे उत्तरी अमेरिका का बड़ा मैदान। परन्तु बहुत से ऐसे भी हैं जो समुद्रतल से नीचे हैं जैसे जोर्डन नदी की घाटी (फिलिस्तीन)। ऊँचाई-नीचाई के अनुसार मैदानों की निश्चित पहिचान नहीं हो सकती। कई मैदानों की ऊँचाई पठारों या पर्वतों से अधिक है। परन्तु ऊँचे-से-ऊँचे मैदान भी अपने निकटवर्ती पठारों और पर्वतों से नीचे ही होते हैं क्योंकि ऊँचे मैदान भी पठारों या पर्वतीय प्रदेशों के घिसने से बने हैं। मैदानों की मुख्य पहिचान उनका ढाल है। मैदानों का ढाल क्रमिक होता है। चूँकि मैदान समतल-स्थापक शक्तियों के परिश्रम के फल हैं अतः इनका ढाल क्रमिक होना स्वाभाविक है।

१७९. मैदानों के भेद—निर्माण-विधि के अनुसार मैदानों के तीन भेद हैं—

(क) भूमि के क्षय से बने हुए मैदान (Erosional Plains)।

(ख) निक्षेप निर्मित या जमाव के द्वारा बने हुए मैदान (Depositional Plains)।

(ग) तटीय मैदान (Coastal Plains)।

भूमि के क्षय द्वारा निर्मित मैदान

भूमि की क्षय-क्रिया के दो भेदों के अनुसार इन मैदानों के भी दो भेद हैं। जो मैदान भूमि के कटाव या घिसाव से बने हैं उन्हें अन्तरास्थलीय मैदान (Interior plains) कहते हैं। जलधारायें अथवा हिमानियाँ (Glaciers) स्थल को घिस-घिसाकर इन मैदानों का निर्माण करती हैं। (२) जो मैदान जल की घुलनशीलता के कारण स्थल के क्षय होने से बने हैं उन्हें कार्स्ट मैदान कहते हैं। कार्स्ट मैदानों का निर्माण भूमिगत जल (Ground Water) की प्रतिक्रिया से हुआ है।

१८०. अन्तरास्थलीय मैदान (Interior Plains)—इन मैदानों को नदियाँ और ग्लेशियर बनाते हैं। अतः इनके दो उपभेद हैं—

(अ) नदी-घर्षित अन्तरास्थलीय मैदान (Peneplains)—नदियों ने स्थल के भीतरी भागों में विशाल भूखण्डों को काट-छाँटकर सपाट मैदान बना डाला है। रूस, कनाडा, संयुक्तराज्य, ब्राजील, अर्जेण्टाइना तथा आस्ट्रेलिया के भीतरी भागों में नदियों के बनाये हुए मैदान फैले हुए हैं। इन मैदानों के धरातल पर प्रस्तरीभूत चट्टानें बिछी हुई हैं। जो मैदान कटान की प्रारम्भिक अवस्था में होते हैं, वे समुद्रतल से काफी ऊँचे होते हैं। इन मैदानों को नदियाँ स्थान-स्थान पर काट देती हैं। नदियों की घाटियाँ सँकरी और तट सपाट होते हैं। घाटियों के संकीर्ण होने से नदियों में प्रायः बाढ़ आती रहती है। घाटियों के दोनों किनारे एकदम सीधे खड़े रहते हैं। संयुक्तराज्य के दक्षिणी डकोटा राज्य में बैड लैण्डस् (Bad lands) कटान की प्रारम्भिक अवस्था में हैं। यहाँ नदियों के बीच की ऊँची समतल भूमि में ही खेती होती है तथा वे ही आवागमन के प्रधान मार्ग हैं।

कुछ मैदान कटान की मध्य अवस्था में होते हैं। ऐसे मैदानों में नदियों के बीच की ऊँची समतल भूमि कट-कटकर घाटी के रूप में परिवर्तित होती जाती है और इस प्रकार घाटी चौड़ी होती जाती है। नदियों के बीच की समतल ऊँची भूमि कटते-कटते ऊँचे पहाड़ी टीलों (Monadnocks) के रूप में रह जाती है। इस अवस्था में ऊँची समतल भूमि के स्थान पर घाटियाँ ही मनुष्य के आवास-स्थल तथा आवागमन के मार्गों की केन्द्र बन जाती है। अमेज़िन बेसिन का दक्षिणी भाग, उत्तरी भारत का दिल्ली के पश्चिम का अरावली प्रदेश तथा यूरोपीय रूस का मध्यवर्ती भाग इस प्रकार के मैदानों के कुछ उदाहरण हैं।

कटान की अन्तिम अवस्था में ऊँची पहाड़ियों की घिसाई होने से उनकी ऊँचाई घटती जाती है। नदियों की घाटी पूर्णतया विस्तृत हो चुकती है, अतः अब वे अवशेष ऊँची पहाड़ियों को काट-काटकर सपाट मैदानों में बिछा देती हैं। बहुत ही सख्त चट्टानें कुछ झुकी हुई पहाड़ियों के रूप में दिखाई देती हैं। ऐसे मैदानों को क्वेस्टा

मैदान (Cuesta Plain) कहते हैं। फ्रांस देश का पेरिस बेसिन इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

(ब) हिमानी-घर्षित अन्तरास्थलीय मैदान—आज से सहस्रों वर्ष पूर्व महाद्वीपीय ग्लेशियर ने उत्तर-पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के उत्तरी भाग को घिसकर मैदान बना डाला। इन मैदानों के कुछ सुन्दर नमूने फिनलैण्ड, स्वीडन और कनाडा के पूर्वी भाग में देखे जा सकते है। बहती हुई हिमशिलाओं के भारी बोझ के घर्षण से पूर्ववर्ती पहाड़ियाँ और घाटियाँ बिलकुल बदल गयीं। घाटियों के पार्श्व में आगे की तरफ निकले हुए कोने घिसकर चिकने और गोल बन गये तथा घाटियों की तली पर बारीक बजरी फैल गई। हिमानी ने पहाड़ियों को भी घिस-घिसाकर चिकना और गोल बना दिया। धरातल के कट जाने से बहुत-सी झीलें बन गयीं। इन मैदानों की धरती खेती के योग्य नही है अतः यहाँ पर अधिकांश भाग जंगलों से ढँके हैं। भूमि के ऊबड़-खाबड़ बन जाने से इन भागों में जलविद्युत उत्पन्न की जाती है।

१८१. कार्स्ट मैदान—संसार के जिन भागों में भूपटल चूने की चट्टानों से बने है और ऊपरी सतह पर अन्य प्रकार की पतली चट्टानें बिछी हैं, उन भागों में भूमिगत जल धरातल के नीचे पहुँचकर उन चट्टानों को घुलाता रहता है। इस घुलन-क्रिया से विचित्र प्रकार के मैदान बन जाते है। ऐसे मैदानों को कार्स्ट मैदान कहते हैं। चूने की चट्टानों में चूने का पत्थर, खड़िया और सेलखड़ी प्रमुख हैं। इन चट्टानों की रचना में केल्शियम कार्बोनेट मुख्य होता है जो चूने का ही एक रूप है। चूने की चट्टानें साधारणतया काफी सख्त होती है और वर्षा के जल का इन चट्टानों पर बहुत कम प्रभाव पड़ता है। परन्तु जब यह जल भूमि में प्रवेश करता है, तो इसमें कार्बन डाइआक्साइड मिल जाता है। कार्बन डाइआक्साइड मिला जल चूने को बड़ी जल्दी घुला डालता है। चूने की चट्टानें भूतल पर बहुतायत से पाई जाती हैं और लगभग सभी स्थानों पर इनका क्षेत्रफल काफी विस्तृत है। यूगोस्लेविया, दक्षिणी फ्रान्स, फ्लोरिडा प्रायद्वीप, यूकटन प्रायद्वीप और क्यूबा द्वीप में ये चट्टानें धरातल के निचले भाग में स्थित है और इनके नीचे अन्य प्रकार की अभेद्य चट्टानें बिछी हुई है। यूगोस्लेविया में एड्रियाटिक समुद्र के सहारे-सहारे ५० मील चौड़ी पट्टी पर चूने के पत्थर बिछे है। इस पट्टी का नाम कार्स्ट है। इसमें कार्स्ट मैदान का सर्वोत्तम उदाहरण मिलता है। अतः इसी के नाम पर इस प्रकार के सभी मैदानो का नाम कार्स्ट मैदान पड़ गया है।

चूने की चट्टानों में क्षयक्रिया धरातल के नीचे-ही-नीचे होती है और यही इन मैदानों की प्रमुख विशेषता है। कार्स्ट मैदानों में धरातल पर घाटियाँ नहीं होतीं। कहीं-कही पर पास के भूखण्डों से बहकर आने वाली नदियों की घाटियाँ बनी होती

है। बहुत से स्थानों पर सैकडो वर्ग मील के क्षेत्रफल में एक-दो नदियाँ भी बडी कठिनाई से मिलती है। यूगोस्लेविया के कार्स्ट मैदान में नारेन्ता नदी के अतिरिक्त धरातल पर कोई भी नदी नहीं है। वर्षा का सारा जल भूमि के अन्दर चला जाता है और वहाँ पर अपना कार्य करता रहता है। धरातल पर बने हुए बडे-बडे जल सोखने

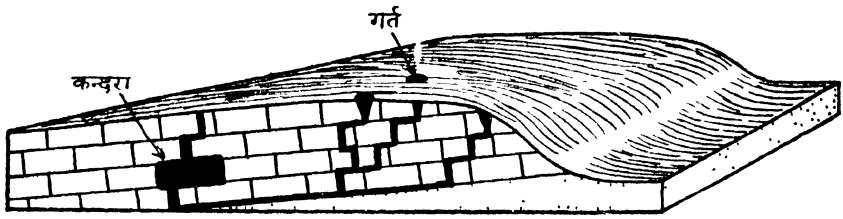

चित्र ६१. कार्स्ट मैदान

वाले गर्त (Sink Holes), कन्दरायें तथा कन्दराओं की छत टूट जाने से बने हुए प्राकृतिक पुल कार्स्ट मैदानो के धरातल की विशेषतायें है।

कार्स्ट मैदान भूमिगत जल की प्रतिक्रिया द्वारा धीरे-धीरे विकसित होता है। इसके विकास के सम्बन्ध में स्विजिक नामक विद्वान् का मत है कि कार्स्ट मैदान के निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि चूने की चट्टाने अभेद्य चट्टानों के ऊपर स्थित हों तथा यह चट्टानें जलरेखा से ऊँची भी हों। धरातल की ऊपरी चट्टानों के सँधों में होकर पानी नीचे पहुँचने लगता है। यदि दो परतों के बीच में कुछ स्थान खाली होता है, तो पानी को बहने की स्वतन्त्रता मिल जाती है और घुलाने की क्रिया भी अधिक वेग से होती है। ज्यों-ज्यो चूना घुलने से जोड़ अधिक चौड़े होते जाते है, त्यों-त्यों पानी की प्रवाह-गति भी अधिक तेज़ होती जाती है तथा सन्धिस्थान अधिक शीघ्रता से चौड़े होते जाते है। धीरे-धीरे संधो का मुँह बढ़कर धरातल पर जल सोखने वाले छोटे-छोटे गर्त (Swallow Holes) बन जाते है जिनमें वर्षा का कुछ पानी भर जाता है। यही छोटे-छोटे गर्त कार्स्ट मैदान की मंज़िल के प्रथम सोपान हैं। इन गर्तों की सख्या और विस्तार मे निरन्तर वृद्धि होती रहती है और धरातल के नीचे खोखला स्थान बनने लगता है। धीरे-धीरे नदी की धारा के नीचे ऐसा गर्त बन जाता है कि पूरी नदी का पानी उसी गर्त में विलीन हो जाता है। अब नदी की धरातल के ऊपर की यात्रा समाप्त हो जाती है तथा नदी की पूर्व-निर्मित तलैटी पानी न बहने से सूख जाती है। अतः अब उसे शुष्क तलैटी (Blind Valley) कहते है।

धरातल से जलधाराओ के विलुप्त होते ही कटान की दूसरी अवस्था प्रारंभ होती है। स्विजिक के मतानुसार भूमिगत जल के तीन अलग-अलग स्तर विकसित हो चुकते हैं—

(१) **अभेद्य चट्टानों के ऊपर जल का निम्नतम स्तर**—इस भाग में चट्टानों

के बीच में बने हुए जलाशय और जलधाराएँ सभी ऋतुओं में जल से परिपूर्ण रहती हैं।

(२) **मध्य स्तर**—यह भाग निम्नतम भाग से ऊपर स्थित होता है। इस भाग की कन्दराओं और अन्य गर्तों में साल के अधिकांश भाग में पानी भरा रहता है। परन्तु पानी की कमी के समय यह भाग सूखा रहता है।

(३) **धरातल के ठीक नीचे का सबसे ऊपरी स्तर**—इस भाग में केवल अधिक वर्षा के समय पानी भरता है और बाकी समय प्रायः सूखा रहता है।

यह आवश्यक नहीं है कि उपर्युक्त तीनों जल-स्तर सभी कार्स्ट मैदानों में मिल ही जायें। विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों के अनुसार इनमें बहुत परिवर्तन हो जाता है।

इस अवस्था में पानी का क्षयकार्य चूने की चट्टानों में अदृश्य रूप से चलता रहता है और परत के परत घुलकर खोखले स्थान बढ़ते जाते हैं। चूने की चट्टानों के नीचे अभेद्य चट्टानों के बिछे रहने के कारण इस क्षयकार्य की निचली सीमा निर्धारित हो जाती है। पानी की अधिक मात्रा अभेद्य चट्टानों को भेदकर नहीं जा पाती, फलतः ऐसे भागों में जलरेखा पर्याप्त नीची पहुँच जाती है। धीरे-धीरे खोखले स्थान की छत घुल-घुलकर पतली होती जाती है और कुछ दिन बाद नीचे को धँस जाती है। इस प्रकार एक विशाल गर्त बन जाता है। कहीं-कहीं गर्त के ऊपर छत का कुछ भाग लटका रह जाता है जो प्राकृतिक पुल जैसा बना रह जाता है।

यदि खोखले स्थान की छत की चट्टान काफी सख्त और मोटी होती है, तो वह नीचे नहीं धँसती। ऐसी अवस्था में खोखले स्थान के विस्तार में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। कहीं-कहीं इनका विस्तार इतना अधिक हो जाता है कि इनको गुफायें कहने लगते हैं। ये गुफायें इतनी सुन्दर लगती हैं मानों किसी ने इन्हें खोद-खोदकर बनाया हो। इन गुफाओं की लम्बाई-चौड़ाई कई-कई मील तक होती है। संयुक्त राज्य के केन्टुकी राज्य के दक्षिणी भाग के मध्य में धरातल पर चारों ओर जल सोखने वाले गर्त और ऊँचे टीले ही दृष्टिगोचर होते हैं। यहाँ पर एक ऐसी विशाल गुफा पाई गई है जिसकी लम्बाई ८ मील से भी अधिक और चौड़ाई तीन मील के लगभग है। इस जगत्प्रसिद्ध गुफा की अगल-बगल में बहुत-सी गलियाँ भी हैं जिनकी चौड़ाई ५० गज और ऊँचाई २५ गज के लगभग है। न्यू मैक्सिको राज्य में कार्लबाद स्थान पर एक गुफा की एक गली आध मील लम्बी, २०० फीट चौड़ी और १,००० फीट गहरी है।

१८२. निक्षेप-निर्मित मैदान (Depositional Plains)—मौसमी क्षति द्वारा क्षय किये हुए शिलाखण्ड नदियों, हिमानियों तथा वायु के द्वारा ऊँचे भागों से

हटाये जाते हैं और निचले भागों में जमा होते रहते हैं। इस प्रकार जमा होने से जो मैदान बनते हैं उन्हें निक्षेप-निर्मित मैदान कहा जाता है। अपनी उत्पत्ति के अनुसार इनके भी तीन उपभेद हो सकते हैं : (१) नदी द्वारा निर्मित, (२) हिमनदी द्वारा निर्मित, तथा (३) वायु द्वारा निर्मित।

(१) **नदी-निक्षेप-निर्मित मैदान**—नदी समतल-स्थापन की सबसे महत्त्वपूर्ण साधक है। कटे हुए पदार्थ को हटाने का सबसे अधिक भार नदियों के ही ऊपर है। इस हटाये हुए भूपदार्थ को नदियों की काँप (Alluvium) कहते हैं। नदियाँ अपनी काँप को मार्ग में जमा कर देती हैं जिससे मैदान बन जाते हैं। इस प्रकार बने हुए मैदानों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है : (१) डेल्टा, (२) बाढ़ के मैदान, (३) पर्वत-प्रान्ती मैदान या भावर।

१८३. डेल्टा के मैदान (Delta Plains)—जब नदी समुद्र या झील में प्रवेश करती है, तो अपने साथ बहाकर लाई हुई मिट्टी अपने संगम पर जमा कर देती है। नदी की मिट्टी के जमते रहने से धीरे-धीरे सागर का कुछ भाग पट जाता है और स्थल के साम्राज्य में वृद्धि हो जाती है। स्थल के इस नवीन सहयोगी की आकृति ग्रीक लिपि के एक त्रिभुजाकार वर्ण से मिलती-जुलती है जिसका नाम डेल्टा है। ग्रीक लोगों ने नील नदी के मुहाने पर डेल्टा वर्ण की आकृति का स्थलखण्ड देखा और उसका नाम डेल्टा रख दिया। तब से सभी नदियों के मुहाने पर जमाये हुए मैदानों को डेल्टा कहते हैं। संसार की सभी नदियाँ डेल्टा नहीं बनातीं, परन्तु सभी डेल्टा नदियों ने ही बनाये हैं। नील, पो, गंगा और ह्वाँग-हो आदि नदियों के डेल्टा इस प्रकार के मैदानों के सुन्दरतम उदाहरण हैं। डेल्टा बनने के लिए यह आवश्यक है कि नदियाँ अपने साथ काफी मिट्टी लाती हों तथा मुहाने पर बिछी हुई मिट्टी को भाटे की लहर अथवा समुद्री धाराएँ अपने साथ न बहा ले जाती हों। यदि नदी की जमा की हुई मिट्टी लहरों या धाराओं द्वारा हटती रहती है, तो नदी का मुहाना जहाज़ों के आने-जाने के योग्य बना रहता है जिसे ऐश्चुअरी कहते हैं।

नदियाँ अपने साथ लाई हुई चूरचार को सागर में डालकर स्थलखण्ड की समुद्र की ओर बढ़ाने का अनवरत प्रयत्न करती रहती हैं। इस भाग में नदियों की प्रवाह-गति बहुत धीमी होने के कारण डेल्टा की वृद्धि भी धीमी होती है। जब कभी नदी में बाढ़ आ जाती है, तभी डेल्टा भूमि की ऊँचाई में कुछ वृद्धि हो जाती है तथा समुद्र की ओर उसका कुछ विस्तार हो जाता है। इस प्रकार शनैः-शनैः डेल्टा का निर्माण होता है। डेल्टा का धरातल प्रायः समतल होता है। किसी भी स्थान पर ५० फीट से ऊँची भूमि नहीं मिलती। डेल्टा भूमि के तल की मुख्य विशेषता वहाँ के नदी निर्मित प्राकृतिक ऊँचे कगार हैं जिनको लेवीज़ (Levees) कहा जाता है।

लेवीज़ नदियो की काँप के बने हुए ऊँचे टीले होते है जो नदी के दोनो किनारों पर बन जाते है। नदी के तट के पास इनकी ऊँचाई सबसे अधिक होती है।

इन ऊँचे कगारों (Levees) के बनाने का मुख्य कारण नदी का अपनी तलैटी में काँप एकत्र करते रहना है। डेल्टा भाग मे नदी की प्रवाह-गति अत्यन्त मन्द होती है और वह अपनी सूक्ष्म कणों वाली काँप (Alluvium) को अपनी तलैटी में जमा करती है। नदी के मध्य भाग की अपेक्षा तट के पास पानी की प्रवाह-गति अधिक धीमी होती है, अतः वहाँ पर काँप अधिक जमा होती है जिससे ऊँचे कगार बन जाते है। मिसीसिपी नदी के डेल्टा मे १५-२० फीट की ऊँचाई के लेवीज़ प्रकृति के अद्भुत नमूने है। तलैटो में मिट्टी जमा होते रहने मे जल के प्रवाह मे बाधा उपस्थित होती है और नदी बहुत-सी धाराओ में बँट जाती है। गंगा नदी के डेल्टा में नदी की अनेकों शाखायें फूट गयी है जिनमे हुगली अति प्रसिद्ध है। कुछ काल बाद इन शाखाओं के भी ऊँचे लेवीज़ बन जाते है और इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओं की सख्या बढ़ती जाती है। इसी कारण डेल्टा भूमि त्रिभुज के आकार में फैलती जाती है और भूमि की अँगुलियाँ-सी समुद्र की ओर फैल जाती हैं।

धारायें और लहरें डेल्टा की आकृति में बहुत परिवर्तन कर देती है। धारायें मिट्टी को ह ाकर नदी की दो शाखाओं के बीच में जमा कर देती है तो नदी का पानी बीच में एकत्र होने लगता है और एक झील-सी बन जाती है। नील नदी के मुहाने पर इस प्रकार की बोरोलौस झील बन गयी है।

डेल्टा भूमि में प्रतिवर्ष नई मिट्टी जमा होती रहती है, अतः डेल्टा भाग बहुत उपजाऊ होते है। इसी कारण यहाँ अच्छी फसलें उत्पन्न होती है। डेल्टा भाग प्रायः सर्वत्र घने आबाद हैं। क्योंकि ऊँचे लेवीज़ पर पानी इकट्ठा नहीं रह सकता, इसलिए लेवीज़ के भाग ही प्रमुख नगरों और रेलो आदि के केन्द्र है। प्रायः रेलें इन्ही के सहारे-सहारे जाती हैं। नदी की बाढ़ से रक्षा करने के लिए प्राकृतिक बाँधों या लेवीज़ के ऊपर ही ऊँचे-ऊँचे बाँध बना दिये जाते है।

१८४. बाढ़ द्वारा निर्मित मैदान (Flood Plains)—नदियाँ अपने साथ कुछ पदार्थ बहाकर लाती है। यह पदार्थ पानी के थपेड़े खाकर घिसता रहता है और छोटा होता जाता है। धीरे-धीरे इसके बारीक कण बन जाते है। नदी में बाढ़ आने के तथा घाटी के चौड़े होते समय यह सूक्ष्म कण वाली मिट्टी घाटी के बढ़े हुए भाग में बिछ जाती है। इस प्रकार मैदान का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। बाढ़ द्वारा निर्मित मैदान के बनने का श्रीगणेश तभी और उसी स्थान से होता है जब और जहाँ नदी अपने आधार-तल से समतल ढाल की स्थापना कर लेती है। इस स्थान से नदी के उद्गम-स्थान की ओर ज्यों-ज्यों क्रमिक ढाल या लगभग समतल की

स्थापना करती जाती है, त्यों-त्यों इस मैदान का विस्तार भी ऊपर की ओर बढ़ता जाता है। इस प्रकार के मैदानों की चौड़ाई नदी की घाटी की चौड़ाई के अनुसार होती है। कहीं-कहीं ऐसे मैदानों की चौड़ाई कुछ सौ गज़ों तक सीमित रहती है तथा कहीं पर यह चौड़ाई मीलों तक फैल जाती है। सामान्यतया नदी के मुहाने से उद्गम स्थान की ओर इनकी चौड़ाई कम होती जाती है।

नदी ज्यों-ज्यों पुरानी होती जाती है उसकी घाटी भी चौड़ी होती जाती है। धीरे-धीरे घाटी की चौड़ाई इतनी बढ़ जाती है कि घाटी का एक किनारा दूसरे किनारे से मीलों दूर हो जाता है और बीच के भाग में नदी बाढ़ के समय लाई हुई मिट्टी बिछाकर समतल मैदान बना देती है। नदियों में कई कारणों से बाढ़ आया करती है। अधिकतर नदियों के उद्गम स्थान पर वर्षा ऋतु में अधिक वर्षा होने से बाढ़ आती है। कुछ नदियों में ग्रीष्म ऋतु के प्रारंभ में हिम पिघलने से बाढ़ आ जाती है। भारत की सिन्धु नदी में हिमालय की बर्फ पिघलने से गर्मी में बाढ़ आया करती है। बहुत सी नदियों के उद्गमस्थान पर वनस्पति के कट जाने से वर्षा का जल स्वच्छन्द गति से बहकर नदी में मिल जाता है और नदी में बाढ़ आ जाती है। इन्हीं कारणों से नदी में जल की मात्रा बढ़ जाती है और जल किनारों के दोनों ओर बहुत दूर तक फैल जाता है। इन स्थानों पर जल की गति मन्द हो जाती है। फलतः नदियों के द्वारा बहाकर लाई हुई मिट्टी इन किनारों पर जमा हो जाती है। इस प्रकार बाढ़ द्वारा अत्यन्त उपजाऊ मैदानों का निर्माण होता है। जब कभी मुख्य नदी और उसकी सहायक नदियों के बीच का भूमिभाग क्षय होकर एक बड़ी घाटी का रूप धारण कर लेता है तो इस प्रकार समतल बने हुए मैदान को दोआब कहते हैं।

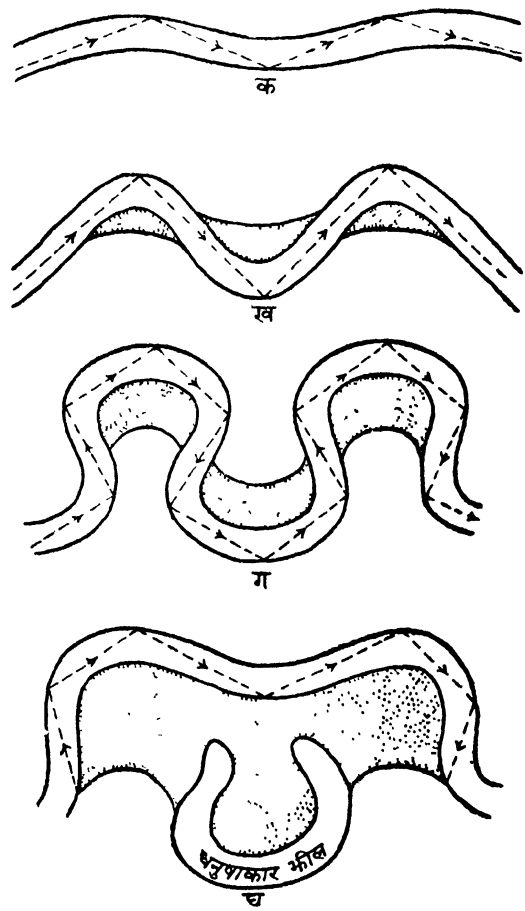

चित्र ६२.
नदी के घुमावदार मार्ग का विकास।

इन विस्तृत समतल मैदानों में नदी का मार्ग घुमावदार (Meandering)

होता है। जब नदी की तली (Channel) चौड़ी हो जाती है तो नदी की प्रवाह-गति धीमी हो जाती है। ऐसी अवस्था में नदी की काँप का कुछ भाग तली में जमा होने लगता है और नदी की गति में बाधा उत्पन्न होती है। फलतः नदी सीधे बहने की अपेक्षा किनारों की ओर अधिक झुकने लगती है। चूँकि नदी के किनारे उसी की काँप के बने होते है अतः जल्दी कट जाते है और नदी के बहाव में थोड़ा-सा घुमाव उत्पन्न हो जाता है। जब कटान नदी के एक किनारे पर अधिक बढ़ जाती है तो उसकी वृद्धि होना स्वाभाविक है। धीरे-धीरे घुमाव के दोनों अन्तिम सिरे समीप आने लगते हैं और नदी का घुमाव नव-चन्द्राकार बन जाता है। किसी बाढ़ के समय नदी इन दोनों सिरों की बीच की भूमि को काट देती है और उस घुमाव को छोड़कर सीधी बहने लगती है। घुमाव वाली नवचन्द्राकार एवं जल भरी शाखा को धनुषाकार झील (Ox-bow lake) कहते है। इस प्रकार की धनुषाकार झीलें संयुक्त राज्य के दक्षिणी भाग में मिलती है। बाढ़ के समय काँप के जमा होने तथा वर्षा के पानी के साथ किनारे की बही हुई मिट्टी के भर जाने से ये झीलें कालान्तर में विलुप्त हो जाती है।

इस प्रकार के कई बाढ़ प्रदेशों में एक विशेषता और भी पाई जाती है। धरातल के किसी उथल-पुथल के परिणामस्वरूप जब कभी ऐसा प्रदेश कुछ ऊँचा उठ जाता है, तो पुरानी नदी में नवजीवन का संचार हो जाता है और नदी अपनी घाटी को गहरा काटने लगती है। इस कटान के कारण नवीन घाटी का निर्माण होने लगता है और पुराना मैदान ऊँचे चबूतरो के रूप में इस घाटी से स्पष्ट अलग दिखाई पड़ता है। इन ऊँचे-ऊँचे चबूतरो को काँप के ऊँचे मैदान या बेंच (Alluvial Terraces) कहते है। इन ऊँचे चबूतरों पर बाढ़ का पानी नहीं पहुँच पाता क्योंकि ये नवीन घाटी से काफी अधिक ऊँचे होते है।

१८५. पर्वत प्रान्ती काँप के मैदान या भावर (Piedmont Alluvial Plains)—जब नदी पर्वतीय प्रदेश को छोड़कर मैदान में पहुँचती है तो उसको पहले की अपेक्षा धीमे ढाल पर बहना होता है जिससे उसकी गति में परिवर्तन हो जाता है। पर्वतीय प्रदेश में तीव्र गति से बहने के कारण उसके साथ बड़े आकार के शिलाखण्ड भी बहते चले आये थे। परन्तु गति में परिवर्तन होते ही वे नदी के मार्ग में ही जमा होने लगते है। धीरे-धीरे इनकी मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि नदी का प्रवाह अवरुद्ध होने लगता है और नदी कई धाराओं में फैलने लगती है। इन अवरुद्ध स्थानों पर नदी की काँप जमा होने लगती है और धीरे-धीरे पंखे के आकार की तरह मैदान फैलने लगता है। इस प्रकार के मैदानों को भारतवर्ष में भावर के मैदान कहा जाता है।

पर्वत-प्रान्ती मैदान का विस्तार नदी के जल की मात्रा और उसके साथ

बहाये हुए पदार्थों के परिमाण पर निर्भर रहता है। ऐसे मैदान प्रायः मोटी बजरी और मोटी बालू के बने हुए होते हैं। इनका ढाल पर्वततल के समीप अधिक होता है, परन्तु आगे की ओर कम होता जाता है। ढालू मैदानों में पानी जल्दी बह जाने के कारण इनमें सिंचाई की बड़ी समस्या बनी रहती है। अतः सामान्यतया इन मैदानों में खेती करने में बड़ी कठिनाई पैदा होती है। पर्वततल से कुछ आगे की ओर मैदान बारीक मिट्टी से बने होने के कारण खेती के उपयुक्त होते हैं। संसार के प्रसिद्ध पर्वत-प्रान्ती मैदानों में चिली की घाटी, स्पेन का वैलेनशिया प्रदेश, तारिय बेसिन, समरकन्द प्रान्त तथा केलीफोर्निया में सैक्रेमैन्टो और सैन जोआक्विन घाटियाँ सम्मिलित हैं।

१८६. हिमानी द्वारा निर्मित मैदान (Drift Plains)—हिमानी के अन्तिम सिरे पर हिम पिघल-पिघलकर जल के रूप में बहता जाता है। इस प्रकार की जलधारा में छोटे-छोटे शिलाखण्ड, बजरी, बालू, कीचड़, मिट्टी आदि मिले रहते हैं। कहीं-कहीं यह जल को इतना गँदला बना देते हैं कि जल दूध-जैसा श्वेत प्रतीत होता है। हिमालय में कई जगहों पर लोग इन्हें दुग्धधाराओं के नाम से पुकारते हैं। ये पदार्थ धीरे-धीरे तलैटी में जमा होने लगते हैं। पहले बड़े-बड़े शिलाखण्ड और फिर बड़े और छोटे रोड़े और फिर बालू आदि जमा होते हैं। इस प्रकार बहुत से मैदानों का निर्माण हुआ है।

महाद्वीपीय हिमावरण ने प्राचीन काल में उत्तरी अमेरिका और योरोप के विशाल विस्तृत भाग में पत्थरों के टुकड़ों, मिट्टी, बालू आदि की मोटी परत बिछा दी जिससे बहुत बड़े मैदानों का निर्माण हुआ। ये मैदान मानव के उपयोग की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ये मैदान विश्व के सबसे अधिक घने बसे हुए भागों में हैं और इनकी अत्यधिक उन्नति हुई है।

१८७. हवा के जमाव द्वारा निर्मित मैदान—हवा के निक्षेप द्वारा एशिया, योरोप, उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिकाओं में लोयस मैदान बन गये हैं। इन मैदानों में चीन का उत्तर-पश्चिमी मैदान सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इन मैदानों का वर्णन हवा के निक्षेपात्मक कार्य में किया जा चुका है।

१८८. तटीय मैदान (Coastal Plains)—भौगर्भिक शक्तियों की उथल-पुथल के कारण जब कोई महाद्वीपीय निमग्न तट (Continental Shelf) जल से बाहर निकलकर महाद्वीप का अग बन जाता है तो यह नवीन भूभाग तटीय मैदान बन जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) का दक्षिण-पूर्वी तट इसी प्रकार समुद्र से निकलकर तटीय मैदान के रूप में परिणित हुआ था। समुद्री लहरें भी अपने साथ मिट्टी लाकर तट के पास जमा करती रहती हैं और कालान्तर में तटीय मैदान बन जाता है। दक्षिण भारत का दक्षिण-पश्चिमी तट इसी प्रकार बना था।

१८६. मैदानों से लाभ : (१) खेती की सुविधायें—मैदानों में खेती की पूर्ण सुविधायें है। अन्य प्राकृतिक भागों के विपरीत मैदान समतल होते हैं, अतः इनकी मिट्टी वर्षा के साथ घुलकर बह नहीं जाती। नदियाँ इन मैदानों में उपजाऊ मिट्टी बिछाती रहती है। दूसरे, यदि मैदानों में वर्षा की कमी होती है तो नहरों द्वारा सिंचाई करके इन्हें उपयोगी बनाया जा सकता है। भूमि समतल होने के कारण सिंचाई के साधन सरलतापूर्वक और कम खर्च में बनाये जा सकते हैं।

(२) यातायात की सुविधायें—मैदानों में रेलें और सड़कें सरलता से बन जाती है तथा आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध होती है। मैदानों में नदियों का बहाव धीमा होता है, अतः उनमें नावें और जहाज़ चल सकते हैं। उदाहरण के लिए ब्रह्मा की इरावदी नदी में भामो नगर तक जहाज़ जा सकते है।

(३) मनुष्य को बसने की सुविधायें—जैसा कि पहले कहा जा चुका है मदान प्राचीन समय से मनुष्य के क्रीड़ाक्षेत्र रहे है। आज भी संसार की तीन चौथाई से अधिक जनसंख्या मैदानों में ही निवास करती है। मैदानों में उत्तम जलवायु और उपजाऊ मिट्टी मिलती है जिससे अधिकाश लोग वही रहते है। मैदान आर्थिक जीवन की धुरी होते हैं अतः वहीं पर बड़े-बड़े नगर बस जाते है।

पन्द्रहवाँ अध्याय

पर्वत (Mountains)

१६०. महत्त्व—स्वच्छ धवल हिम-मण्डित गिरिश्रृंगों द्वारा उच्च नीलाम्बर से सदर्प बातें करते, हरी-हरी घास और विविध भाँति की पुष्पमयी वृक्षावलि का परिधान धारण कर मानव की कौतूहलजन्य जिज्ञासा को जाग्रत करते, अपूर्व सौन्दर्य-शालिनी झीलों एवं कलकलनिनादिनी नदियों को काँख में दबाये, विश्वमोहिनी छटा से दर्शकों को विमुग्ध करते पर्वत प्रदेश पृथ्वी के रहस्यमय पिटारे है। प्रकृति की कौन सी लीला ने सहस्रों फीट ऊँची इन लम्बाकार दीवारों को धरातल पर खड़ा किया होगा, यह आज भी रहस्य ही है। इस रहस्य को जानने के जो प्रयत्न हुए हैं उनसे कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पता चला है। इन्ही तथ्यों की सहायता से प्रकृति की अज्ञात व्यवस्था की एक झाँकी मिली है।

१६१. प्रथम विशेषता (प्रस्तरीभूत चट्टानें)—पर्वतीय प्रदेशों के अध्ययन से एक अत्यन्त महत्त्व की बात प्रकट हुई है। इन प्रदेशो में प्रायः सर्वत्र ही प्रस्तरीभूत चट्टानें (Sedimentary Rocks) पाई गयी है। जैसा कि हम पहले पढ़ चुके है प्रस्तरीभूत चट्टानों का जन्म समुद्र के भीतर होता है। आल्प्स पर्वतमाला में चूने का पत्थर विशाल मेहराबों (Arch) के रूप में इस प्रकार मुड़ गया है मानो मोम का बना हुआ हो। हिमालय पर्वतमाला में स्लेट-पत्थर आंशिक रूप से रूपान्तरित होकर दूसरे प्रकार की चट्टानो के बीच मे फँसा हुआ है। इस प्रकार सभी पर्वतों में समुद्र में बनी हुई प्रस्तरीभूत चट्टानों का बाहुल्य है। इससे प्रकट होता है कि पर्वतों का जन्म भी समुद्र में ही हुआ है।

१६२. द्वितीय विशेषता पर्वतों की वक्राकृति—संसार के मानचित्र में पर्वत-प्रणालियों के अध्ययन से दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता चला है। संसार के प्रमुख पर्वतों की स्थिति समुद्रतट के समानान्तर दिखाई पड़ती है। दोनों अमेरिकाओं में पर्वतश्रेणियाँ पश्चिमी तट के समानान्तर उत्तर से दक्षिण तक चली गयी हैं और यूरेशिया में ये श्रेणियाँ दक्षिणी तट के समानान्तर पूर्व मे पश्चिम तक फैली ई हैं। इन पर्वतश्रेणियों की आकृति टेढ़ी-मेढ़ी है। आश्चर्य तो यह है कि यह टेढ़ी-मेढ़ी आकृति इन पर्वतों से पहले बने हुए भूभागों की आकृति से हूबहू मिलती है। उदाहरण-स्वरूप हिमालय की आकृति तलवार की तरह है जो दक्षिण भारत की उत्तरी आकृति से मिलती-जुलती है। पश्चिम में अरावली और नमक की पहाड़ियों के कारण हिमालय का पश्चिमी भाग कुछ उत्तर की ओर झुक गया है और फिर दक्षिण-

पश्चिम की ओर चला गया है। पूर्व में यह पर्वत आसाम में होते हुए दक्षिण को फैल गया है। इसी प्रकार योरोप में आल्प्स पर्वत फ्रान्स के पठार और बोहेमिया के पठार की आकृति के अनुरूप टेढ़ा हो गया है। कारपेथियन पर्वत बोहेमिया के पठार और रूमानिया के पठार के अनुसार टेढ़ा हो गया है। इन नवीन मोड़दार पर्वतों (Young Folded Mountains) की कई श्रेणियाँ है। हिमालय में तीन श्रेणियाँ है। तारीफ-तो-यह है कि इन पर्वतों की सभी श्रेणियाँ अपनी प्रधान श्रेणी की तरह ही टेढ़ी हो गयी है। विश्व की पर्वत-प्रणालियों में कहीं भी इस नियम का उल्लंघन नही हुआ है। इन पर्वतों का इस प्रकार लहरों की तरह टेढ़ा हो जाना एक महत्त्व-पूर्ण तथ्य है। इस तथ्य के आधार पर ही यह अनुमान किया गया कि धरातल पर अगल-बगल अथवा क्षितिजोत्तर (Horizontal) भिचाव पड़ने से ही इन लहरदार पर्वतमालाओं का जन्म हुआ होगा। इसी अनुमान के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि यूरेशिया महाद्वीप में भिचाव का जोर दक्षिण दिशा से आया होगा। इसी प्रकार उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकाओं में भिचाव का प्रभाव पश्चिम दिशा से आया होगा। इस अगल-बगल के (क्षितिजोत्तर) भिचाव की सत्यता के प्रमाण में एक और तथ्य का पता चला है। यह तथ्य मोड़दार पर्वतों में प्रतिनति-ग्रीवा क्षेत्र या नेप क्षेत्र (Nappe Zone) का पाया जाना है। जब धरातल पर भिचाव का जोर अधिक होता है, तो प्रतिनति (Anticline) का ऊपरी भाग (जिसे उसकी ग्रीवा कहते है) टूटकर सैकड़ों मील दूर जा पहुँचता है। इस स्थान की चट्टानों की संरचना (Structure) से इस नये आये हुए ग्रीवाखण्ड (Nappe) का कोई सम्बन्ध नहीं होता। यदि भिचाव की हलचल कई बार होती है, तो एक ग्रीवाखण्ड के ऊपर दूसरा आरोपित हो जाता है। उदाहरण के लिए निर्माणकाल की दृष्टि से गढ़वाल ग्रीवाखण्ड क्रोल ग्रीवाखण्ड से पुराना है, अतः क्रोल के नीचे स्थित होना चाहिए। परन्तु हिमालय पर्वत में वह क्रोल ग्रीवाखण्ड के ऊपर आरोपित है। जिस भाग में ऐसे ग्रीवा-खण्ड पाये जाते है उसको ग्रीवा क्षेत्र कहते है। एपेलेचियन जैसे एकाध पर्वत में प्रतिनति और संनति के रूप में साधारण मोड़ें और साधारण स्तर भ्रंश भले ही हों, किन्तु आल्प्स और हिमालय-जैसे पर्वतों में तो मोड़ की अनेकों जटिलतायें मिलती है जिनमें ग्रीवा क्षेत्र एक प्रमुख जटिलता है। कई स्थानों पर अपेक्षाकृत नई चट्टानों के ऊपर आरोपित पुरानी चट्टानों का कुछ भाग घिस-घिसाकर हट गया है और नीचे की नई चट्टान दिखाई देने लगी है जिससे उस भाग की संरचना का कुछ सूत्र हाथ आ जाता है। इस प्रकार दिखाई देने वाले नई चट्टान के भाग को सरचना-द्वार (Structural window) कहते है। नवीन मोड़दार पर्वतों में इस प्रकार की अनेको जटिलतायें पहिचानी जा चुकी हैं। उदाहरण के लिए हिमालय के एक भाग का परिचय देना

असंगत न होगा—

१६३. हिमालय के शिमला क्षेत्र की संरचना (Structure)—पिन्ग्रम और वैस्ट नामक वैज्ञानिकों ने शिमला क्षेत्र का अध्ययन करके पता लगाया है कि इस क्षेत्र

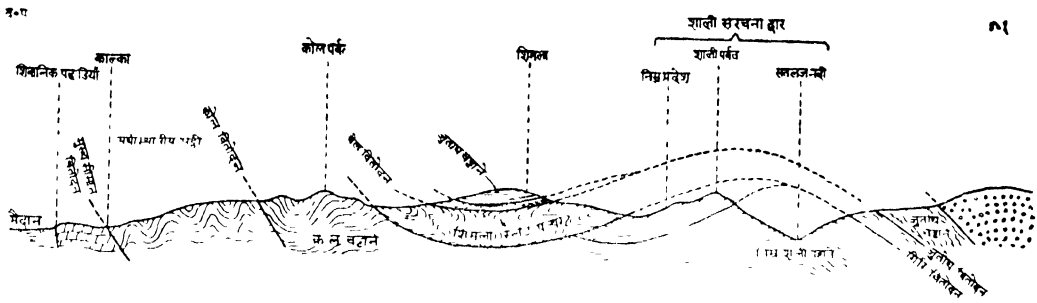

चित्र ६३. हिमालय के शिमला क्षेत्र की संरचना।

में स्ट्रेटा चार या पाँच रेखाओं पर टूट गया है। इस तरह टूट जाने से विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग युग की चट्टानें मिलती हैं। काल के अनुसार चट्टानों को अलग करने वाली रेखा को यहाँ वितोदन (Thrust) नाम से पुकारा जायगा। शिमला क्षेत्र में सबसे पहले मुख्य सीमान्त वितोदन (Main Boundary fault) मिलता है जो शिवालिक पर्वत को हिमालय की मुख्य चट्टानों से अलग करता है। यह मुख्य चट्टानें प्राचीन नवकल्प अथवा टरशरी काल में बनी थीं। इन चट्टानों की पट्टी को यथास्थानीय पट्टी (Autochthonous Belt) कहा जाता है। यह नाम इसलिए पड़ा है कि जो चट्टानें इस स्थान पर बनी थी वे धक्के के कारण लहरों के रूप में टेढ़ी जरूर हो गई हैं परन्तु अपने स्थान से हटकर दूर नहीं गई है। पुरानी चट्टानें प्रतिनति-सनति के रूप में ज्यों की त्यों यथास्थान मौजूद हैं। इस पट्टी को क्रोल वितोदन ने तोड़ दिया है। इस दरार से आगे क्रोल चट्टानें मिलती है। क्रोल चट्टानों के बाद ग्रीवा-क्षेत्र (Nappe Zone) आता है जिसकी दोनों तरफ जुतोध और गिरि वितोद है। इस क्षेत्र में जुतोध और चेल चट्टानें पाई जाती है। उत्तर की ओर शाली शिखर के पास चेल वितोद (Chail Thrust) ने एक संरचना-द्वार खोल दिया है जिसमें टरशरी काल का स्लेट-पत्थर और चूने का पत्थर मिलता है। इस सरचना-द्वार (Structural window) ने हिमालय पर्वत के निर्माण-काल का साफ-साफ पता दे दिया है।

ऊपर के उदाहरण में संरचना सम्बन्धी जिन जटिलताओं का वर्णन किया गया है उनसे यह पता चलता है कि पर्वतों को निर्माण करने वाले ये धक्के कितने भयंकर होते होंगे। इन प्रभावशाली धक्कों के कारण ही मोड़ों में अनेकों जटिलतायें पैदा होती हैं।

१६४. तीसरी विशेषता (स्ट्रेटा की मोटाई)—पर्वत प्रदेशों के अध्ययन में एक

और महत्त्वपूर्ण तथ्य का पता चला है। सबसे पहले संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) के पूर्वी भाग में इस तथ्य की ओर लोगों का ध्यान गया। इस भाग में धरातल पर सर्वत्र समुद्र में पैदा होने वाली प्रस्तरीभूत चट्टानें बिछी हुई थीं। परन्तु इन चट्टानों की मोटाई सब जगह एक समान नहीं थी। मिसीसिपी के बेसिन में इन चट्टानों का स्ट्रेटा (स्तर) अधिक-से-अधिक ४,००० फीट मोटा निकला। इसके विपरीत एपेलेचियन क्षेत्र में इन चट्टानों का स्तर ४०,००० फीट मोटा पाया गया। मिसीसिपी के क्षेत्र में इन चट्टानों में मोड़ नहीं थे किन्तु एपेलचियन क्षेत्र में स्ट्रेटा में मोड़ थे। इसका अर्थ यह हुआ कि **जिस क्षेत्र में स्ट्रेटा (स्तरों) में मोड़ पड़े हैं वहाँ के स्ट्रेटा की मोटाई उस स्थान के स्ट्रेटा की मोटाई से कई गुनी अधिक है जहाँ पर उसमें बिलकुल मोड़ें नहीं पड़े हैं।** इसके बाद योरोप के पर्वतों की भी खोज की गई तो पता चला कि आल्प्स क्षेत्र की प्रस्तरीभूत चट्टानों का स्ट्रेटा अपने उत्तर वाले स्ट्रेटा से दुगुना या तिगुना मोटा है। इस अनुसन्धान से यह भी पता चला कि अधिक मोटे स्ट्रेटा वाले क्षेत्र की लम्बाई तो अधिक है परन्तु उसकी चौड़ाई बहुत कम है। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी लम्बे परन्तु संकीर्ण या कमचौड़े गड्ढे में स्थल की छीलन भरने से ही स्तर के मुड़ाव वाले क्षेत्र का निर्माण हुआ होगा। डाना नामक वैज्ञानिक ने १८७३ ई० में इस प्रकार के लम्बे और संकीर्ण गडढों का नाम ज्योसिनक्लिनल रक्खा और अब उन्हें ज्योसिनक्लाइन या भू-सनति कहते है। अब आप समझ गये होंगे कि पर्वत-निर्माण के लिए सबसे पहली आवश्यक शर्त यह है कि उपर्युक्त प्रकार की लम्बी और संकीर्ण भू-संनति (Geosyncline) बने और उनमें स्थल की चूरचार भरती जावे।

१६५. भू-संनति (Geosyncline) उथले समुद्र हैं—स्तर के मुड़ाव वाले क्षेत्रों म प्रस्तरीभूत चट्टानों की मोटाई की विशालता भी विचारणीय है। इस विशाल मोटाई से यह अनुमान हो सकता है कि मोड़दार पर्वतों का निर्माण गहरे समुद्रों में हुआ होगा। परन्तु अधिकांश चट्टानों के अध्ययन से बिलकुल उल्टी ही बात सिद्ध होती है। इन चट्टानों को खुरचने से जो चूर अलग होती है उसके कण बहुत मोटे होते है। इन कणों को देखने से यह प्रतीत होता है कि परिवहन की शक्तियों (Transporting Agents) ने पास के ही स्थल भाग से इस चूर को बहाकर उथले सागर में पटक दिया होगा। हिमालय आदि पर्वतों की प्रस्तरीभूत चट्टानों में सामुद्रिक वनस्पतियों की अथवा जीवों की जो छाप या अवशेष अस्थिपंजर (Fossils) मिले हैं उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि इन पर्वतों की निर्माण-सामग्री उथले समुद्रों में ही एकत्रित हुई है। परन्तु अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है। इतनी अधिक सामग्री उथले समुद्रों में किस प्रकार एकत्र हो सकती है। इसके कुछ अश के जमा होने से ही उथला समुद्र पट जाना चाहिए। ४०,००० फीट मोटा स्ट्रेटा उथले समुद्र में किस प्रकार जमा

हो सकता है। इस समस्या का एकमात्र समाधान यही हो सकता है कि ज्यों-ज्यों उथला समुद्र शिलाचूर्ण से पटता गया, त्यों-त्यों समुद्र की तली भी नीचे की ओर धँसती गई और उसमें अधिकाधिक चूर जमा होती गई। दूसरे शब्दों में भू-संनति उन लम्बे और संकीर्ण गड्ढों को कहते हैं जिनकी तली धीरे-धीरे नीचे धँसती जाती हो।

१६६. भू-संनति की तली का नीचे धँसना—पहले यह समझा जाता था कि शिलाचूर्ण के भार से ही तली नीचे धँसती है। अर्थात् ज्यो-ज्यो शिलाचूर्ण का भार बढ़ता गया, त्यों-त्यों तली भी धँसती गई। इस प्रकार शिलाचूर्ण की तह एक फुट ऊँची हो गई, तो समुद्र की तली भी एक फुट नीचे धँस गई। हम सन्तुलन के सिद्धान्त पर विचार करते समय यह स्थिर कर चुके हैं कि भू-पटल का सन्तुलन स्थानीय नहीं होता किन्तु प्रादेशिक होता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि केवल समुद्र की तली ही नीचे का ओर नही धँसती, बल्कि सन्तुलन स्थापित रखने के लिए सम्पूर्ण प्रदेश या क्षेत्र ही ऊँचा-नीचा होता है। इससे यही मानना पड़ेगा कि समुद्र की तली धीरे-धीरे परन्तु **निरन्तर** नीचे की ओर धँसती जाती है।

१६७. तली के नीचे धँसने के कारण—(क) कुछ विद्वानों के मत से इसका कारण धरातल पर तनाव (Tension) का उत्पन्न होना है। तनाव के कारण स्थान विशेष पर भू-पटल की लम्बाई बढ़ती जाती है और मोटाई घटती जाती है। मोटाई घटते-घटते कोई भाग इतना पतला हो जाता है कि वह नीचे को लचक जाता है और इस प्रकार भू-संनति का निर्माण हो जाता है।

(ख) दूसरे विद्वानो के मत से इसका कारण भिचाव (Compression) है। भिचाव से कुछ भाग नीचे की ओर धँस जाता है और कुछ ऊँचा उठ जाता है। ऊँचे उठे हुए भाग से चट्टानों की छीलन धँसते हुए भाग में एकत्र हो जाती है। यह नीचे धँसता हुआ भाग भिचाव का जोर पड़ते रहने के कारण अधिकाधिक नीचे की ओर धँसता जाता है, परन्तु साथ-ही-साथ ऊपर उठते हुए भाग की छीलन से उठता भी जाता है।

(ग) होम्स प्रभृति विद्वानों के अनुसार अधःस्तर (Substratum) से सवाहन-धारायें ऊपर की ओर चलती है। ये धारायें ऊपरी ठोस परत के नीचे पहुँचने के बाद इधर-उधर ध्रुवों की तरफ चल पड़ती है। ये धारायें ऊपरी ठोस परत के नीचे से उसके कुछ भाग को भी बहा ले जाती हैं। जिससे वहाँ एक गड्ढा-सा बन जाता है। इसी को भू-सनति कहते है।

१६८. भू-संनति एक तथ्य—भू-सनति के बनने की चाहे जो क्रिया-विधि (Mechanism) हो, परन्तु इसका निर्माण एक तथ्य है जिसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। कुछ विद्वानों ने आधुनिक समय की भू-संनतियों की स्थिति जानने का प्रयत्न किया है। उनके मत से प्रशान्त महासागर के तट के समीप का गर्त

वर्तमान काल की भू-संनति है। कैलीफोर्निया की घाटी भी भू-संनति का भाग जिसका दक्षिणी भाग जलमग्न है। इसी प्रकार गंगा, सिन्ध का मैदान इस भू-संनति का भाग है जो आंशिक रूप से पट चुकी है।

१९९. भू-संनति में मुड़ाव पड़ना—इस प्रकार भू-संनति नीचे धँसती जाती है और शिलाचूर्ण से पटती जाती है। धीरे-धीरे भू-संनति के भीतर जमा हुई अन्तर्वस्तु की मोटाई हज़ारों फीट तक पहुँच जाती है। इस जमे हुए शिलाचूर्ण का बहुत सा भाग पूरे तौर से सख्त चट्टान के रूप में नहीं जम पाता, किन्तु काफी नरम बना रहता है। अतः भू-संनति के भीतर हज़ारों फीट की गहराई तक जमा हुई अन्तर्वस्तु नरम होने के कारण भूपृष्ठ का निर्बल क्षेत्र (Zone of Weakness) कही जाती है। यदि इस निर्बल क्षेत्र को दोनों ओर से भींचा जाय, तो इसमें ऊँची-नीची सिकुड़नें पड़ेंगी। अधिक ज़ारदार भिचाव पड़ने पर ग्रीवा-खण्ड (Nappe) टूटकर अलग जा गिरेंगे। स्पष्ट है कि भिचाव के कारण मोड़ पड़ने से धरातल छोटा होता जायगा।

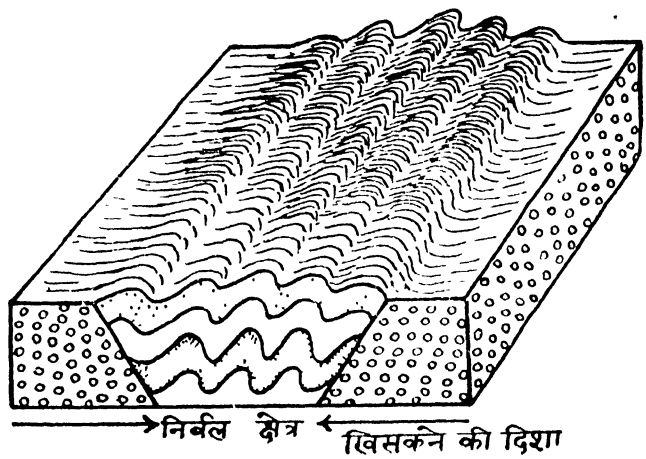

चित्र ६४.

२००. अग्रदेश और पृष्ठ देश (Foreland and Hinterland)—भू-संनति के लम्बे और संकीर्ण गर्त में जमा होने वाली अन्तर्सामग्री में मोड़ें पड़ने के लिए यह आवश्यक है कि भू-संनति के दोनों सिरे सण्डासी की दोनों नोकों की

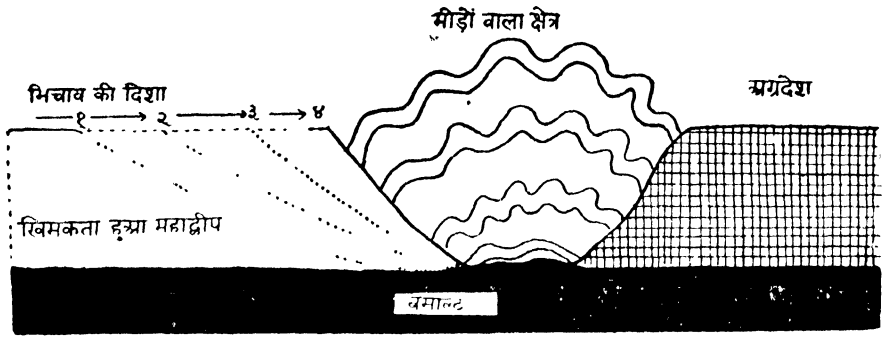

चित्र ६५.

तरह एक दूसरे के समीप आने लगें। इसी कल्पना के आधार पर विद्वानों ने यह अन्दाज़ लगाया कि महाद्वीप अपने स्थानों से खिसककर आगे या पीछे चले जाते हैं।

महाद्वीपों के इधर-उधर खिसकने से धरातल पर भिचाव पैदा होता है और भिचाव से भू-संनति के निर्बल क्षेत्र में स्तर का मुड़ाव उत्पन्न हो जाता है। अस्तु, महाद्वीपों के खिसकने से धरातल पर भिचाव (Compression) उत्पन्न होना पर्वत-निर्माण की दूसरी महत्त्वपूर्ण अवस्था है। आल्प्स पर्वत के पश्चिमी भाग का अध्ययन करने के पश्चात् आरगैण्ड नामक विद्वान् ने बताया कि अफ्रीका का पृष्ठदेश योरोप के अग्रदेश की ओर खिसकने लगा। इस प्रकार हटने से इन दोनों महाद्वीपों के बीच में ज्योसिनक्लाइन (भू-संनति) का एकत्रित भूपदार्थ भिचने लगा और उसमें मोड़ पड़ने लगे। फलतः दोनो के बीच में धरातल १,००० मील अर्थात् अक्षांश के १५ अंश के बराबर छोटा हो गया। आरगैण्ड और उसके अनुयायियों ने मोड़ों के विकास की कई अवस्थायें मानी है। प्रथम अवस्था में अफ्रीका के आगे खिसकने से दो बड़े मोड़ पड़े। इन दोनों मोड़ों के ऊँचे उठे हुए भाग (प्रतिनति) समुद्र से बाहर निकले हुए थे। दूसरे धक्के से दोनो ऊँचे उठे हुए भाग उत्तर की ओर खिसके और दक्षिणी मोड़ का कुछ भाग उत्तरी मोड़ के ऊपर चढ़ गया। तीसरे धक्के में दक्षिणी मोड़ ठीक उस स्थान पर पहुँच गया जहाँ से उत्तरी मोड़ अपने स्थान को छोड़कर आगे की ओर धकेल दिया गया था। अन्तिम धक्के में मोड़ में अनेकों जटिलतायें पैदा हो गयीं।

२०१. मध्य पिण्ड (Medium Mass)—कोबर नामक दूसरे विद्वान् ने बहुत से मोड़दार पर्वतो का अध्ययन करने के पश्चात् यह मत स्थापित किया कि धरातल पर भिचाव उत्पन्न होते समय पृष्ठदेश और अग्रदेश नहीं होते, किन्तु दो अग्रदेश होते है और उन दोनो के बीच में एक मध्यपिण्ड होता है। दोनों अग्रदेश सण्डासी के दोनों सिरों की तरह भिचते हैं। यदि दोनों अग्रदेशों के बीच में केवल मुड़ने वाली नरम चट्टानें ही होतीं, भी एक ही दिशा में मोड़ पड़ते। परन्तु वास्तव में ऐसा नही है। दो अग्रदेशों के बीच में एक कठोर पिण्ड मौजूद रहता है जिसको मध्यपिण्ड कहा जाता है। इस मध्यपिण्ड के बीच में आ जाने से दोनों ओर का नरम पदार्थ दो विपरीत दिशाओं में धकेल दिया जाता है। अतः मोड़ भी दो विपरीत दिशाओ में बन जाते है। कोबर ने योरोप के नवीन मोड़दार पर्वतों में मध्यपिण्ड बताये है। उसके मतानुसार भूमध्यसागर के पश्चिमी भाग में स्थित एक मध्यपिण्ड जलमग्न हो गया है। कोर्सिका और सार्डीनिया द्वीप उसी के अवशेष भाग है। कार्पेथियन पर्वत और डिनारिक आल्प्स के बीच में स्थित हंगरी का मैदान दूसरा मध्यपिण्ड है। इसी प्रकार बाल्कान प्रायद्वीप में रोड़ोप का पठार और तुर्की में अनातूलिया का पठार, तीसरा मध्यपिण्ड है। कोबर का मत है कि संसार की समस्त पर्वतमालाओं में इस प्रकार के मध्यपिण्ड बताये जा सकते हैं।

उदाहरण के लिए एशिया में अनातूलिया का पठार, ईरान का पठार और मध्य एशिया का पठार मध्यपिण्ड हैं। उत्तरी अमेरिका में कैरीबियन सागर, मैक्सिको का पठार और नेवादा प्रदेश आदि मध्यपिण्ड हैं। ये मध्यपिण्ड कहीं पर पठार के रूप में हैं और कहीं मैदान के रूप में हैं। बहुत से मध्यपिण्ड जलमग्न भी हो चुके हैं। कोबर की व्याख्या इतनी महत्त्वपूर्ण है कि इसमें बहुत कुछ सत्य प्रतीत होता है।

२०२. पर्वतों का ऊँचा उठना—धरातल पर भिचाव उत्पन्न होने से नरम चट्टान मुड़ जाती है। इन चट्टानों का एक भाग मेहराब की तरह ऊँचा उठ जाता है जिसे प्रतिनति (Anticline) कहते हैं, और दूसरा भाग नीचे झुककर अधःस्तर में धँस जाता है जिसे संनति (Syncline) कहते हैं। मुड़ते समय नरम चट्टानों पर स्थानीय संतुलन का प्रभाव पड़ता है। विद्वानों का मत है कि इस स्थानीय संतुलन को ठीक रखने के लिए ऊँची उठने वाली मोड़ (प्रतिनति) का आधा भाग नीचे की ओर धँसना चाहिए। इस प्रकार मोड़ का नीचे धँसने वाला भाग (संनति) अधःस्तर में मीलों नीचा पहुँच जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि धरातल पर मोड़ उत्पन्न होते समय भूमि का ऊँचा उठना अथवा नीचे की ओर धँसना आइसोस्टेसी या समतुलन द्वारा नियन्त्रित होगा और नवनिर्मित पर्वत समतुलन की दशा में छोड़ दिये जावेंगे। कुछ विद्वानों का यह मत है कि भिचाव का प्रभाव ही ऐसा होता है कि स्तर का मुड़ाव नीचे की ओर बहुत अधिक होता है। अतः मोड़ का नीचे धँसने वाला भाग काफी गहराई तक पहुँच जाता है। वहाँ अधःस्तर की गर्मी से फैलकर बढ़ने लगता है। जो कुछ भी कारण हो, मोड़ का नीचे वाला भाग काफी गहराई तक धँस जाता है।

मुड़ते समय केवल नरम भाग ही ऊँची-नीची मोड़ों के रूप में संतुलित होता है। दूसरे शब्दों में यह संतुलन तो केवल नरम भाग का स्थानीय संतुलन ही होता है। मुड़ाव-कार्य के समाप्त हो जाने पर प्रादेशिक संतुलन अपना प्रभाव दिखाता है। भिचाव के कारण नरम भाग में मोड़ ही नहीं पड़ते, किन्तु वह छोटा भी हो जाता है। अस्तु, प्रादेशिक समतुलन के प्रभाव से समस्त पर्वतीय क्षेत्र ऊँचा उठता है। कुछ विद्वानों की सम्मति में पर्वतों के ऊँचे उठने का कारण दूसरा ही है। भिचाव की परिस्थिति में स्तर का नीचे की ओर अधिक धँस जाना और नीचे धँसे हुए स्तर का अधःस्तर की भीषण गर्मी से तपकर फैलना ही बाद के ऊँचे उठने का कारण है। जो कुछ भी कारण हो, परन्तु मुड़ाव की समाप्ति पर अन्तिम बार पर्वतीय क्षेत्र का ऊँचा उठना एक विशेष घटना है। इसको पर्वत-निर्माण की तीसरी अवस्था माना गया है। इस अवस्था में स्तर के मुड़ाव वाला समस्त क्षेत्र ऊँचा उठता है। कभी-कभी पुराने समय के बने हुए पर्वतों की ऊँचाई पर्वत-निर्माणकारी किसी आगामी

हलचल के समय बढ़ जाया करती है। उदाहरण के लिए गिरि-प्रांगार युग (Permo-carboniferous) मे बने हुए एपेलेचियन पर्वत खटी युग (Cretaceous) में २,००० फीट ऊँचे उठ गये।

२०३. **पर्वत-निर्माण की तीन अवस्थायें**—पर्वत-निर्माणकारी तीन निम्न अवस्थायें है—

(१) **भू-संनति अवस्था**—इस अवस्था मे भू-संनति का निर्माण होता है तथा धरातल की छीलन से भू-संनति पटती जाती है।

(२) **पर्वत-निर्माण अवस्था**—इस अवस्था में स्तर में मुड़ाव पड़ता है जिससे पर्वत-प्रदेश का निर्माण होता है।

(३) **उत्थान अवस्था**—इस अवस्था मे समतुलन के प्रभाव से पर्वत ऊँचे उठते है।

अन्य प्रकार के पर्वत

अभी तक हमने माड़दार पर्वतो का वर्णन किया है। सच्चे अर्थो में तो मोड़दार पर्वत ही इस सज्ञा के अधिकारी है। परन्तु भौगोलिक दृष्टि से अन्यान्य ऊँचे भाग भी पर्वत कहलाते हैं।

२०४. **ज्वालामुखी पवत**—ज्वालामुखी पर्वत के उद्गार से निकला हुआ पदार्थ पृथ्वी तल पर इकट्ठा हो जाता है और धीरे-धीरे उस स्थान पर ऊँचा पर्वत जैसा बन जाता है। इस प्रकार के पर्वत ज्वालामुखी पर्वत कहलाते हैं।

२०५. **अवरोधी पर्वत** (Block Mountains)—जब कभी भू-पटल में गहरी दरारें उत्पन्न हो जाती हैं और दो दरारो के बीच का भाग ऊँचा उठ जाता है, तो पर्वत का रूप धारण कर लेता है। ऐसे पर्वतों को अवरोधी पर्वत कहते हैं। ये पर्वत उत्पत्ति और आकार आदि की दृष्टि से मोड़दार पर्वतों से भिन्न हैं। महत्त्व का दृष्टि से इन पर्वतों की कोई गणना नहीं की जाती।

२०६. **घिसाव (अनावृत्तिकरण) द्वारा निर्मित पर्वत**—पृथ्वी के धरातल के विकास-काल में अनेकों बार पर्वत-निर्माणकारी हलचलें हो चुकी हैं। ये हलचलें मानव-इतिहास में विप्लवों की तरह अल्पकालीन ही रही है। इन हलचलों की अवधि ही अल्पकालिक नहीं रही, किन्तु इनका प्रभाव-क्षेत्र भी पृथ्वी के कुछ भागों में ही सीमित रहा। इन हलचलों के पश्चात् बहुत लम्बी अवधि तक पृथ्वी तल पर शान्ति का साम्राज्य रहा। इन हलचलों का साधारण परिचय हम 'धरातल के इतिहास' में दे चुके है। पुराकल्प के प्रारम्भ होने के बाद भूतल पर तीन महत्त्वपूर्ण हलचलें हुईं। साइलूरियन (प्रबालादि) और डेवोनियन (मत्स्य) युगों के बीच में जो हलचल हुई उसे केलोडियन हलचल कहते हैं। इस हलचल के कारण स्काटलैण्ड

के पर्वत बने। दूसरी हलचल गिरि-प्रांगार युग (Permo-carboniferous) म हुई। इस हलचल को हरसीनियन, आरमोरीकन, ऐपेलेचियन अथवा अल्टाइट आदि कई नामों से पुकारा जाता है। इस हलचल से मध्य एशिया से पश्चिमी योरोप तक पर्वत बन गये। इसी समय ऐपेलेचियन पर्वत भी बने। अनावृत्तिकरण (Denudation) की क्रिया द्वारा ये प्राचीन पर्वत घिस डाले गये है। जो भाग घिसघिसाकर नष्ट होने से बचकर खड़े रह गये है उन्हे घिसाव से बने हुए पर्वत कह सकते है। बहुत से पर्वत घिसघिसाकर पठार मात्र रह गये है। मध्य योरोप के पठार और घिसाव से बचे हुए पर्वत हरसीनियन हलचल के समय बने थे। तीसरी हलचल टरशरी युग की आल्पाइन हलचल है जिसमें नवीन मोड़दार पर्वत बने।

२०७. पर्वतों से लाभ—पर्वत-प्रदेशो में मनुष्य को अनेकों असुविधाओं का सामना करना पड़ता है। प्रथम तो पर्वतो के ढाल इतने ऊँचे-नीचे होते है कि इन पर खेती करना असम्भव-सा है। दूसरे पर्वतीय भागों में उपजाऊ घाटियाँ बहुत ही संकीर्ण होती हैं। तीसरे पर्वतीय प्रदेशो पर मिट्टी का परत बहुत पतला होता है। इन कारणों से इन भागों में बहुत थोड़ी जनसंख्या निवास कर सकती है। इसके अतिरिक्त पर्वतीय प्रदेश अपनी ऊँचाई के कारण जन सम्पर्क में बाधक होते हैं। फलतः ये प्रदेश संस्कृति के विकास में सदा ही अवरोधक रहे हैं। परतु पर्वतों द्वारा मानव-जाति का अपरिमित कल्याण भी हुआ है। इनसे निम्न लाभ है—

(१) प्राचीन काल से ही मनुष्य अपनी रक्षा के लिए पर्वतों की शरण लेता रहा है। जीते हुए शत्रु से बचने के लिए लोग प्रायः पर्वतों की कन्दराओं में छिपकर रहते आये हैं। हमारे देश के उत्तर में स्थित हिमालय पर्वतमाला ने भारत की रक्षा के लिए चौकीदार का कार्य किया है।

(२) पर्वतीय प्रदेशों में ढालों पर विस्तृत चरागाह है जिन पर भेड़-बकरी आदि पशुओं को चराकर लोग अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

(३) बहुत से पर्वत जंगलों से आच्छादित हैं जिनकी लकड़ी तरह-तरह के कामों में आती है।

(४) पर्वतीय प्रदेशो पर भारी वर्षा होती है जिससे अनेकों नदियाँ निकलती है। इन नदियों से सिचाई, बिजली और जल-यातायात का काम लिया जा सकता है।

(५) पर्वतीय प्रदेशों की बनावट के कारण बहुत से खनिज-पदार्थ इनके समीप प्राप्त होते है।

(६) पर्वतीय प्रदेशों की जलवायु स्वास्थ्यवर्द्धक होती है और वहाँ के प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनमोहक होते है। इसीलिए घनी आबादी वाले भागों से लोग समीप के पर्वतों में सैर करने जाया करते हैं।

सोलहवाँ अध्याय

पठार

२०८. परिचय—भौगोलिक दृष्टि से पठार एक महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक इकाई है। स्थलमण्डल का बहुत बड़ा भाग पठारों से घिरा हुआ है। अफ्रीका महाद्वीप तो लगभग सारा ही पठारी है। सामान्यतया लोग समुद्रतल से ६०० फीट से अधिक ऊँचाई वाले विस्तृत भूखण्डों को पठार कहते है। परन्तु ऊँचाई की दृष्टि से पठार और मैदान का भेद करना ठीक नहीं है। विश्व के अधिकांश महान् पठार समुद्र से लगभग २,००० फीट ऊँचे हैं। यह भी सम्भव है कि कई मैदान पठारों से ऊँचे हों। अतः पठारों और मैदानों की ऊँचाई की कोई निश्चित माप नहीं है। पठारों और मैदानों का अन्तर समझने के लिए हमें दो बातों का ध्यान रखना पड़ेगा। प्रथमतः पठार का जहाँ अन्त होता है वहाँ से दूसरे प्राकृतिक भाग को अलग करने वाला ढाल प्रपाती (Steep) होता है। अर्थात् पठार अपने समीप के मैदान या समुद्रतल से एकदम ऊँचा होता चला जाता है। इसके विपरीत मैदान का ढाल सब कहीं क्रमिक (Gradual) होता है। दूसरे, पठार क्षय-चक्र की प्रथम अवस्था में होता है और मैदान उसकी अन्तिम अवस्था में होता है। दूसरे शब्दों में, पठार या पर्वतों के घिस-घिसाकर नष्ट हुए अवशेष का ही नाम मैदान है। पठार की परिभाषा करना कठिन है। परन्तु अस्पष्ट शब्दों में यह कहा जा सकता है कि पठार उस विस्तृत भूखण्ड को कहते हैं जो समुद्रतल से पर्याप्त ऊँचाई पर स्थित हो।

२०९. वर्गीकरण—पठारों का वर्गीकरण उनकी उत्पत्ति अथवा संरचना के अनुसार किया जाता है। उत्पत्ति के अनुसार पठारों के दो भेद है—(क) असंयुक्त पठार और (ख) मिश्रित पठार।

असंयुक्त पठार (Simple Plateaux)—असंयुक्त पठारों की उत्पत्ति प्रमुखतः एक ही प्रकार की चट्टानों से होती है। इन पठारों में दो भिन्न प्रकार की चट्टानों का मिश्रण नहीं पाया जाता। उत्पत्ति के मूल स्रोत के अनुसार इनके चार उपभेद किये जाते हैं—

(१) जलीय पठार, (२) वायव्य पठार, (३) हिम्य पठार और (४) उत्स्यन्द पठार।

२१०. जलीय पठार (Plateaux of Aqueous Origin)—जैसा कि इनके नाम से विदित है इन पठारों की उत्पत्ति जल के द्वारा हुई है। साधारणतया जल में मिश्रित पठारों का ही अधिकतर जन्म होता है। किन्तु कुछ असंयुक्त पठारों की रचना

भी होती है। चट्टानों के विभेद से पठारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—

(क) **बालुका-प्रस्तर अथवा उसकी रूपान्तरित चट्टानों द्वारा निर्मित**—डा० चिब्बर के मतानुसार मिर्ज़ापुर दक्षिण में फैला हुआ विन्ध्य पठार पूर्णतया बलुआ पत्थर से बना है। चेरापूंजी का पठार बलुआ पत्थर की एक किस्म चेरा पत्थरों का बना है। कहीं-कहीं बलुआ पत्थर के आंशिक अथवा पूर्ण रूपान्तरित चट्टानों के पठार भी पाये जाते हैं।

(ख) **चूने के पत्थरों से निर्मित पठार**—बहुत से पठार केवल चूने की चट्टानों से बने हैं। बर्मा का शान पठार चूने के पत्थरो से ही निर्मित हुआ है।

२११. **वायव्य पठार** (Plateaux of Aeolian Origin)—वायु द्वारा बने हुए पठारों में चीन के उत्तर-पश्चिम मे स्थित लोयस पठार सर्वोत्तम उदाहरण है। कुछ विद्वानों ने इसकी जल से उत्पत्ति मानी है, परन्तु जर्मन वैज्ञानिक रिचटोफैन ने इसकी उत्पत्ति पछुआ हवाओं से मानी है। इस पठार के भीतर स्थल के जीवो के अवशेष ही मिले है जो इसकी वायव्य उत्पत्ति को प्रमाणित करते हैं। नदियों ने इस पठार के नरम चट्टानों में बहुत गहरी घाटियाँ बना दी है। इन घाटियों के पार्श्व दीवार की तरह सीधे ऊँचे चले गये है। बहुत सी दीवारे सैकड़ों फीट ऊँची है। मनुष्यों और पशुओं के सदियों तक चलते रहने से यहाँ की पगडण्डियाँ भी इतनी नीची धँस गयी हैं कि दूर से दिखाई नहीं देतो। कुछ सड़कें सौ-सौ फीट नीची बताई जाती हैं। इन सड़को के आस-पास लोगो ने पठार की दीवारों को खोदकर अपने घर बना लिए है। पश्चिमी पाकिस्तान के रावलपिण्डी ज़िले में पोतवार का पठार है। उसमें भी ३०० फीट गहरी बहुत सी घाटियाँ हैं। पोतवार पठार का धरातल जलवायु शुष्क होने के कारण समतल जैसा ही है।

२१२. **हिम्य पठार** (Plateaux of Glacial Origin)—हिमानियों के घर्षण से अथवा जमाव से कुछ प्रदेश पठार रूप में बन गये हैं। कुछ भागों में ग्लेशियरों ने अपने मार्ग में पड़ने वाली पहाड़ियो और ऊँचे भागों को घिसघिसाकर पठार रूप में बदल दिया है। महाद्वीपीय हिमनदों ने ग्रीनलैण्ड और एण्टार्कटिक महाद्वीप को घिसकर पठार बना डाला है। डा० चिब्बर के अनुसार गढ़वाल पठार भी हिमानी के घिसने से बना है।

हिमानियों के जमा किये हुए पदार्थ से भी बहुत से पठार बन गये है। जर्मनी के उत्तर-पूर्वी कोने में प्रशिया का पठार इसी प्रकार बना है। हिम के पिघलने पर हिमानी के साथ लदकर आये हुए कंकड़, पत्थर, रेत, मिट्टी आदि जल के साथ बहकर चले जाते हैं और बीच ही में फैलकर जम जाते है। काश्मीर के ऐसे कई पठार हैं जो करेवा कहलाते हैं।

२१३. उत्स्यन्द पठार (Plateaux of Effusive Origin)—ज्वालामुखी के उद्गार से निकला हुआ लावा चारों ओर फैलकर पठार का रूप धारण कर लेता है। इन पठारों के सर्वोत्तम उदाहरण संयुक्त राज्य और दक्षिणी भारत में मिलते हैं। संयुक्त राज्य का कोलम्बिया राज्य मध्यनूतन युग (Miocene) तक पर्वतीय देश था। मध्यनूतन युग में इस प्रदेश में बसाल्ट लावा के फैल जाने से दो लाख वर्गमील भूमि समतल पठार बन गयी। समस्त घाटियाँ और मैदान हज़ारों फीट ऊँचे लावा के परत से ढँक गये और ऊँचे-ऊँचे पर्वत द्वीप-से दिखाई देने लगे। इस पठार की औसत मोटाई ३,३०० फीट समझी जाती है।

दक्षिणी भारत का लावा प्रदेश भी खटी युग (Cretaceous) के अन्त में लावा फैल जाने से बना। इस पठार की विशेषता यह है कि इसकी ऊँचाई विभिन्न स्थानों पर सीढ़ियों जैसी है।

२१४. मिश्रित पठार (Composite Plateaux)—जिन पठारों की उत्पत्ति कई प्रकार की चट्टानों से हुई है उन्हें मिश्रित पठार कहा जाता है। दक्षिण भारत का पठार इसका एक सर्वोत्तम उदाहरण है। यह पठार कई बार समुद्र गर्भ में विलीन हुआ और फिर बाहर निकल आया। फलतः इस पठार में विभिन्न काल की चट्टानें पायी जाती हैं। कहीं-कहीं पर आग्नेय, प्रस्तरीभूत और रूपान्तरित चट्टानें पास-पास देखी गयी हैं।

२१५. संरचना और बनावट के अनुसार पठारों का वर्गीकरण—संरचना और बनावट के अनुसार पठारों के तीन भाग हैं—(क) अन्तरापर्वतीय पठार, (ख) प्रान्ती पठार, और (ग) महाद्वीपीय पठार।

२१६. अन्तरापर्वतीय पठार (Intermontane Plateaux)—जो पठार लगभग सब ओर पर्वतों से

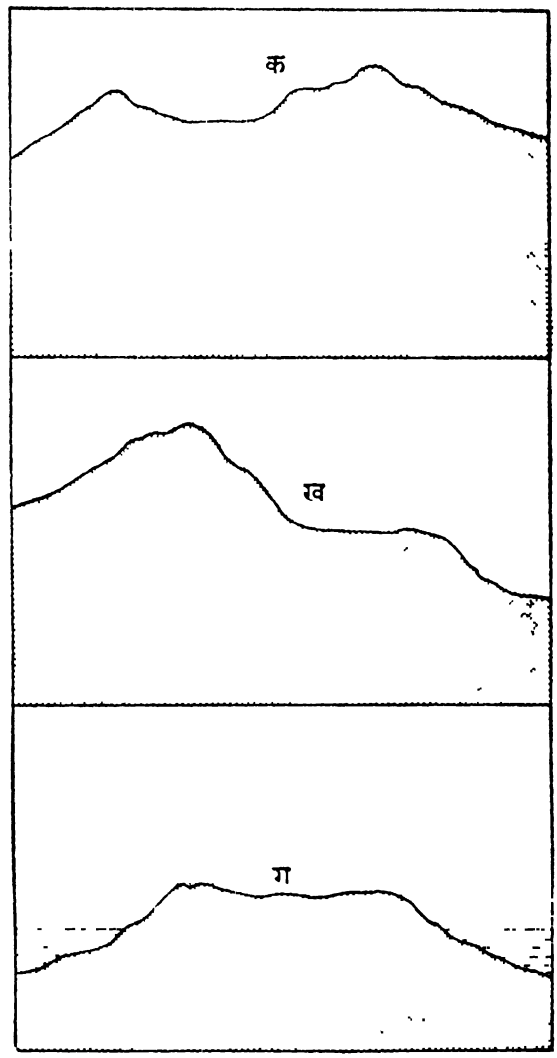

चित्र ६६. पठारों के भेद।

घिरे हुए हैं और संभवतः उनके साथ ही ऊँचे उठे हैं, वे अन्तरापर्वतीय पठार कहलाते हैं। संसार के सर्वोच्च पठार इसी श्रेणी में सम्मिलित हैं। हिमालय और क्यूनलुन पर्वतश्रेणियों के बीच में तिब्बत का ऊँचा और विस्तृत पठार है जो समुद्रतल से लगभग तीन मील की ऊँचाई पर स्थित है। इसी प्रकार का दूसरा ऊँचा पठार बोलविया का पठार है जिसकी ऊँचाई समुद्रतल से १०,००० और १५,००० फीट के बीच में है। तारिम का पठार और मंगोलिया का पठार आदि बहुत से पठार इसी विभाग में सम्मिलित हैं। (देखिये चित्र ६६ क)

२१७. प्रान्ती पठार (Piedmont Plateaux)—जो पठार पर्वतों और मैदानों अथवा पर्वतों और समुद्रों के बीच में स्थित हैं उन्हें प्रान्ती या सीमावर्ती पठार कहते हैं। कुछ अपवादों को छोडकर इन पठारों का विस्तार अत्यन्त सीमित भूभाग में होता है। एण्डीज़ पर्वत और अटलाण्टिक महासागर के बीच में स्थित पेटेगोनिया का पठार इस वर्ग का सबसे अच्छा उदाहरण है। (देखिये चित्र ६६ ख)

२१८. महाद्वीपीय पठार—इस वर्ग के पठार क्षेत्रफल की दृष्टि से बहुत बड़े होते हैं। समीप के मैदानों अथवा समुद्र से यह पठार स्पष्टतः ऊँचे उठे हुए ज्ञात होते हैं। मैदानों अथवा समुद्रतट से इन पठारों की एकदम ऊँचाई आरम्भ हो जाती है। सामान्यतः इन पठारों की सीमा पर कोई पर्वत नहीं होते। सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप एक विस्तृत पठार है। कहीं-कहीं संकीर्णतटीय मैदानों के अतिरिक्त शेष सब जगह यह महाद्वीप समुद्र से ऊँचा होता चला गया है। नील नदी को छोड़कर कोई भी नदी नीचे मैदान नहीं बना पाई है। दक्षिणी भारत, अरब, स्पेन, ग्रीनलैण्ड आदि देशों में इस वर्ग के पठार हैं। (देखिये चित्र ६६ ग)

२१९. जलवायु का पठारों की बनावट पर प्रभाव—पठारों की बनावट पर जलवायु का विशेष प्रभाव पड़ता है। विश्व के अधिकांश पठार शुष्क पठार हैं। अधिकांश पठारों के सूखे होने के कारण निम्नलिखित हैं:—

(१) कुछ पठार व्यापारिक हवाओं के मार्ग में पड़ते हैं, अतः वे शुष्क होते हैं।

(२) अन्तरापर्वतीय पठार प्रायः चारों ओर पर्वतों से घिरे होने के कारण हवाओं के वृष्टिछाया (Rain-shadow) वाले भाग में पड़ते हैं।

(३) भारत के दक्षिणी पठार की तरह कुछ पठारों का ऊँचा भाग वर्षा लाने वाली हवाओं के सामने ही पड़ता है जिससे ऊँचे भाग में खूब वर्षा हो जाती है और शेष पठार सूखा रह जाता है।

(४) अधिक वर्षा के क्षेत्रों में कोई भूभाग दीर्घकाल तक पठार की विशेषतायें बनाये नहीं रह सकता। जलधारायें इसको काट-काटकर पर्वतीय प्रदेश में बदल डालेंगी।

२२०. **शुष्क पठार**—वर्षा कम होने के कारण शुष्क पठार में भूमि प्रायः समतल होती है और नदियाँ नवीन अवस्था में होती हैं। जो नदियाँ अधिक वर्षा वाले भाग से बहती हुई आती हैं, वे शुष्क पठारों में गहरी घाटियाँ बनाती हैं। अत्यन्त गहरी घाटियों को केनयन (Canyons) कहते हैं। गहरी केनयन बनने के लिए निम्न परिस्थितियों का होना आवश्यक है :—

(१) शुष्क पठार के समीप में घनी वर्षा वाले पर्वतीय प्रदेश हों जहाँ से नदी शुष्क पठार में बहती हुई जाती हो और नीचे की ओर समुद्र में गिरती हो।

(२) नदी का ढाल इतना प्रपाती (Steep) हो कि उसके साथ बजरी आदि बहकर आती हो ताकि तली को काटने में सरलता रहे।

(३) पठार समुद्रतल से बहुत ऊँचाई पर स्थित हो।

(४) पठार की चट्टानें इतनी सख्त हों कि वे एकदम ऊँची खड़ी रह सकें।

(५) मौसमी क्षति बहुत ही धीमी गति से हो। पानी की कमी से ढाल की कटान कम होती हो।

इस प्रकार की केनयन आवागमन के मार्गों में बाधा उपस्थित करती हैं। घाटी के सँकरे होने के कारण उनमें रेलों या सड़कों का निर्माण कठिन होता है और नदी की प्रवाह-गति तीव्र होने के कारण जल-यातायात में भी असुविधा उत्पन्न होती है। केनयन घाटी के दोनों ऊँचे कगारों की दूरी इतनी अधिक होती है कि उन पर पुल बनाना काफी महँगा सौदा होता है। घाटी में पहुँचने के लिए सहायक घाटियों के टेढ़े-मेढ़े मार्ग ढूँढ़ने पड़ते है क्योंकि ऊँचे कगारों से नीचे घाटी में पहुँचना आसान नहीं है।

बहुत से शुष्क पठारों में और विशेषकर अन्तरापर्वतीय पठारों में नदियों का अन्तःप्रवाह (Inland Drainage) होता है। इन भागों की नदियाँ समुद्र में नहीं गिरतीं किन्तु किसी झील में या बड़ी नदी में जा मिलती हैं। उदाहरण के लिए तारिम के शुष्क पठार की आमू और सर नदियाँ खारी झील अरबसागर में मिलती हैं।

२२१. **आर्द्र पठार**—(Humid Plateaux)—जो पठार घनी वर्षा वाले भागों में स्थित होते हैं उन पठारों को नदियाँ काट-छाँटकर ऊबड़-खाबड़ बना देती है। उदाहरण के लिए, चेरापूंजी का पठार अत्यन्त आर्द्र जलवायु में स्थित होने के कारण स्थान-स्थान पर कट गया है। यहाँ पर बहुत सी घाटियाँ लगभग ३,००० फीट गहरी हैं।

किसी-किसी पठार को नदियों ने इतना अधिक घिस डाला है कि उसका पठारी रूप ही समाप्त हो गया है। उदाहरण के लिए आस्ट्रेलिया के पठार का पूर्वी भाग अधिक वर्षा के कारण अपना पठारी रूप खो चुका है। इस भाग में उत्तर से

ठेठ दक्षिण तक पठारी भाग घिसघिसाकर पहाड़ के रूप में फैला हुआ है। इसके विपरीत आस्ट्रेलिया का पश्चिमी पठार शुष्क जलवायु के कारण अपना पठारी रूप बनाये हुए है। इसी प्रकार ब्राजील के पठार का पूर्वी भाग भी वर्षा की अधिकता के कारण पहाड़ी प्रदेश के रूप में बदल गया है। ब्राजील के पहाड़ समुद्र की ओर दीवार के रूप में सीधे खड़े हैं जिससे उनके प्राचीन पठारी रूप का स्पष्ट आभास मिलता है।

२२२. **हिम पठार** (Ice Plateaux)—ग्रीनलैण्ड और एण्टार्कटिक महाद्वीप बर्फ से ढँके हुए पठारों के उदाहरण है।

२२३. **पहाड़ी प्रदेश** (Hill Lands)—समुद्रतल से ५०० फीट से २,००० फीट तक की ऊँचाई वाले ऊबड़-खाबड़ भूभाग को पहाड़ी प्रदेश कहते हैं। कुछ लोग भ्रमवश छोटे से टीले से लेकर ऊँचे पर्वत तक के लिए 'पहाड़ी' शब्द का प्रयोग करते है। हमें यहाँ पहाड़ी प्रदेश और पर्वतीय प्रदेश का अन्तर स्पष्ट समझ लेना चाहिए। पहाड़ी प्रदेश पर्वतीय प्रदेश के समान ही ऊँचा-नीचा होता है, परन्तु पहाड़ी प्रदेश की ऊँचाई समुद्रतल से २,००० फीट से अधिक नहीं होती। इसके विपरीत पर्वतीय प्रदेश बहुत ऊँचे होते हैं। दूसरे पर्वतीय प्रदेशों में पर्वतों की शृंखलायें इतनी घनी होती है कि उनकी सघनता और विशालता चित्त को बरबस आकर्षित कर लेती हैं। पहाड़ी प्रदेश में पहाड़ियों की सघनता इतनी अधिक नहीं मिलती। साथ ही हमें ऊँचे-नीचे मैदानों और पहाड़ी प्रदेशों में अन्तर कर लेना चाहिए। दोनों प्रकार के प्राकृतिक भाग एक समान ऊँचाई पर हो सकते हैं, परन्तु मैदानों का ढाल पहाड़ी प्रदेशों के ढाल से भिन्न होता है। मैदानों में कुछ भाग अन्य भागों से काफी ऊँचे मिल सकते हैं, परन्तु मैदान का ढाल सर्वत्र क्रमिक (Gradual) ही होता है। इसके विपरीत पहाड़ी प्रदेश बहुत ही ऊबड़-खाबड़ होता है और उसमें ढाल एकदम ऊँचा या नीचा होता चला जाता है।

पठारी भाग जब बहुत अधिक कट जाता है, तो उसका पठारी स्वरूप समाप्त हो जाता है और ऊबड़-खाबड़ भूमि पहाड़ी प्रदेश में परिणित हो जाती है। संसार में पहाड़ी प्रदेश बहुत से देशों में फैले हुए हैं। एशिया में साइबेरिया, मंचूरिया, मध्य और दक्षिणी चीन, जापान तथा फारमूसा द्वीप में पहाड़ी प्रदेश काफी विस्तृत हैं। अन्य महाद्वीपों में भी इन प्रदेशों का पर्याप्त विस्तार है।

२२४. **पठारों की आर्थिक उपयोगिता**—(१) उष्णकटिबन्ध में पठारों की जलवायु मैदानों की अपेक्षा ठण्डी होती है, अतः वहाँ पर मनुष्यों के बसने योग्य अच्छे स्थान पाये जाते हैं। पूर्वी अफ्रीका और दक्षिणी अफ्रीका के पठारों में योरोप जैसे ठण्डे देश के निवासी जा बसे हैं और उन्होंने देश को उन्नतिशील बनाया है।

उष्ण कटिबन्ध में स्थित पठारों पर विस्तृत घास के मैदान हैं जहाँ पर पशु पाले जाते हैं। कई स्थानों पर अच्छी खेती होती है तथा दूध का धन्धा जैसे विकसित धन्धे भी होते हैं।

(२) प्राचीन पठारों में बहुत सी बहुमूल्य खानें पाई जाती हैं। मध्यभारत के पठार की मेंगनीज़ धातु, बोलिविया पठार की टिन, पश्चिमी आस्ट्रेलिया और कनाडा के पठार का सोना, दक्षिणी अफ्रीका के हीरे जगत्प्रसिद्ध है। अन्य प्राचीन पठारों में भी अनेक बहुमूल्य खनिज भरे पड़े हैं।

सत्रहवाँ अध्याय

तटरेखा (Shorelines)

२२५. तटरेखा किसे कहते हैं ?—वह सीमा, जहाँ जलमण्डल और स्थलमण्डल मिलते है, तटरेखा कहलाती है। भौगोलिक दृष्टि से तटरेखा का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। किसी देश के विकास में तटरेखा का महत्त्वपूर्ण भाग रहता है। तटरेखा के दोनों तरफ आवागमन के दो अलग-अलग तरह के मार्ग होते है जिन पर दो विभिन्न प्रकार के साधनों का उपयोग होता है। साधनों के बदलने के लिए जल और स्थल पर उचित स्थान की आवश्यकता पड़ती है ताकि उस देश का माल समुद्र-पार देशों को जा सके, और वहाँ से अन्य आवश्यक सामान आ सके। यदि तटरेखा सपाट है, तो जहाजों को ठहरने के लिए उचित स्थ न नहीं मिलेगा और देश के व्यापार की तरक्की नहीं होगी। परन्तु यदि तटरेखा वक्र या कटी-फटी है अथवा बम्बई बन्दरगाह की तरह

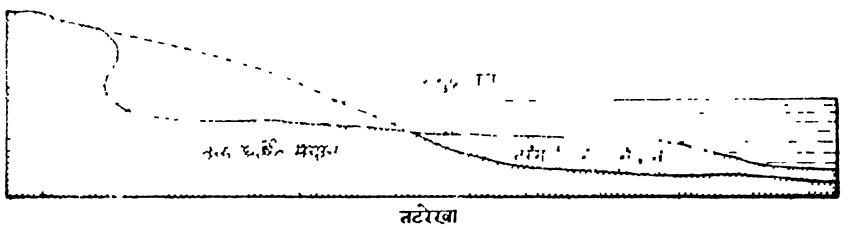

चित्र ६७. बिन्दुदार पुरानी तटरेखा है।

किसी द्वीप से सुरक्षित है, तो बन्दरगाह बनने में आसानी होगी। तटरेखा का सपाट या टेढ़ा-मेढ़ा होना बहुत सी भौगर्भिक और समतलस्थापक शक्तियों के संघर्ष का परिणाम है।

२२६. भेद—भूगर्भ की दीर्घकालिक घटनाओं (Diatrosphism) के फलस्वरूप भूपटल का एक भाग धीरे-धीरे समुद्र में धँसकर जलमग्न हो जाता है अथवा सागरगर्भ से निकलकर स्थल का अंश बन जाता है। भूभाग के नीचे की ओर धँसने से तटरेखा (Shoreline) स्थल की ओर घुसती चली जाती है। इसके विपरीत भूभाग के ऊँचे उठने से तटरेखा समुद्र की ओर बढ़ती जाती है। इस प्रकार तटरेखा के प्रधानतः दो प्रभेद है—(क) भूमि के नीचे धँसने से बनी हुई जलमग्न तट-रेखा, तथा (ख) भूमि के ऊपर उठने से बनी हुई उन्मग्न तटरेखा। इन दोनों प्रधान भेदों पर समतलस्थापक शक्तियाँ भी अपना प्रभाव डालती हैं जिससे उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन हो जाया करता है।

(क) भूमि के धँसने से बनी हुई तटरेखा
(Shorelines of Submergence)

२२७ मैदानी भाग का जलमग्न होना—मैदानी भाग के जलमग्न हो जाने पर तटरेखा की आकृति प्रमुखतः वक्राकार (Curved) होती है। मैदानी भाग में नदियाँ समुद्रतट के पास अधिकतर चौड़ी और उथली घाटियाँ बनाती हैं। दो नदियों के बीच का मैदानी भाग भी कम ऊँचा एवं विस्तृत होता है। इन घाटियों का ढाल बहुत कम होता है। स्थल के नीचे धँसने पर समुद्र का पानी नदी की घाटी में बहुत भीतर तक घुस आता है और खाड़ियाँ बन जाती हैं। यदि नदी का थोड़ा-सा भाग ही जलमग्न होता है, तो ऐश्चुअरी बन जाती है। इस प्रकार की खाड़ी अथवा **ऐश्चुअरी** पर बड़े अच्छे बन्दरगाह बन जाते हैं। लन्दन बन्दरगाह थेम्स नदी की ऐश्चुअरी पर बना है। नदियों के बीच की ऊँची भूमि प्रायद्वीप के रूप में ऊँची उठी रह जाती है। बाल्टिक सागर और उत्तरी सागर की तटरेखा स्थल के जलमग्न होने से निर्मित हुई है। इस प्रकार के तट को **नद्य तट या रिया तट** (Ria Coast) कहते हैं।

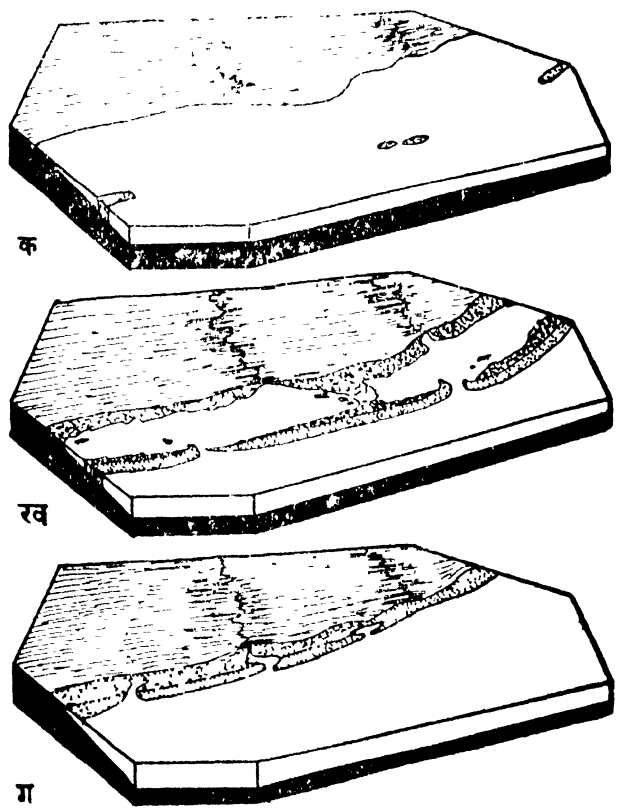

चित्र ६८.
जलमग्न तटरेखा और उसका विकसित रूप। (क) जलमग्न तट। (ख) समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव। (ग) पूर्ण विकसित तट।

२२८. समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव—इस प्रकार के तट पर लहरों और धाराओं का महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। लहरें स्थल की चट्टानों से टकराकर उसे किसी स्थान पर काट देती है। यह कटान बढ़ते-बढ़ते निचले भाग को खोखला बना देती है और ऊपरी भाग आगे की ओर लटकता-सा रहता है। यदि स्थल कीचट्टानों में से कुछ चट्टानें नरम और कुछ कठोर हैं, तो नरम चट्टान जल्दी कट जावेंगी। इस प्रकार कटने से तटरेखा का रूप विचित्र हो जायगा। कहीं गुफायें-सी बनेंगी तो कहीं टीले-से; और कहीं चट्टान का अर्द्ध जलमग्न भाग समुद्र में बहुत दूर तक घुसा

होगा। यह अर्द्ध-निमग्न चट्टानी भाग तूफान के समय अथवा दीर्घ ज्वार के समय पूर्णतया जल में डूबा रहता है। अनजान नाविक ऐसी चट्टानों से धोखा खा जाते हैं, और अब तक बहुत से जहाज़ इनसे टकराकर टूट भी चुके हैं। अतः ऐसे स्थानों पर प्रकाशस्तम्भ (Light Houses) लगाने पड़ते हैं। बहुत से स्थानों पर तटवर्ती चट्टानें घिस-घिसाकर मैदान के रूप में बदल जाती हैं। इन मैदानों को **तरंग-घर्षित मैदान** (Wave-cut Terrace) कहते हैं।

कटी हुई मिट्टी, बालू और बजरी लहरों के साथ बहकर किसी खाड़ी के प्रवेश-द्वार पर जमा होती रहती है। धीरे धीरे इनके एकत्र होने से एक टीला-सा बन जाता है जिसे हँसियाकार टीला (Spits) कहते हैं। यदि ज्वारभाटे की लहरें तथा अन्य धारायें इस टीले को घसीटकर तट की तरफ कुछ टेढ़ा-मेढ़ा-सा खड़ा कर देती हैं, तो इसका नाम **स्थली अंकुश** (Recurved Spit or Hook) पड़ जाता है।

यदि लहरों द्वारा तट पर पटकी हुई बालू को हवायें उड़ा ले जाती हैं, तो उस बालू से तट के समीप टीले बन जाते हैं। ये बालू के टीले निरन्तर स्थल की ओर खिसकते रहते हैं और उपजाऊ भूमि की रक्षा एक समस्या बन जाती है।

२२६. पर्वतीय प्रदेश का जलमग्न होना—नदियों द्वारा क्षय हुए पर्वतीय भाग के जलमग्न होने पर उसी प्रकार की खाड़ियाँ बनेंगी जैसी पूर्ववर्णित मैदानी भाग के जलमग्न होने से बनती है। इन खाड़ियों में बन्दरगाह तो सुरक्षित रहेंगे, परन्तु ऊँची-नीची तटभूमि के कारण पृष्ठदेश से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए यातायात के साधन बनाने में कठिनाई होगी। ईजियन सागर पर इसी प्रकार की तटरेखा है। इस तट पर बन्दरगाह बहुत कम है। दक्षिण भारत का पश्चिमी तट भी इसी प्रकार का है। अतः इस तट पर बम्बई के अतिरिक्त कोई उत्तम बन्दरगाह नहीं है। बम्बई के समीप पश्चिमीघाट पर्वत में पालघाट और भोरघाट दो दर्रे हैं। इन दर्रों के कारण बम्बई बन्दरगाह का सम्पर्क देश के भीतरी भाग से स्थापित हो गया है और इसीलिए बम्बई भारत का सबसे बड़ा बन्दरगाह बन गया है।

जिस पर्वतीय प्रदेश पर हिमानियों का राज्य रह चुकता है, उनके नीचे धँसने पर विचित्र दृश्य बन जाया करते हैं। हिमानियों की घाटियाँ लम्बी होती हैं, उनमें टेढ़ापन बहुत ही कम होता है, घाटी की कटान एकदम ऊँची-लम्बाकार-सी होती है, तथा चट्टानों के कोने आगे की ओर निकले हुए नहीं रहते। धरातल की भूमि का ढाल सीढ़ियों की पंक्ति के रूप में कटा होता है। ऐसे तटीय भाग के जलमग्न हो जाने पर असाधारण लम्बाई वाली परन्तु संकीर्ण एवं ऊँचे-ऊँचे कगारों वाली गहरी खाड़ियाँ बन जाती हैं। स्थल के भीतर घुसी हुई समुद्र की ऐसी लम्बी-लम्बी बाहुओं को **फियोर्ड** (Fiord) कहते हैं। इन फियोर्डों की लम्बाई विस्मयोत्पादक होती है। नार्वे की

सबसे लम्बी फियोर्ड ११२ मील लम्बी तथा औसतन ४ मील चौड़ी है। इसकी गहराई भी कहीं-कहीं ४ ००० फीट तक है। संयुक्त राज्य अमेरिका (U.S.A.) के पश्चिमी तट पर स्थित पगेट साउण्ड भी हिम नी द्वारा निर्मित एक घाटी है जो जलमग्न हो गई है। नार्वे, अलास्का, चिली, न्यूज़ीलैण्ड का दक्षिणी द्वीप, लैब्रेडोर, ग्रीनलैण्ड आदि देशों के तट पर फियोर्ड है। स्पष्ट है कि इन प्रदेशों पर किसी-न-किसी समय हिमानियों का विस्तार रहा होगा। हिमानियों द्वारा बनाई हुई घाटियों के जलमग्न होने से इन देशों के तट पर फियोर्ड बने हैं।

(ख) स्थल के ऊँचे उठने से बनी हुई उन्मग्न तटरेखा
(Shorelines of Emergence)

२३०. उन्मग्न मैदानी तट—समुद्रतट के पास का जो स्थलभाग जल में डूबा रहता है उसे महाद्वीपीय जलमग्न तट (Continental Shelf) कहते हैं। इन जलमग्न तटों पर नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी जमा होती रहती है। लहरों और धाराओं द्वारा टूटी हुई चट्टानों की छीलन भी यहीं पर बिछती रहती है। इस प्रकार बजरी, बालू और मिट्टी के निरन्तर जमते रहने से जलमग्न तट सपाट और समतल-सा बन जाता है। भौर्गभिक घटनाओं के परिणामस्वरूप जब कभी यह सपाट जलमग्न भूमि समुद्र के नीचे से निकलकर जल से ऊपर उठ जाती है, तो पुराने तट के साथ में यह नवीन तट की पट्टी और भी मुड़ जाती है। यह नवनिर्मित उन्मग्न भूभाग लगभग समतल-जैसा होता है। इसकी तटरेखा बिलकुल सीधी होती है। इस तट में वक्रता न होने के कारण खाड़ियों का प्रायः अभाव रहता है। ऐसी तटरेखा व्यापार के लिए अच्छी नहीं होती। यातायात के साधनों की सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार के तट पर दो प्रकार

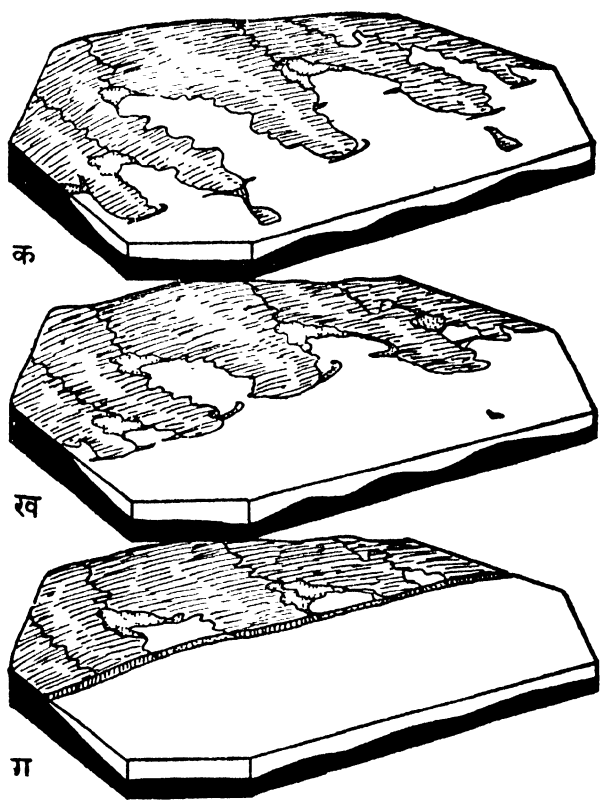

चित्र ६९.

उन्मग्न तटरेखा और उसका विकास—(क) उन्मग्न मैदानी तट। (ख) समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव। (ग) पूर्ण विकसित अवस्था।

की असुविधाओं का सामना करना पड़ता है—

(१) नवनिर्मित तट के पास में जलमग्न तट बहुत ही कम ढालू होता है। फलतः तट के पास समुद्र काफी दूर तक उथला रहता है। बड़े-बड़े समुद्री जहाज़ों को बन्दरगाह से बहुत दूर ही खड़ा रहना पड़ता है जहाँ से सामान को छोटी-छोटी नावों में लादकर बन्दरगाह तक पहुँचाना पड़ता है। टिनेवैली का तट इसका एक उदाहरण है।

(२) इस नवनिर्मित तटभूमि का ढाल बहुत कम होता है, अतः नदियों द्वारा लाई हुई जलराशि विस्तृत भूभाग में फैल जाती है और इसके अधिकांश भाग को दलदला बना देती है। ऐसे तट पर स्थित बन्दरगाह को अपने पृष्ठदेश (Hinter Land) से मिलाने के लिए रेलों और सड़कों आदि साधनों के विकसित करने में बड़ी मुश्किल पड़ती है। भारत में मदुरा तट इसका एक उदाहरण है।

२३१. समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव—छिछले जल वाली तटभूमि पर समुद्र की लहरों और धाराओं की क्षयात्मक शक्ति कोई प्रभाव नहीं डाल सकती क्योंकि तटरेखा से सैकड़ों गज़ की दूरी पर ही टकरा जाने के कारण उनका बल और वेग घट जाता है। शक्ति नष्ट हो जाने पर लहरों का कुछ जल तटरेखा की ओर बढ़ता है और अपने साथ लाई हुई मिट्टी आदि को तट के पास ही जमा कर देता है। धीरे-धीरे तटरेखा के समानान्तर लम्बे और संकरे द्वीप-जैसे बहुत से टीले जल से ऊँचे उठ जाते हैं। कालान्तर में ये टीले मिलकर एक हो जाते हैं और तटरेखा के समानान्तर एक लम्बी शृंखला-सी बन जाती है। इस लम्बी शृंखला को **अनुतटीय बाधक श्रेणी** (Offshore Bar) कहते हैं। इस बाधक श्रेणी और मुख्य तट के बीच में खारे पानी की लम्बी और संकीर्ण झील बन जाती है जिसको **लैगून झील** (Lagoon) कहते हैं। उड़ीसा के तट पर चिलका झील और मद्रास के समीप पुलीकट झील इसी प्रकार की लैगून झीलें हैं। यदि नदियों का पानी इन झीलों में आकर मिलता रहता है, तो पानी से घिस-घिसाकर बाधक श्रेणी का कोई एक भाग भंग हो जाता है और समुद्र से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। बाधक श्रेणी के इस टूटे हुए भाग में होकर पानी आने-जाने का एक मार्ग बन जाता है। जल के ऐसे द्वार को **वेला-द्वार** (Tidal Inlet) भी कहा जा सकता है। इस वेला-द्वार में होकर समुद्र का जल ज्वार के समय झील में घुस आता है और भाटे के समय झील से बाहर निकल जाता है। इस प्रकार निरन्तर ज्वार की लहर के भीतर आने और भाटे की लहर के बाहर जाते रहने से वेला-द्वार कटकर काफी बड़ा हो जाता है। इस बड़े द्वार में होकर ज्वार की लहर बड़ी आसानी से घुसी चली जाती है। बाधक श्रेणी में बने हुए ऐसे चौड़े मार्ग को **वेला-धावन** (Tidal Race) कहा जाता है। बहुत से वेला-धावन इतने गहरे और चौड़े कट जाते हैं कि काफी बड़े-बड़े जहाज़ उनमें होकर भीतर पहुँच जाते हैं।

२३२. **उन्मग्न पहाड़ी तट** (Emerged Mountain Coasts)—महाद्वीपीय जलमग्न तट (Continental Shelf) का विस्तार तटभूमि के ढाल के अनुसार कम या अधिक होता है। उदाहरण के लिए यदि तटीय भाग मैदान होगा, तो उसका ढाल क्रमिका (Gradual) होगा और जलमग्न तट (Continental Shelf) भी समुद्र में काफी दूर तक विस्तृत होगा। इसके विपरीत यदि तटीय भूमि पहाड़ी भाग होगी, तो अधिक ढालू होने के कारण जलमग्नतट (Shelf) भी अधिक दूर तक नहीं फैला होगा। मैदानी तट के समीप के जलमग्न तट के ऊँचे उठने का वर्णन किया जा चुका है। इस प्रकार के तट के ऊँचे उठने पर जो नवीन तटभाग बनता है उसके पास समुद्र काफी दूर तक उथला रहता है क्योंकि जलमग्न तट की लम्बाई काफी होती है।

परन्तु जब पर्वतीय तटभूमि के पास का भाग समुद्र के नीचे से निकलकर स्थल का भाग बनता है, तो उसके समीप का जलमग्न भाग (Continental Shelf) बहुत ही संकीर्ण रह जाता है। फलतः तट के पास समुद्र की गहराई भी अधिक होती है। इस नवीन उन्मग्न तट की तटरेखा भी सीधी ही होती है। इस प्रकार के तट पर जहाँ कहीं कटान होती है, वहाँ अच्छे बन्दरगाह बन जाते है। उत्तरी और दक्षिणी अमेरिकाओं के पश्चिमी तट पर अधिकांश तटरेखा इसी प्रकार की है। संयुक्त राज्य (U.S.A.) के ओरोगन राज्य के तट से लेकर चिली देश में ४०° दक्षिणी अक्षांश तक लगभग ६,००० मील लम्बी तटरेखा थोड़ी-सी वक्रताओं को छोड़ कर प्रायः सीधी चली गई है। इस तट पर जहाँ कहीं भी थोड़ी-बहुत कटान है, वहीं पर व्यापार के केन्द्र बन गये हैं।

२३३. **समतलस्थापक शक्तियों का प्रभाव**—समुद्र की उत्ताल तरंगें पर्वतीयप्रदेश से आकर टकराती हैं और तट को निरन्तर काटती रहती है। फलस्वरूप ऐसे तटों पर स्थल के अत्यन्त कठोर भाग समुद्र की ओर निकले रहते है जिन्हें अन्तरीप (Capes) कहते हैं। कहीं-कहीं समुद्र की तरंगें स्थल को काटकर कन्दरायें बना देती हैं। धीरे-धीरे ये कन्दरायें चौड़ी होती रहती हैं और स्थल का कठोरतम भाग समुद्र में अलग कटा हुआ रह जाता है। ऐसे कटे हुए भाग को **प्राकृतिक पिरामिड़** कहते हैं। ऐसे तटों पर तटरेखा के समीप तरंग-घर्षित मैदान मिलते हैं।

ऐसे तट बन्दरगाह बनने के अयोग्य होते है। दक्षिणी भारत का पश्चिमी तट भी प्रायः इसी प्रकार का है।

(ग) अन्य प्रकार की तटरेखायें (Miscellaneous Shorelines)

२३४. **गर्म समुद्रों में मूँगे के कीड़ों** से तट के पास कहीं-कहीं पर मूँगे की दीवार खड़ी करदी हैं जिससे प्रवालीय तटरेखायें बन गई हैं। इस प्रकार की तटरेखा प्रशान्त

महासागर के द्वीपों में बहुत पाई जाती है। बहुत से तटों पर नदियों ने ेल्टा बनाकर तटरेखा को समुद्र की ओर खिसका दिया है। उदाहरण के लिए, नील नदी का डेल्टा निरन्तर आगे बढ़ रहा है। कुछ तटों पर ग्लेशियर की कटान या जमाव के चिह्न मिले हैं। किसी स्थान पर तट के उन्मग्न होने (Emergence) तथा जलमग्न (Submergence) होने के ज्योति तथा दक्षिणी अर्थात् दोनों प्रकार के चिह्न मिलते हैं। उपर्युक्त सभी प्रकारों के मिश्रण से विभिन्न स्थानों पर विभिन्न प्रकार की तटरेखाओं के असंख्य भेद मिलते हैं।

२३५. **बन्दरगाह**—तटरेखा और बन्दरगाह का घनिष्ठ सम्बन्ध है। वास्तव में बात यह है कि समुद्र में तूफ़ानी आँधियों के उठते रहने से समुद्र के जल में भयानक लहरें उठा करती हैं। अतः इन लहरों के प्रहार से बचने के लिए बन्दरगाह के पास ऐसा पोताश्रय (Harbour) होना चाहिए जहाँ जहाज़ आराम से ठहर सकें। अतः किसी तटीय भाग पर बन्दरगाह बनाने से पहले हमें यह देखना होगा कि वहाँ पर अच्छा पोताश्रय मिलेगा या नहीं। किसी भी बन्दरगाह के लिए अच्छा पोताश्रय होना सबसे आवश्यक शर्त है। सर्वोत्तम पोताश्रय (Harbour) वही होगा जहाँ निम्नांकित सुविधायें उपलब्ध हों—

(१) पोताश्रय में बड़े-बड़े जहाज़ों के ठहरने लायक काफी गहरा पानी हो।

(२) समुद्र की तूफानी आँधियों से जहाज़ों की रक्षा हो सके।

(३) पोताश्रय का जलभण्डार इतना विस्तृत हो कि उसमें जहाज़ एक स्थान से दूसरे स्थान तक सुविधापूर्वक जा सकें।

(४) खुले समुद्र में पहुँचने के लिए जो खाड़ी हो वह भी काफी गहरी हो और उसमें होकर ज्वार की लहर तीव्र वेग से न आती हो। हाँ, ज्वार-भाटे का साधारण उतार-चढ़ाव भी ज़रूर होता है।

(५) तटरेखा की लम्बाई इतनी अधिक हो कि वहाँ पर आवश्यकतानुसार चाहे जितने डाक्स (Docks) बनवाये जा सकें।

(६) वहाँ पर इतनी अधिक ठण्ड भी न पड़ती हो कि पोताश्रय में जाड़ों भर बर्फ जमी रहे और दीर्घकाल तक जहाज़ों का आना-जाना बन्द रहे।

स्पष्ट है, सीधी तटरेखा पर ऐसे पोताश्रय नहीं मिलते। हाँ, मद्रास के बन्दरगाह की तरह समुद्र में कंक्रीट की दीवारें खड़ी करके मनुष्य ने पोताश्रय बनाने का प्रयत्न अवश्य किया है, परन्तु ये प्राकृतिक पोताश्रय की समता कभी नहीं कर सकते। इसी कारण संसार के प्रधानतम बन्दरगाह स्थलभाग के जलमग्न होने वाले तटों पर ही बने हैं। कुछ अच्छे बन्दरगाह नदियों की ऐश्चुअरी पर भी बने हैं। ऐसे बन्दरगाहों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि जहाज़ देश के भीतरी भाग में काफी दूर तक प्रवेश कर जाते हैं।

अच्छे पोताश्रय होने के अतिरिक्त कुछ अन्य बातें भी इतनी महत्त्वपूर्ण हैं जिनके बिना कोई भी बन्दरगाह उन्नतिशील नहीं हो सकता। ये बातें निम्नांकित हैं—

(१) बन्दरगाह की भौगोलिक स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से उत्तम हो।

(२) बन्दरगाह को देश के भीतरी भाग से मिलाने के लिए रेलों और सड़कों का जाल बिछा हो।

(३) पृष्ठदेश इतना उत्पादक अथवा धनी हो कि वहाँ से काफी माल बाहर जा सके और बाहर के देशों का आया हुआ माल खरीद सके।

अठारहवाँ अध्याय

झील (Lakes)

२३६. झील किसे कहते हैं ?—स्थल से घिरे हुए स्थिर जलखण्ड को झील कहते हैं। झील किसी विशेष लम्बाई-चौड़ाई वाले जलखण्ड का ही नाम नहीं है। मृतक सागर-जैसे बड़े-से-बड़े जलखण्ड को भी झील कहते हैं और छोटे जलाशयों को भी झील कहा जाता है। झीलों की गहराई में भी विभिन्नता पाई जाती है। प्रो० सेलिसबरी का मत है कि संसार की आधी से अधिक झीलों की गहराई ५,६१८ फील (१ मील से भी अधिक) है।

२३७. झीलें कहाँ बन सकती हैं ?—झीलों के निर्माण में धरातल की संरचना (Structure) और जलवायु विशेष प्रभाव डालते हैं। सबसे पहली और आवश्यक शर्त धरातल पर गर्त या नीचे स्थान उत्पन्न होना है। जब तक धरातल पर नीचा स्थान न होगा जल को एकत्रित होने का अवसर ही नहीं मिल पायेगा। झील-निर्माण की दूसरी शर्त अनुकूल जलवायु का होना है। जलवायु के दो प्रमुख अंग—ताप और वर्षा—झील-निर्माण के लिए उत्तरदायी हैं। जिन प्रदेशों में वर्षा अधिक होती है तथा गर्मी कम पड़ती है वहाँ झीलों का पानी नहीं सूख पाता क्योंकि नदियाँ वर्षा का जल ढो-ढोकर झीलों में भरती रहती है—

२३८. झीलों के भेद—धरातल पर जहाँ कहीं भी जल का बहाव रुक जाता है और चारों ओर ऊँची भूमि होने के कारण स्थिर हो जाता है, वहाँ झील बन जाती है। जल के इस प्रकार रुक जाने के कई कारण है। इन्हीं कारणों के आधार पर झीलों के चार भेद किये जाते है—

(क) पृथ्वी के आभ्यन्तरिक परिवर्तन द्वारा बनी झीलें।

(ख) धरातल पर एकत्र होने वाले शिलाखण्डों से बनी झीलें।

(ग) धरातल की कटान पर बनने वाली झीलें।

(घ) ज्वालामुखी द्वारा बनी झीलें।

२३९. आंतरजात परिवर्तनों द्वारा निर्मित—भौगर्भिक शक्तियो के प्रभाव से धरातल का कुछ भाग ऊँचा उठता है अथवा नीचे को धँसता है। चट्टानों के मुड़ने या चटक जाने से धरातल पर आखात (Hollows) या नीचे स्थान बन जाते है। इन नीचे स्थानों मे पानी भरने पर झील बन जाती है। संसार की अधिकांश बड़ी झीलें इसी प्रकार की हैं।

(१) समुद्र तट के पास की भूमि उठ जाने से कुछ भाग नीचा हो, जाता है

जिसमें लम्बी और उथली झीलें बन जाती हैं। भारत में कारोमण्डल तट पर ऐसी कई झीलें हैं।

(२) भूपटल पर तनाव या भिचाव पड़ने से दरारें पड़ जाती हैं और भूमि का कुछ भाग नीचे धँस जाता है। इस प्रकार की दरारी घाटी में जल भर जाने से संकीर्ण झीलें बन जाती हैं जिनके किनारे एकदम लम्बाकार रूप में ऊँचे उठे हुए होते हैं। इस प्रकार भूखण्ड के नीचे धँस जाने से ४,००० मील लम्बा एक प्रसिद्ध गर्त बन गया था जिसमें पानी भरने से अफ्रीका की टेंगेनिका, न्यासा और रूडोल्फ झीलें तथा फिलिस्तीन में जोर्डन की घाटी, मृतक सागर और गेलिली सागर बन गये। साइबेरिया की बेकाल झील और स्काटलैण्ड की झीलें भी इसी प्रकार की हैं।

(३) कहीं-कहीं भूकम्प नदियों की तली में उलट-फेर कर देते हैं जिससे जल-प्रवाह में बाधा पड़ती है और जल रुककर झील बन जाती है। भूकम्प के कारण धरती फटकर नीचे धँस जाती है और झील बन जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में एक बार भूकम्प से भूमि इस प्रकार हिल गई कि कई स्थानो पर जलप्रवाह रुकने से झीलें बन गईं। टेनसी की घाटी में रील फुट इसी प्रकार की झील है। भारत में कच्छ की खाड़ी १८१५ ई० के भूकम्प से बनी। बिहार राज्य में भूकम्प के कारण एक बहुत बड़ी झील मुंगेर ज़िले मे बन गई।

२४०. **शिलाखण्डों के जमाव से बनी झीलें**—(१) किसी समय उत्तरी अमेरिका तथा उत्तर-पश्चिमी योरोप हिम-आवरण से आवृत्त थे। हिम पिघलने पर हिम के साथ बहकर आये हुए शिलाखण्ड जहां-तहाँ जमा हो गये। कई जगहों पर ये शिलाखण्ड इस प्रकार जमा हो गये कि इनके बीच का स्थान नीचा रह गया जिसमें जल भरने से झीलें बन गईं। इस प्रकार की झीलो का विस्तार कम होता है।

(२) ग्लेशियर या हिमानी के साथ कई प्रकार के शिलाखण्ड बहकर आते हैं। इनमें से कोई-कोई शिलाखण्ड तो इतने विशाल है कि इनको ज़रा-सा हिलाने के लिए भी भारी शक्ति की आवश्यकता पड़ती है। हिम पिघल जाने पर पानी में इतनी शक्ति कहाँ, जो उन्हें बहा सके। अतः वे शिलाखण्ड जमा होकर पानी के बहाव को रोक लेते हैं और झीलें बन जाती है। उत्तरी इटली, स्केण्डिनेविया, स्काटलैण्ड और इग्लैण्ड के लेक डिस्ट्रिक्ट में अधिकतर झीलें इसी प्रकार से बनी है। स्विटज़रलैंड की जैनेवा और कान्स्टेन्स झीलें इस प्रकार की झीलों के उत्तम नमूने है।

(३) ग्लेशियर की चाल बहुत धीमी होती है और संकीर्ण घाटी में तो यह चाल शून्यवत् हो जाती है। जब कभी यह ग्लेशियर किसी नदी के मार्ग में पड़ जाता है तो उसके बहाव को बाँध की तरह रोक लेता है और इस प्रकार एक झील बन जाती है। बर्नीज आल्प्स में एक ग्लेशियर ने नदी के प्रवाह को रोककर मार्जेलेन सागर

नामक झील बनादी है।

(४) जब नदियाँ पहाड़ी मार्ग को छोड़कर मैदान में उतरती हैं तो उनका प्रवाह-वेग कम हो जाता है। फलतः ढ़ोकर लाई हुई शिलाचूर का अधिकांश भारी भाग वहीं छोड़ना पड़ता है। धीरे-धीरे यह ढेर इतना ऊँचा हो जाता है कि पानी रुककर झील बन जाती है।

(५) मैदानों में नदियों के पथ बदल देन पर पुरानी घाटी में जगह-जगह पानी भरा रह जाता है। आस्ट्रेलिया में मरे नदी की ऐसी झीलें बिलिबांग (Billibongs) कहलाती हैं।

कभी-कभी दो नदियों के डेल्टा के बीच की भूमि नीची रह जाती है और उसमें पानी भरने से झील बन जाती है। नाइजर नदी की ऐसी झीलों को मेरीगोट (Marigots), मिसिसिपी की झीलों को बेवोन (Bavoun) और नील की झीलों के मयेह (Mayeh) कहते हैं।

(६) अधिक वर्षा वाले भागों में नदियों के किनारे घने जंगल उग आते हैं। जब नदी का मार्ग घुमावदार हो जाता है, तो नदी घुमाव के पास तट को काटती है और वहाँ के वृक्ष उखड़कर नदी में गिर जाते हैं। धीरे-धीरे उनके सहारे मिट्टी जमा होती रहती है और कालान्तर में एक दीवार-सी बन जाती है जिससे पानी का प्रवाह रुक जाता है। इस प्रकार एक झील-सी बन जाती है। संयुक्त राज्य की लाल नदी और अफ्रीका की सफेद नील नदियों की ऊपरी घाटी में इस प्रकार की झीले पाई जाती हैं।

(७) मौसमी क्षति के कारण घाटियों के दोनों पार्श्वों से शिलाचूर टूटकर जमा होती रहती है और गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से खिसककर घाटी की तली में गिरती रहती है। यदि यह शिलाचूर नदी के प्रवाह को अवरुद्ध कर देती है तो झीलें बन जाती हैं।

(८) ज्वारभाटा, लहरों या हवा के प्रभाव से समुद्रतट के पास बालूकास्तूप बन जाते हैं। इन स्तूपों से स्थल की ओर समुद्र का खारी जल रुक जाता है और झीलें बन जाती हैं। ऐसी झीलों को लैगून कहते हैं। बहुत सी ऐसी झीलों का समुद्र से सम्बन्ध बना रहता है। दक्षिणी भारत के त्रावनकोर-तट पर, बिस्के की खाड़ी में फ्रान्स के तट पर, जर्मनी के बाल्टिक तट पर तथा रूस के कृष्ण सागरीय तट पर ऐसी अनेक झीलें हैं।

२४१. कटान द्वारा बनी झीलें—(१) ग्लेशियर अपने मार्ग में पड़ने वाली चट्टानों को रगड़ते हुए चलते हैं। जहाँ कहीं चट्टानें नरम होती हैं, वहीं पर खरोंचों के कारण गहरे गड्ढे बन जाते हैं। बर्फ पिघल जाने पर इन गड्ढों में पानी भर जाता है

और झीलें बन जाती हैं। ऐसी झीलों को कौरी झीलें (Corrie Lakes) कहते हैं। ऐसी झीलें कनाडा, उत्तरी इंग्लैण्ड और स्वीडन आदि देशों के ग्लेशियरों वाले भागों में पाई जाती हैं।

प्राचीन हिमयुग में हिमावरण से निकले हिमानियों ने धरातल को रगड़-रगड़कर झीलें बना डालीं। ऐसी झीलें फिनलैंड तथा कनाडा के दक्षिणी भाग में फैली हैं।

(२) नदियाँ जब समतल भूमि पर बहती हैं तो उनका मार्ग वक्राकार (टेढ़ा-मेढ़ा) हो जाता है। घुमाव के कारण नदी एक ओर की चट्टानों की जड़ों को तेज़ी से काटती है। धीरे-धीरे नदी का घुमाव नवचन्द्राकार हो जाता है। बाढ़ के समय घुमाव के दोनों सिरों के बीच का स्थल कट जाता है और नदी घुमाव को छोड़कर सीधी बहने लगती है। घुमाव वाली शाखा कटकर झील के रूप में अलग रह जाती है जिसे धनुषाकार झील (On Bow Lake) कहते हैं।

(३) जब नदी नरम चट्टानों पर बहती है तो नरम चट्टानें घुल-घुलकर सफाचट होती रहती हैं। सैकड़ों वर्ष बाद वहाँ एक बड़ा गड्ढा बन जाता है और वहाँ झील बन जाती है। ऐसी झीलों की विशेषता यह होती है कि नदी एक ओर से जल लाती है और दूसरी ओर से बहा ले जाती है। उत्तरी आयरलैंड की लोनी (Longh Neagh) और डर्ग झीलें इसी प्रकार की झीलें हैं।

(४) चूने की चट्टानों में भूमिगत जल भीतर-ही-भीतर कन्दरायें बना देता है। जब कभी कन्दराओं की छत टूट जाती है तो एक बड़ा गर्त्त बन जाता है, जिसमें पानी भरने से झील बन जाती है। खासी और जयन्तिया की पहाड़ियों में इस प्रकार की कई झीलें हैं।

२४२. ज्वालामुखी द्वारा निर्मित झीलें—(१) ज्वालामुखी से लावा निकलकर बहता है और घाटियों में होता हुआ नदी के मार्ग को रोक देता है। लावा ठण्डा होकर सख्त चट्टान बन जाता है जिससे जल एकत्र होने लगता है और झील बन जाती है। ज्वालामुखी पर्वतों के आसपास ऐसी कई झीलें पाई जाती हैं। अबीसीनिया पठार पर टाना (Tana) झील नीली नील के मार्ग में लावा जम जाने से बनी है।

(२) ज्वालामुखी के शान्त हो जाने पर उसके मुख में पानी भर जाता है और झील बन जाती है। ऐसी झीलों को क्रेटर झील या ज्वालामुख झील कहते हैं। इनकी आकृति वृत्ताकार होती है और गहराई भी पर्याप्त होती है। दक्षिणी भारत की लोनार झील, फ्रान्स की पेविन झील (आवर्ने क्षेत्र), इटली की एलबेडो और नेमी झीलें और मेक्सिको की ग्रस्टाविला झील इसी प्रकार की झीलें हैं। संयुक्त राज्य की क्रेटर झील बहुत बड़ी है। इसका व्यास ५ मील और गहराई लगभग २,००० फीट है।

२४३. झीलों का खारापन—संसार की अधिकांश झीलों का पानी मीठा है।

फिर भी खारी पानी की झीलों की संख्या भी बहुत है। जिन झीलों का पानी बाहर नहीं बह पाता और गरमी के कारण पानी भाप बनकर सूखता रहता है, उन झीलों का पानी खारी है। खारी झीलों में मृतक सागर, कैस्पियन सागर, अरल सागर और यूटा (U.S.A.) की ग्रेट साल्ट लेक मुख्य हैं। ग्रेट साल्ट लेक के पानी में समुद्र जल से पाँचगुना अधिक नमक है। इसी कारण इस झील का पानी इतना भारी है कि इसमें स्नान करने वाला डूब नहीं सकता। मृतक सागर में भी यही दशा है। राजस्थान की प्रायः सभी झीलें खारी हैं। इन झीलों के खारेपन के विभिन्न कारण बताये जाते हैं। सर टी. एच. हालैण्ड और डा० क्रिस्टी के अनुसार कच्छ की खाड़ी से चलने वाली आँधियाँ अपने साथ समुद्र के खारे पानी के कण तथा नमक-मिश्रित धूल के कण उड़ा लाती हैं। राजस्थान के गरम भाग में उनका जल सूख जाता है और नमक पृथ्वी पर गिर जाता है। वर्षा का जल इस नमक को नीची भूमि में एकत्र कर देता है। इस प्रकार खारी झीलें बन जाती हैं। इन झीलों में साँभर झील बहुत प्रसिद्ध है। डा० गाडबोल ने राजस्थान के विभिन्न स्थानों पर नमक की जाँच की तो पता चला कि विभिन्न झीलों में विभिन्न प्रकार के क्षार मौजूद हैं। उदाहरण के लिए साँभर और डिडवाना झीलों में सोडियम सल्फेट, सोडियम कार्बोनेट आदि क्षार पाये गये। इसके विपरीत पचभद्रा में मेगनेशियम क्लोराइड और मेगनेशियम सल्फेट नामक क्षार मिले जो साँभर झील में बिलकुल नहीं मिलते। इस आधार पर डा० गोडबोल ने हालैण्ड और क्रिस्टी के मत को गलत बताया। इनके मत से चट्टानों के तत्त्वों में मिश्रित नमक के ऊपर आ जाने से ही इन झीलों में खारापन पाया जाता है।

२४४. झीलों का अस्थायित्व—भूतल पर इन झीलों का जीवन-काल अपेक्षाकृत अल्पकालीन है। कुछ झीलों को नदियाँ अपने साथ मिट्टी ला-लाकर पाटती रहती हैं और धीरे-धीरे झील समाप्त हो जाती है। आल्प्स पर्वत की जेनेवा झील आजकल इसी प्रकार भरती जा रही है। पहले यह झील ७ मील लम्बी थी। रोन नदी इसमें मिट्टी बिछाकर पाटती रही है जिससे झील की तली ऊँची होने के कारण पानी कुछ ऊँचा उठकर बहता है और घाटी को काटता है। इस प्रकार कटते-कटते झील की लम्बाई ८० मील हो गई है। भविष्य में संभवतः यह झील पटकर समाप्त हो जायगी।

कुछ झीलों में वनस्पतियाँ गिर-गिरकर सड़ती रहती हैं और धीरे-धीरे झील समाप्त होती जाती है। आयरलैंड की कुछ झीलें संभवतः इसी प्रकार पट गईं और उनकी तली पर 'पीट' कोयला बन गया। काश्मीर की वूलर झील के द्वीपों में विलो पेड़ खूब उगते हैं।

जमाव वाली झीलों के जमाव अधिक मजबूत नहीं होते और धीरे-धीरे कटते

रहते हैं। अन्त में जमाव के कटने पर झील समाप्त हो जाती है।

सच तो यह है कि सभी प्रकार की झीलें अपेक्षाकृत जल्दी समाप्त होने वाली अर्थात् अस्थायी हैं।

२४५. झीलों से लाभ—प्रायः सभी प्रकार की झीलें मनुष्य के लिए बड़ी उपयोगी हैं।

(१) जिन नदियों के मार्ग में झीलें होती हैं उनमें बाढ़ नहीं आती क्योंकि बाढ़ का पानी झील में जमा हो जाता है और झील से नियमित रूप से एक समान जल बहता रहता है। जनेवा झील रोन नदी की, और टानले सैप झील (इण्डोचायना) मेकांग नदी की बाढ़ को रोकती है।

(२) ऊँचे पहाड़ी स्थानों पर नदियों के मार्ग की झीलों में नदियों का अतिरिक्त जल (Surplus Water) जलविद्युत उत्पन्न करने तथा सिंचाई के उपयोग में लेने के लिए सुरक्षित रहता है। जापान की बीवा (Biwa) झील तथा उत्तरी इटली की झीलें जलविद्युत उत्पन्न करने में बहुत सहायक हैं।

(३) झीलें जलवायु को सम बनाने में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। झीलों के कारण स्थानीय वायु में नमी तो बढ़ती ही है, साथ ही वायु गरमी में शीतल और जाड़ों में गरम बनी रहती है।

(४) झीलें आवागमन की सुगम साधन हैं। उत्तरी अमेरिका की ग्रेट लेक्स इसका अनुपम उदाहरण हैं।

(५) झीलें बड़े नगरों को पीने का जल पहुँचाने के लिए अत्युत्तम जल भण्डार का काम देती हैं। इग्लैंड में लेकडिस्ट्रिक्ट की झीलो से लंकाशायर के नगरों को तथा पेनाइन पर्वत की झीलों से यार्कशायर के औद्योगिक नगरों को उत्तम पानी पहुँचाया जाता है।

(६) झीलों से खाने को सुस्वादु मछली तथा खाद आदि के लिए शैवाल घास प्राप्त होती है।

(७) खारी झीलों से नमक प्राप्त होता है। भारत की साँभर झील, उत्तरी अमेरिका की साल्ट लेक, अफ्रीका की चाड झील तथा फिलिस्तीन की मृतक सागर झील नमक प्राप्त करने के साधन हैं।

(८) यदि झीलें सूख जाती हैं तो खेती के लिए उपजाऊ मैदान बन जाते हैं।

खण्ड २

उन्नीसवाँ अध्याय

वायुमण्डल (Atmosphere)

२४६. महत्त्व—हमारी पृथ्वी के चारों ओर सैकड़ों मील की ऊँचाई तक वायु का घेरा है। इस घेरे को वायुमण्डल कहते हैं। हम लोग इस वायुमण्डल या वायु-महासागर की तली में रहते है। वायुमण्डल प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से मानव-जीवन को प्रभावित करने में अपनी समता नहीं रखता। प्राणिमात्र को जीवित रखने में जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनमें वायु सबसे मुख्य है। नाइट्रोजन गैस पेड़-पौधों के जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी है। भारत की भूमि में कम पैदावार होने का मुख्य कारण उसमें नाइट्रोजन की कमी बताया जाता है। पेड़-पौधों की हरियाली तथा उसकी वृद्धि का मुख्य कारण कार्बन-डाइआक्साइड गैस है। वायुमण्डल के तापक्रम, तथा आर्द्रता मनुष्य के प्राकृतिक वातावरण को बहुत-कुछ प्रभावित कर डालते है। भू-आकार, मिट्टी, खनिज पदार्थ और वनस्पति सभी इनसे प्रभावित होते है। इस दृष्टि से वायुमण्डल का ज्ञान हमारे लिए अत्यन्त आवश्यक और लाभदायक है।

२४७. वायुमण्डल के भेद—वायुमण्डल सम्बन्धी ज्ञान जिस विज्ञान का वर्ण्य-विषय है उसे अन्तरिक्ष विज्ञान (Meteorology) कहते है। गत १५० वर्षों से इस विज्ञान ने बहुत उन्नति करली है। आधुनिक आविष्कारो का लाभ उठाकर अनेक वैज्ञानिकों ने वायुमण्डल की साहसपूर्ण यात्रायें की। डा० पिकार्ड, मेजर फ्रोडनी, केप्टिन स्टीनन्स और वेसंकी प्रभृति वैज्ञानिकों और उनके साथियों ने जान पर खेलकर अनेकों यात्रायें की और वायुमण्डल सम्बन्धी खोजें की। वायुमण्डल के चार प्रमुख भेद किये जाते है—

(क) अधोमण्डल या परिवर्तमण्डल (Troposphere)—यह भाग पृथ्वी-तल से ७½ मील की ऊँचाई तक माना जाता है। आँधी, तूफान, गर्जना, बिजली और हमारे रेडियो में भड़भड़ाहट की आवाज़ उत्पन्न करके सुरीले गानों का मजा किरकिरा कर देने वाले अंतरिक्ष विक्षोभ (Atmospherics) आदि इसी परिवर्तमण्डल में उत्पन्न होते है।

(ख) समतापमण्डल (Stratosphere)—यह भाग २० मील की ऊँचाई तक माना जाता है। यहाँ पर तापक्रम स्थिर रहता है और इसमें ऊपर से नीचे अथवा नीचे से ऊपर वायुधारायें चला करती है।

(ग) ओषोण मण्डल (Ozonesphere)—इस भाग की ऊँचाई २५ मील

के लगभग बताई जाती है। यह भाग सूर्य की पराकासनी किरणों (Ultraviolet Rays) का शोषण कर लेता है जिनमें बहुत अधिक गरमी होती है।

(घ) आयनमण्डल (Ionosphere)—यह भाग अनेक स्तरों वाला है। रेडियो-तरंगों की सहायता से इसके सम्बन्ध में खोज हो रही है। रेडियो तरंगों के अतिरिक्त ध्वनि-तरंगें उल्काओं का वायु के घर्षण से चमकना, उत्तरी ध्रुव की सुमेर ज्योति तथा दक्षिणी ध्रुव की कुमेरु ज्योति, रात्रि में आकाश का वर्णपट एवं विश्व-किरणें (Cosmic Rays) कुछ ऐसे साधन है जिनकी सहायता से इसके सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त किया जा रहा है।

यद्यपि वायुमण्डल के सभी भाग हमें प्रभावित करते होंगे, परन्तु ऊपरी भागों का अध्ययन अभी सीमित है अतः भौगोलिक दृष्टि से परिवर्तमण्डल का अध्ययन ही विशेष महत्त्व रखता है।

२४८. वायुमण्डल की बनावट—पृथ्वी-तल के समीप की वायु बहुत सी गैसों के मिलने से बनी है। इन गैसों में लगभग ९९ प्रतिशत आक्सीजन और नाइट्रोजन गैसें है। अन्य गैसों में हाइड्रोजन, कार्बन डाइआक्साइड, आर्गन, हीलियम, क्रिप्टन, ज़ीनन, नियन, ओषोण और पानी की भाप सम्मिलित है। इन गैसों में कुछ अशुद्धियाँ भी बहुत कम मात्रा में रहती है। गैसों के अतिरिक्त वायु में धूल के सूक्ष्म-कण भी मिले रहते हैं। बहुत ऊँचाई पर तो स्वतंत्र ऋणाणु भी काफी मात्रा में मिले हैं।

वायुमण्डल की गैसें

नाम गैस	प्रतिशत आयतन
नाइट्रोजन	७८·०६
आक्सीजन	२९·९०
आरगन	०·९३७
कार्बन डाइआक्साइड	०·२९
हाइड्रोजन	०·००३३
नीयन	·००१५
हीलियम	·०००५
क्रिप्टन	·०००१
ज़ीनन	·००००५
ओषोण	अंशमात्र
भाप	परिवर्तनशील
धूलकण	,,
अशुद्धियाँ (गंधक का तेजाब, शोरे का तेजाब आदि)	नगण्य

पानी की भाप के अतिरिक्त अन्य गैसों की प्रतिशत मात्रा धरातल की वायु में सब जगह एक-सी रहती है। आक्सीजन और कार्बन डाइआक्साइड की प्रतिशत मात्रा भी थोड़ी-बहुत बदलती रहती है। उदाहरण के लिए हरियाली वाले भागों में कार्बन डाइआक्साइड कम (लगभग ·२४ प्रतिशत) रहता है। परन्तु समुद्र पर, बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों में तथा बन्द कमरों में जहाँ बहुत से आदमी हों, इसकी मात्रा ·३५ प्रतिशत तक हो जाती है।

वायुमण्डल की गैसों में जलवाष्प, धूलकण और ओषोण गैस काफी महत्त्वपूर्ण हैं। वायु में भाप की मात्रा घटती-बढ़ती रहती है, परन्तु इसकी अधिक-से-अधिक मात्रा ४·० प्रतिशत से अधिक नहीं होती। मौसम की जानकारी के लिए वायु में मिली हुई भाप की मात्रा जानना बहुत आवश्यक है। भाप के कारण ही ओस, कुहरा, बादल, वर्षा, ओले और तुषार आदि की उत्पत्ति होती है। बादलों के जलकणों में होकर सूर्य की किरणें भिन्न-भिन्न प्रकार निकलती हैं, तो उनसे भिन्न-भिन्न प्रकार के रंग दिखाई देते हैं। इसीलिए हमें इन्द्रधनुष एवं चन्द्रकिरीट (Halo) आदि दृश्य दिखाई देते हैं। जलकणों से बने हुए क्यूमलोनिम्बस बादलों के कारण ही गर्जन उत्पन्न होती है।

वायु में मिले हुए धूलकण भी विशेष महत्त्व के हैं। ये धूलकण कई प्रकार से हवा में मिलते रहते हैं। धरातल पर हवा चलने से अगणित सूक्ष्मकण वायु में मिल जाते हैं तथा समुद्र की लहरों से उछले हुए पानी के छींटों के भाप बन जाने पर नमक के सूक्ष्म कण हवा में रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ज्वालामुखी पर्वतों के उद्गारों के समय तथा उल्कापात के समय उल्का के वायुमण्डल में आकर जल जाने और टुकड़े-टुकड़े हो जाने से भी सूक्ष्म कण वायु में मिल जाया करते हैं। इन्हीं सूक्ष्मकणों की सहायता से कुहरा, धुन्ध और बादल बनते हैं तथा सूर्यास्त और सूर्योदय के समय आकाश में लालिमा आदि दीख पड़ती है।

धरातल के समीप वायुमण्डल में ओषोण की मात्रा बहुत ही कम है। परिवर्त-मण्डल में यह केवल करोड़वाँ भाग है। ऊपर के भागों में इसकी मात्रा अधिक है। प्राणिजीवन के विकास के लिए ओषोण उपयोगी तत्त्व है। सूर्य की पराकासनी किरणों (Ultraviolet Rays) का बहुत सा भाग ओषोण ही सोख लेती है। यदि ये किरणें सब-की-सब पृथ्वी पर पहुँच पातीं, तो गरमी की अधिकता के कारण किसी का जीवित रहना असंभव हो जाता। ओषोण की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों में एकमत नहीं है। कुछ लोगों के मत से सूर्य की पराकासनी किरणें आक्सीजन के अणुओं को तोड़ देती हैं और वे दुबारा एकत्र होकर ओषोण की शक्ल में उपस्थित होते हैं। दूसरे लोगों के मत से यह ज्योतियों (Aurorae) के कारण उत्पन्न होते

हैं। जो कुछ भी कारण हो, यह तो निश्चित है कि इनका तापक्रम और दबाव पर बहुत प्रभाव पड़ता है। ओषोण की मात्रा में दैनिक और वार्षिक परिवर्तन भी होता है। इनके परिवर्तन से मौसम भी बदल जाता है। ओषोण की मात्रा के अनुसार पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति में भी परिवर्तन होता हुआ देखा गया है।

२४९. **वायुमण्डल के विशेष गुणधर्म**—वायु की प्रमुख विशेषता यह है कि यह अत्यन्त अस्थिर और परिवर्तनशील है। इसकी दशा प्रतिक्षण बदलती रहती है। हल्की होने के कारण वह स्वतन्त्रतापूर्वक इधर-उधर चाहे जहाँ जा सकती है। वायु की प्रतिक्षण बदलने वाली दशा को मौसम कहते हैं। मौसम को बदलते रहने वाली वायु के कुछ विशेष गुणधर्म हैं जिनमें तापक्रम, वायुभार और आर्द्रता मुख्य हैं। तापक्रम, वायुभार और आर्द्रता हर समय बदलते हैं। इन्हीं के बदलने को मौसम कहा जाता है। हम देखते हैं कि वायु कभी ठण्डी होती है और कभी गरम। कभी वर्षा होती है तो कभी ओले या सूखा ही रहती है। इस प्रकार मौसम कभी भी स्थिर नहीं रहता। मौसम के विराट परिवर्तनों को अलग-अलग जोड़कर महीने तथा वर्ष भर के मौसम का औसत निकाल लेते हैं। इस औसत को कई वर्षों के औसत से मिलाकर स्थायी जलवायु ज्ञात की जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि वायु की क्षणिक अवस्था को मौसम तथा स्थायी औसत अवस्था को जलवायु कहा जाता है।

२५०. **मौसम और जलवायु को निर्धारित करने वाले तत्त्व**—हमने अभी बतलाया था कि वायु के तापक्रम, वायुभार और आर्द्रता की भिन्नता के कारण मौसम बदलता है। परन्तु वायु के इन गुणधर्मों को बदलने में प्रकृति के कुछ विशेष नियमों का हाथ है। संक्षेप में वे नीचे दिये जा रहे हैं—

(क) **अक्षांश**—सूर्य की किरणों से धरातल पर बनने वाला कोण अक्षांश के अनुसार बदलता है और इस कोण के अनुसार सूर्य की गरमी न्यूनाधिक हो जाती है। अक्षांश के अनुसार ही यह भी निश्चित होता है कि किसी स्थान पर दिन कितने घंटे तक रहेगा अथवा यों कहिये कि २४ घंटे में से कितने घंटों तक सूर्य की किरणें उस स्थान को प्राप्त होती रहेंगी।

(ख) **जल और स्थल का विन्यास**—स्थल भाग जल की अपेक्षा जल्दी गर्म अथवा ठण्डा होकर वायु के तापक्रम आदि को प्रभावित करता है। स्थलभागों में झीलें भी तापक्रम को कुछ अंशों में सम बनाती हैं।

(ग) **हवायें**—हवाओं का वेग और उनकी दिशा जलवायु पर विशेष प्रभाव डालती हैं।

(घ) समुद्रतल से ऊँचाई—जो स्थान समुद्रतल से जितना ऊँचा होगा उतना ही अधिक जलवायु ठण्डा होगा क्योंकि ऊपर की ओर हवा हल्की होती जाती है।

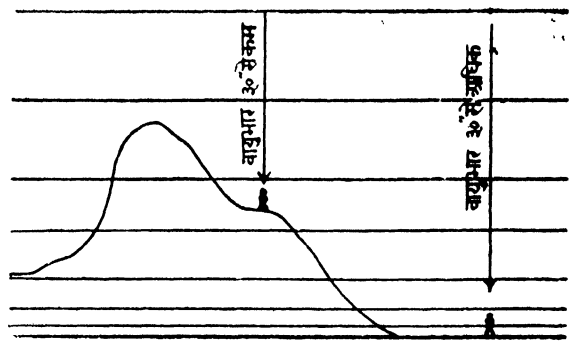

चित्र ७०.
समुद्रतल से ऊँचाई का गरमी पर प्रभाव।

(च) पर्वतों का रुख—पर्वतों की दिशा के कारण जलवायु में बहुत अन्तर पड़ जाता है। कुछ पर्वत शीत प्रदेशों की ठण्डी वायु को रोककर अथवा जलवाष्प से लदी हवा से वर्षा कराके जलवायु को उत्तम बना देते हैं। कुछ पर्वतों की दिशा से इस प्रकार के लाभ उस देश के निवासियों को नहीं हो पाता।

(छ) अधिक वायुभार और न्यून वायुभार वाली पेटियाँ भी जलवायु को पर्याप्त प्रभावित करती है।

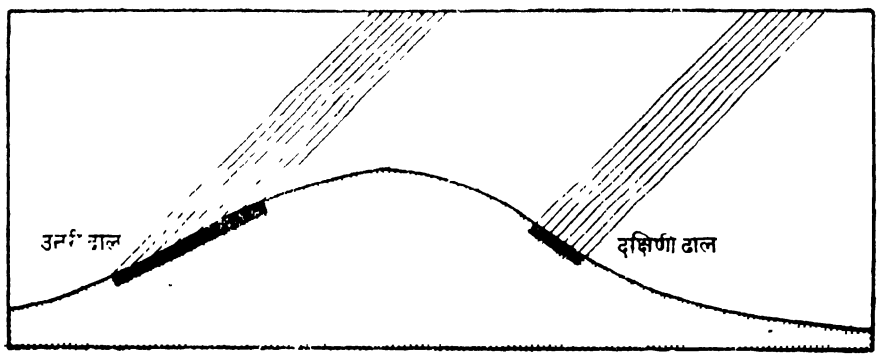

चित्र ७१. पर्वतों के रुख का गरमी पर प्रभाव।

(ज) धारायें—समुद्रों में चलने वाली गरम और ठंडी धाराओं का प्रभाव उनके ऊपर चलने वाली हवाओं पर पड़ता है और तापक्रम आदि में परिवर्तन हो जाता है।

(झ) वायु विक्षोभ (Atmospherics)—आँधी, तूफान आदि वायु के विक्षोभ वायु की दिशाओं में परिवर्तन करके, आकाश को मेघाछन्न करके तथा वायु के वेग में परिवर्तन करके जलवायु को अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

उपर्युक्त कारणों में से कोई एक अथवा एकाधिक मिलकर संसार के प्रत्येक भाग के मौसम को प्रतिक्षण बदलते है तथा इन्हीं से उनका जलवायु भी भिन्न-भिन्न रहता है।

बीसवाँ अध्याय

वायुमण्डल का तापक्रम

२५१. ताप और तापक्रम—ताप शक्ति का एक विशेष रूप है जो किसी पदार्थ को गरम बना देती है और तापक्रम उस पदार्थ की गरमी के कारण उत्पन्न हुई दशा का सूचक है। घड़े का पानी धूप में रखे हुए पानी से गरमाहट में कम है इसलिए घड़े के पानी का तापक्रम धूप में रखे पानी के तापक्रम से कम है। जिस प्रकार जल ऊँचे धरातल से नीचे धरातल की ओर बहता है, उसी प्रकार ताप भी ऊँचे तापक्रम से नीचे तापक्रम की ओर चलता है।

२५२. वायुमण्डल के तापक्रम का साधन—ताप का कुछ भाग हम भूगर्भ से भी प्राप्त होता है, परन्तु अधिकांश ताप सूर्यदेव की कृपा का फल है। सूर्य पृथ्वी से करोड़ों गुना बड़ा है। सूर्य अत्यन्त गरम है। इसके धरातल पर ही १०,००० फा० से अधिक गरमी बताई जाती है। परम तेजस्वी सूर्य के अत्यन्त विशाल पिण्ड से गरमी निकलकर ताप-तरंगों के रूप में निरंतर शून्य में प्रसारित होती रहती है। इस ताप-तरंगों के विशाल पुंज को सूर्यताप (Insolation) कहते हैं। सूर्यताप की प्रचण्ड शक्ति प्रति मिनट एक करोड़ मील से भी अधिक तेज़ी से चलती है और सूर्य से ९,३०,००,००० मील दूर हमारी पृथ्वी पर ९ मिनट में पहुँच जाती है। इस महान् शक्ति का केवल दो अरबवाँ भाग ही पृथ्वी को प्राप्त होता है। इस थोड़ी-सी शक्ति का भी केवल ५७ प्रतिशत भाग ही पृथ्वी के धरातल तक पहुँच पाता है। बाकी ४३ प्रतिशत में से ३७ प्रतिशत बादलों और धूलकणों द्वारा प्रतिबिम्बित होकर पुनः शून्य में वापिस चला जाता है और शेष भाग को ओषोण आदि गैसें सोख लेती हैं। इस प्रकार वायुमण्डल को पार करने में सूर्यताप का लगभग आधा भाग नष्ट हो जाता है।

२५३. अक्षांश और तापक्रम—सूर्यताप का वितरण पृथ्वी के धरातल पर समान रूप से नहीं होता। किसी स्थान पर सूर्यताप पहुँचने की मात्रा दो बातों पर निर्भर होती है : (क) धरातल से सूर्य की ऊँचाई अर्थात् धरातल पर सूर्य की किरणों से बनने वाला कोण या झुकाव, और (ख) दिन और रात की लम्बाई का अन्तर अर्थात् २४ घण्टों में सूर्य का प्रकाश प्राप्त होने के घण्टे।

(क) सूर्य का झुकाव—यद्यपि सूर्य की किरणें पृथ्वी पर आते समय एक दूसरी के समानान्तर होती हैं, परन्तु पृथ्वी की गोलाई के कारण केवल एक बिन्दु पर ही लम्बवत् पड़ती हैं। इस बिन्दु से कोई स्थान जितना ही उत्तर या दक्षिण की ओर दूर होगा, सूर्य की किरणें उस स्थान पर उतनी ही अधिक तिरछी पड़ेंगी। सूर्य

की किरणें जितनी अधिक तिरछी होंगी, सूर्यताप भी उतनी ही कम मात्रा में प्राप्त होगी । तिरछी किरणों द्वारा कम गरमी प्राप्त होने के दो कारण हैं : (१) सीधी किरणों की अपेक्षा तिरछी किरणों को धरातल का अधिक भाग गरम करना पड़ता है, और (२) सीधी किरणों की अपेक्षा तिरछी किरणों को वायुमण्डल का अधिक भाग पार करना पड़ता है और इसीलिए उनकी अधिक गरमी वायुमण्डल में नष्ट हो

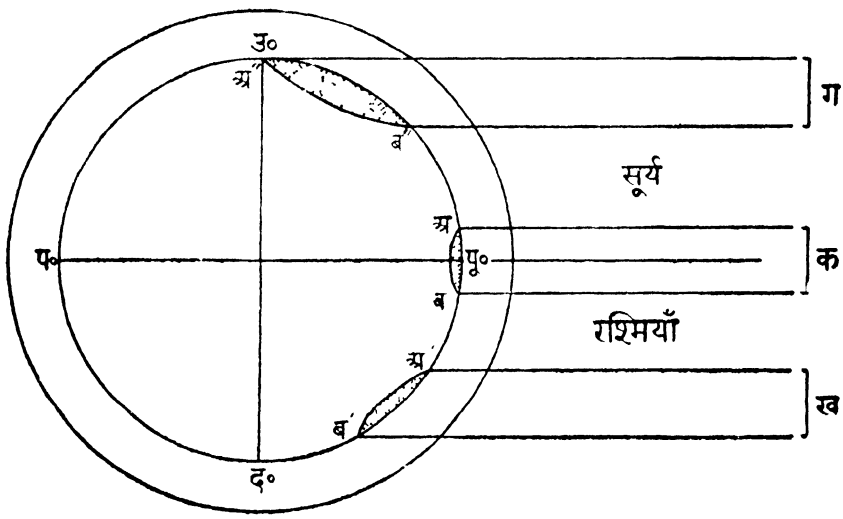

चित्र ७२. सूर्य के झुकाव का गरमी पर प्रभाव ।

जाती है । चित्र ७७ में **क, ख** और **ग** तीन एक समान किरणपुंज हैं । ये तीनों किरणपुंज एक दूसरे के समानान्तर है । परन्तु धरातल पर तीनों की स्थिति भिन्न-भिन्न है । **'क'** किरणपुंज धरातल पर लम्ववत् है, शीतोष्ण कटिबन्ध में **'ख'** पुंज कुछ तिरछा है और शीत कटिबन्ध में **'ग'** पुंज सबसे अधिक तिरछा है । प्रथम तो, एक समान किरणपुंजों को ज्यों-ज्यों पृथ्वी का तिरछापन बढ़ता है, त्यों-त्यों अधिकाधिक भूभाग गरम करना पड़ता है । इसी कारण से ज्यों-ज्यों किरणें तिरछी होती जाती हैं, अधिक भूभाग गरम करने के कारण उनकी तापशक्ति घटती जाती है । दूसरे, हम चित्र में देखते हैं कि **'क'** किरणपुंज की अपेक्षा **'ख'** को और **'ख'** पुंज की अपेक्षा **'ग'** को अधिक वायुमण्डल पार करना पड़ता है । इसी कारण उनकी अधिकाधिक गरमी मार्ग में नष्ट हो जाती है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तिरछेपन के साथ किरणों की शक्ति घटती जाती है । अँगोट नामक वैज्ञानिक ने वायुमण्डल में नष्ट होने वाली गरमी की मात्रा को ग्राफ़ द्वारा भलीभाँति समझा दिया है—

उपर्युक्त विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि किरणों के लम्बवत् चमकने और तापक्रम बढ़ने में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है । गरमी का वर्ष भर का हिसाब लगाने से यह विदित होगा कि भूमध्यरेखा के समीप सबसे अधिक गरमी पड़ती है और भूमध्य-

रेखा से ज्यों-ज्यों ध्रुवों की ओर बढ़ेंगे, त्यों-त्यों गरमी की मात्रा कम होती जायगी।

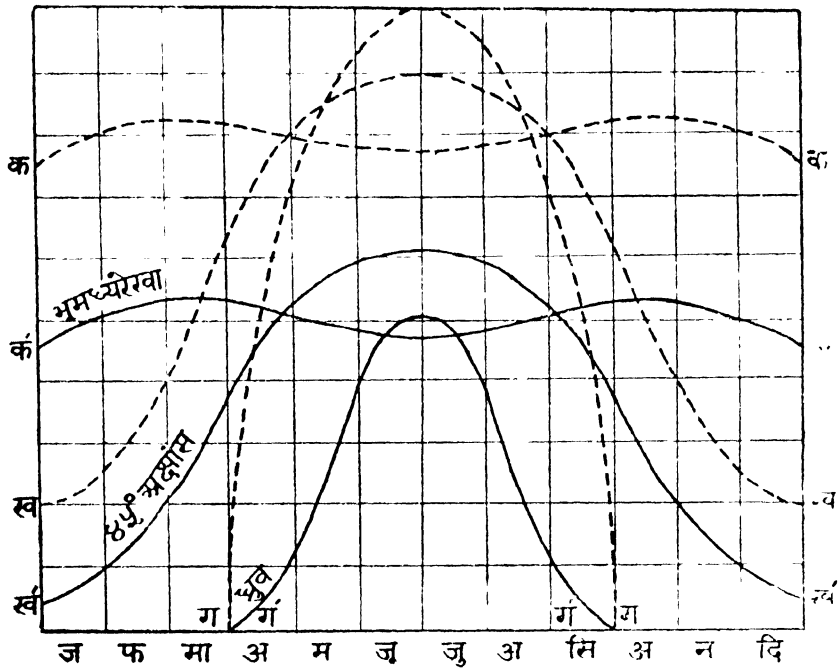

चित्र ७३. वायुमण्डल द्वारा नष्ट गरमी।

(ख) दिन और रात की लम्बाई का अंतर भी सूर्यताप की न्यूनाधिक मात्रा पर प्रभाव डालता है। जितनी अधिक देर तक किसी स्थान पर सूर्य चमकता रहेगा, उतनी ही अधिक गरमी उस स्थान को उपलब्ध हो सकेगी। भूमध्यरेखा पर दिन और रात हमेशा बराबर होते हैं। परन्तु भूमध्यरेखा से दूरस्थ स्थानों में गरमी की ऋतु में दिन बड़े और रात छोटी होती हैं। इसके विपरीत जाड़े की ऋतु में दिन छोटे और रात बड़ी होती हैं। भूमध्यरेखा से हम जितनी अधिक दूर जायँगें, दिन और रात की अवधि में उतना ही अधिक अन्तर पड़ता जायगा। इस प्रकार गरमी की ऋतु में भूमध्यरेखा से दूरवर्त्ती स्थानों में दिन लम्बे होते हैं जिसके कारण तिरछी किरणों द्वारा कम गरमी प्राप्त होने का घाटा अधिक देर तक गरमी मिलने से पूरा हो जाता है। दिन और रात की अवधि में अन्तर होने के दो कारण हैं—(१) पृथ्वी की धुरी का झुका हुआ होना तथा (२) सूर्य की परिक्रमा करते समय धुरी की प्रत्येक स्थिति का अन्य सभी स्थितियों के समानान्तर होना।

पृथ्वी की गोलाई के कारण एक समय में इसके केवल आधे भाग पर ही सूर्य चमकता है और शेष आधे भाग में अँधेरा रहता है। पृथ्वी के गोले पर जो दीर्घ वृत्त पृथ्वी के दिन वाले आधे भाग को रात वाले भाग से अलग करता है उसे **प्रकाश-वृत्त** (Circle of Illumination) कहते हैं। यदि पृथ्वी की धुरी अपनी कक्षा पर समकोण बनाती, तो सारी पृथ्वी पर दिन और रात हमेशा बराबर होते। किन्तु

पृथ्वी की धुरी अपने क्रान्तिमण्डल या कक्षा पर ६६½° का कोण बनाती है तथा सूर्य के चारों ओर घूमते समय उसकी सभी स्थितियाँ एक दूसरी के समानान्तर होती हैं। इसका फल यह होता है कि सूर्य की सीधी किरणें अयनरेखाओं (Tropics) के बीच के भागों में विभिन्न स्थानों पर पड़ती है। सूर्य की सीधी किरणों के निरन्तर स्थान बदलते रहने के कारण वर्ष में केवल दो दिन (२१ मार्च और २३ सितम्बर) ही सूर्य की किरणें भूमध्यरेखा पर सीधी पड़ती है। दोनों दिन प्रकाश-वृत्त ध्रुवों पर होकर जाता है और सभी अक्षांश रेखाओं को समकोण पर काटता है। इन दोनों दिन पृथ्वी पर सर्वत्र दिन-रात बराबर होते है। इन दो दिनों के अतिरिक्त वर्ष के अवशेष भाग में प्रकाशवृत्त अक्षांश रेखाओं को टेढ़ा काटता है। फलतः दिन और रात की अवधि घटती-बढ़ती रहती है। उत्तरी गोलार्द्ध की ग्रीष्म-ऋतु में जिस अक्षांश पर अर्थात् भूमध्यरेखा से जितने अंश उत्तर की ओर सूर्य की सीधी किरणें

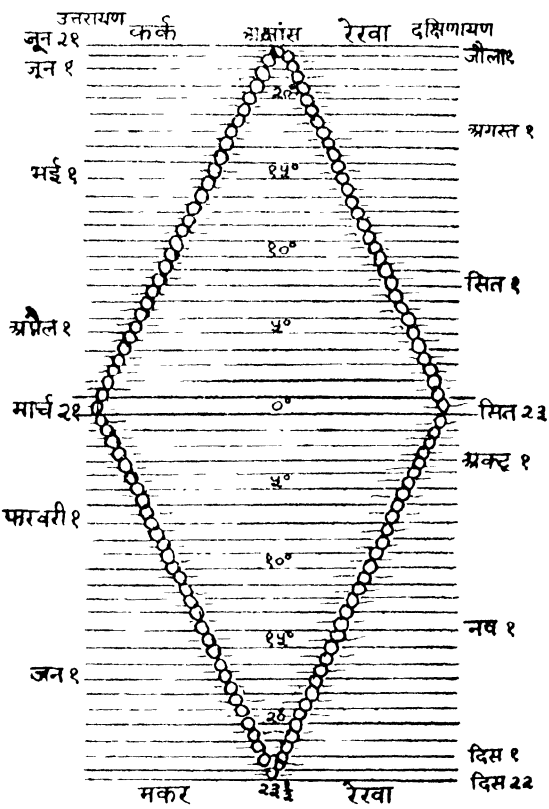

चित्र ७४. अयनरेखाओं के बीच में दिखाई देने वाला सूर्य का मार्ग।

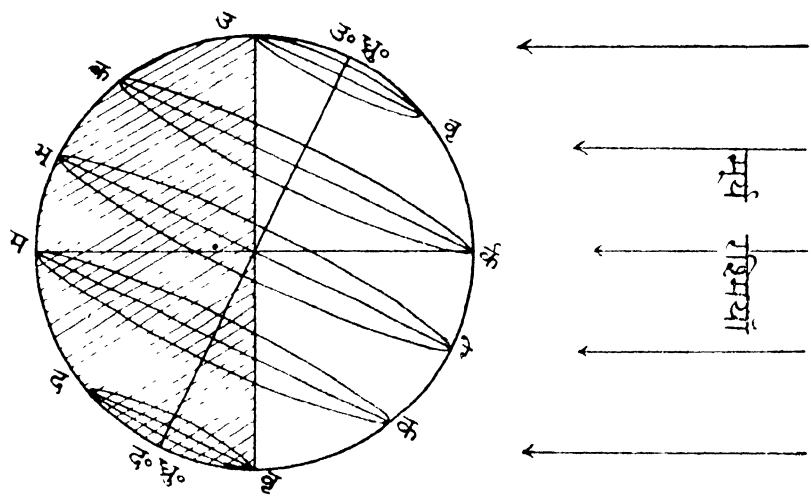

चित्र ७५. २१ जून।

पड़ती है, प्रकाशवृत्त भी उत्तरी ध्रुव से उतने ही अंश आगे बढ़ जाता है। २१ जून को, जब सूर्य की सीधी किरणें कर्करेखा पर पड़ती हैं, प्रकाशवृत्त उत्तरी ध्रुव से २३½ अंश आगे बढ़ जाता है। इस दिन उत्तरी गोलार्द्ध में सबसे बड़े दिन होते हैं। इसके विपरीत जब सूर्य दक्षिणी गोलार्द्ध में सीधा चमकता है, तो इसी प्रकार वहाँ भी दिन बड़े होते जाते है और २२ दिसम्बर को वहाँ सबसे बड़ा दिन होता है।

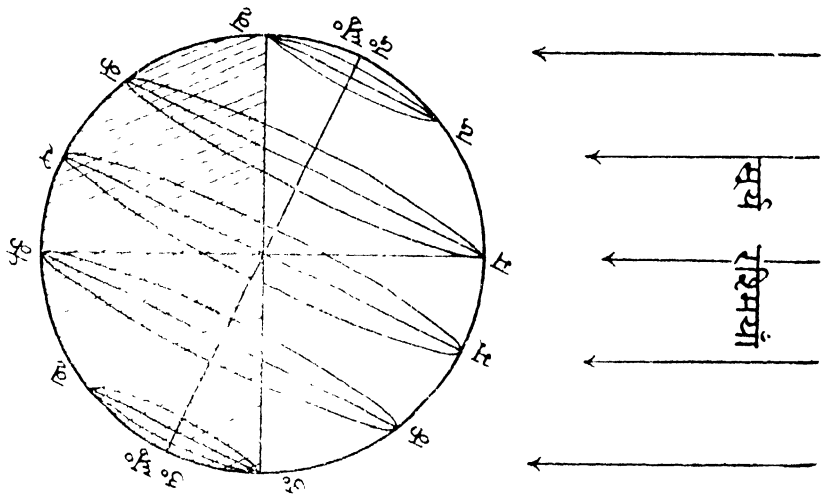

चित्र ७६. २२ दिसम्बर।

दिन और रात की लम्बाई का अन्तर भूमध्यरेखा की दूरी के साथ बढ़ता जाता है। भूमध्यरेखा दीर्घवृत्त है और प्रकाशवृत्त भी दीर्घवृत्त है। पृथ्वी के दीर्घवृत्त एक दूसरे को दो बराबर भागों में बाँटते है। अतः भूमध्यरेखा पर हमेशा दिन-रात बराबर होते है। बाकी अक्षांश रेखाओ को जब प्रकाशवृत्त समकोण पर काटता है तभी उनको दो बराबर भागो में बाँटता है। जब प्रकाशवृत्त अक्षांश रेखाओं को टेढ़ा काटता है, तो वह इन रेखाओं को समकोण से जितने अधिक बड़े कोण पर काटेगा, दिन की अवधि भी उतनी ही बढ़ती जायगी। नीचे की तालिका में कुछ अक्षांशों पर २१ जून और २२ दिसम्बर को दिन की अवधि दी जा रही है—

दिन की अधिकतम अवधि

(यह अवधि उत्तरी गोलार्द्ध में २१ जून और दक्षिणी गोलार्द्ध में २२ दिसम्बर को होगी)

अक्षांश	अधिकतम अवधि (घं०–मि०)
भूमध्यरेखा	१२–०
१०°	१२–३५
२०°	१३–१२

अक्षांश	अधिकतम अवधि (घं०–मि०)
३०°	१३–३६
४०°	१४–५२
५०°	१६–१८
६०	१८–३०
७०°	२ महीने
८०°	४½ महीने
९०°	६ महीने

२५४. ताप के वितरण पर जल और स्थल का प्रभाव—सूर्यताप का जितना भाग पृथ्वी तक पहुँचता है उसका बहुत थोड़ा-सा भाग (लगभग १० प्रतिशत) सीधा वायु में मिल पाता है। असल में सूर्यताप पहले पृथ्वी के धरातल को प्रभावित करके पार्थिव ताप के रूप में परिणित हो जाता है। यह **पार्थिव ताप ही वायुमण्डल को गरम बनाने का मुख्य साधन** है। धरातल पर सूर्यताप के वितरण के सम्बन्ध में अक्षांश के वितरण के प्रभाव का विचार किया जा चुका है। परन्तु अक्षांश के अतिरिक्त जलस्थल का विन्यास भी इस वितरण को प्रभावित करता है। स्थल भाग जल की अपेक्षा जल्दी गरम और जल्दी ही ठण्डा होता है। स्पष्ट है कि स्थलीय भाग में पार्थिव ताप जल से अधिक जल्दी उत्पन्न होती है और जल्दी ही समाप्त भी हो जाती है। जल की अपेक्षा स्थल के जल्दी गरम या ठण्डे होने के निम्न कारण हैं—

(क) एक घनफुट पानी को एक अंश गरम करने के लिए एक घनफुट भूमि से दूनी गरमी चाहिए। इसी प्रकार जब पानी एक अंश ठण्डा होगा तो स्थल से दूनी गरमी अपने में से निकालेगा।

(ख) सूर्य की किरणें स्थल की अपेक्षा जल में अधिक गहराई तक प्रवेश कर जाती हैं अतः उन्हें अपेक्षाकृत जल का अधिक भाग गरम करना पड़ता है। इसीलिए जल का तापक्रम अधिक नहीं बढ़ पाता और न वह जल्दी कम होने पाता है। स्थल पर दैनिक ताप का प्रभाव ३ फीट तक पहुँचता है जब कि जल में उसका प्रभाव ६० फीट तक पहुँच जाता है।

(ग) जल गतिशील होता है अतः लहरों, धाराओं आदि के रूप में जल की गरमी एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचती रहती है। स्थल अपनी गरमी एक ही स्थान पर एकत्रित करता रहता है।

(घ) जल की गरमी का बहुत सा भाग जल को वाष्प रूप में परिवर्तित करके वायु में मिल जाता है। स्थल में यह संभव नहीं है।

(च) जल का ऊपरी भाग जब ठण्डा होने लगता है तो निचले गरम भाग से संवाहन धारायें आकर ऊपरी तल को गरम बनाये रखती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि स्थलीय भाग जलखण्डों की अपेक्षा जल्दी गरम और जल्दी ठण्डे होंगे। इसीलिए महाद्वीपों की जलवायु विषम और महासागरों के समीप की जलवायु सम मानी जाती है।

२५५. हवा का गरम होना—अधिक तापक्रम वाली वस्तु से कम तापक्रम वाली वस्तु में ताप के प्रवेश करने की तीन विधियाँ हैं—(१) **संचालन** (Conduction) द्वारा ताप का परिचालन एक कण से दूसरे कण में होता है; (२) **संवाहन** (Convection) द्वारा किसी वस्तु के कण गरमी के केन्द्र से ताप लेकर ऊपर की ओर उठते हैं; और (३) **विकिरण** (Radiation) द्वारा ताप एक वस्तु से दूसरी वस्तु में बिना किसी भौतिक आधार के प्रवेश करती है। हमारी पृथ्वी सूर्य से विकिरण द्वारा ही गरम होती है।

(क) सवाहनधाराओं द्वारा वायु का गरम होना—हम पहले कह चुके हैं कि विकिरण द्वारा प्रसारित की हुई सूर्यताप का बहुत थोड़ा-सा अंश ही हवा सोख सकती है। हमारा साधारण अनुभव है कि जाड़े की ऋतु में कभी-कभी तेज़ धूप के होने पर भी ठण्ड लगती रहती है। इससे प्रकट होता है कि वायु विकिरण द्वारा प्राप्त सूर्यताप की उत्तम शोषक (Good Absorber) नहीं है।

विकिरण द्वारा प्रसारित की हुई सूर्यताप को सोखकर पृथ्वी का धरातल गरम हो जाता है। इस गरम धरातल से वायु का निचला स्तर मिला हुआ है। गरम धरातल के सम्पर्क में आने वाली वायु भी संचालन द्वारा गरम हो जाती है। वायु ताप की अधम संचालक (Poor Conductor) है। फलतः वायु के निचले गरम भाग से संचालन द्वारा बहुत कम गरमी वायु के ऊपरी भाग में जा पाती है।

वायु में ताप का परिचालन प्रधानतः संवाहन द्वारा ही होता है। पृथ्वी के धरातल से पार्थिव ताप प्रसारित (Emission) होती है। वायु इस पार्थिव ताप का ९० प्रतिशत भाग सोख लेती है। ताप के शोषण में जलवाष्प, ओषोण तथा कार्बन डाइआक्साइड गैसों का प्रमुख भाग रहता है। जलवाष्प के अभाव के कारण ही रेगिस्तानों की वायु पार्थिव ताप का अधिक भाग नहीं सोख पातीं। इस प्रकार संचालन और विकिरण द्वारा धरातल के समीप की वायु गरम हो जाती है। गरम होकर वायु फैलती है अर्थात् अधिक स्थान घेरती है। फैलने के कारण ही वायु हल्की हो जाती है और उसका कुछ भाग ऊपर को उठता है। इस प्रकार गरम वायुस्तम्भ का भार घट जाता है और उसके समीप ठण्डी वायु का भार अधिक हो जाता है। फलतः समीप की ठण्डी और भारी वायु का कुछ भाग गरम वायु का स्थान ग्रहण कर लेता है और गरम तथा हल्की वायु को हटाकर ऊपर की ओर धकेल देता है। इस प्रकार संवाहन द्वारा जो वायुधारायें उठती हैं उनको संवाहन-धारायें कहते हैं। संवाहन-

धाराओं के द्वारा ही ऊँचाई पर स्थित वायु की परतें गरम होती हैं।

(ख) भिंचाव द्वारा वायु की गरमी बढ़ना—जब वायु ऊपर से नीचे की ओर चलती है, तो उसे सिकुड़ना पड़ता है अर्थात् थोड़े स्थान में अधिक वायु एकत्र होने लगती है और वायुभार बढ़ जाता है। भार-वृद्धि के फलस्वरूप निचले स्तर में वायु का तापक्रम बढ़ जाता है। इस प्रकार कम स्थान में अधिक वायु का भिंचाव भी तापक्रम की वृद्धि का कारण है।

(ग) हवा जब एक स्थान से दूसरे स्थान को चलती है, तो वह अपने साथ अपना तापक्रम लेकर आगे बढ़ती है और जहाँ पर पहुँचती है वहाँ के तापक्रम में परिवर्तन कर देती है। गरम स्थानों से आने वाली हवायें गरम और ठण्डे भागों से आने वाली हवायें ठण्डी मालूम देती हैं।

२५६. वायु का ठण्डा होना—(क) हवा विकिरण द्वारा अपनी गरमी प्रसारित करती है। इस गरमी का कुछ भाग शून्य में मिल जाता है और कुछ ठण्डी धरती सोख लेती है। जाड़ों की रात में वायु विकिरण द्वारा अपनी पर्याप्त गरमी खो देती है। वायु का निचला भाग धरातल के सम्पर्क में रहता है। अतः इस भाग की कुछ गरमी संचालन द्वारा भी ठण्डी पृथ्वी में मिल जाया करती है। (ख) जिस प्रकार नीचे उतरती हुई हवा भिंचाव के कारण गरम हो जाती है, उसी प्रकार ऊपर को जाती हुई हवा फैलने के कारण ठण्डी हो जाती है। (ग) ठण्डे भागों से चलने वाली हवा अपने साथ ठण्ड लाती है।

२५७. वायु का तापक्रम नापना—ऋतु सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने के लिए दिन-रात के २४ घण्टो का अधिकतम और न्यूनतम तापक्रम मालूम करने की आवश्यकता पड़ती है। वायु की गरमी नापने के लिए स्वयंलेखक उच्चतम-न्यूनतम थर्मामीटर होता है जिसका सिक्स नामक वैज्ञानिक ने आविष्कार किया था। दिनरात के उच्चतम तापक्रम और न्यूनतम तापक्रम के योगफल में दो का भाग देने से दिनभर का औसत तापक्रम निकलता है। यदि किसी महीने के प्रत्येक दिन का दैनिक औसत तापक्रम निकाल लें और उन सबको जोड़कर उस महीने के कुल दिनों की संख्या से भाग दें, तो उस महीने का औसत तापक्रम निकल आयेगा। इसी प्रकार वर्ष के कुल महीनों का औसत मासिक तापक्रम जोड़कर १२ से विभाजित करें, तो उस वर्ष का औसत वार्षिक तापक्रम (Mean Annual Temperature) ज्ञात होगा।

किसी स्थान के किसी दिन के उच्चतम तापक्रम से उसी दिन का न्यूनतम तापक्रम घटा देने से जो अन्तर निकलता है, उसे दैनिक तापान्तर (Daily Range) कहते हैं। इस प्रकार वर्ष के सबसे गरम महीने के औसत तापक्रम में से सबसे ठण्डे महीने का औसत तापक्रम घटाने से वार्षिक तापान्तर (Annual Range) ज्ञात होता है।

२५८. वायु के तापक्रम का दैनिक परिवर्तन—हम पहले कह चुके हैं कि ताप का आदिस्रोत सूर्य है। पृथ्वी के आवर्तन (Rotation) के कारण प्रत्येक भाग दिन में सूर्य की किरणों के सामने रहता है और रात्रि के समय सूर्य की विपरीत दिशा में रहता है। इसी कारण दिन के समय तापक्रम बढ़ता है और रात्रि के समय कम होता है। दिन के समय भी प्रातःकाल और सायंकाल के समय मध्याह्न की अपेक्षा सूर्य की किरणें तिरछी पड़ती हैं। अतः मध्याह्न में तापक्रम अधिक रहता है और प्रातः-सायं कम रहता है। सामान्यतः उपर्युक्त दो कारणों से प्रातःकाल सूर्योदय से तापक्रम बढ़ने लगता है और दिन के २ बजे से ४ बजे के बीच में किसी समय तक बढ़ता है। इसके पश्चात् दिन के लगभग २ या ३ बजे से तापक्रम घटने लगता है और सूर्योदय के कुछ समय पूर्व तक घटता है। ध्यान रहे कि धरातल पर सूर्यताप की सबसे अधिक मात्रा दोपहर के बारह बजे प्राप्त होती है क्योंकि किरणें उसी समय सबसे कम तिरछी होती हैं। परन्तु वायु का उच्चतम तापक्रम दिन के २ बजे के आसपास होता है। इसी प्रकार वायु का न्यूनतम तापक्रम रात्रि के १२ बजे नहीं होता बल्कि रात्रि के ४ बजे के लगभग रहता है। इसका कारण यह है कि सूर्यताप को पार्थिव ताप में परिणित होकर वायुमण्डल तक पहुँचने में कुछ समय लगता है। राउच नामक वैज्ञानिक के मतानुसार सूर्यताप से प्राप्त होन वाली गरमी जबतक पृथ्वी की विकरण द्वारा नष्ट होने वाली गरमी से अधिक रहती है तब तक तापक्रम बढ़ता रहता है।

जैसा कि हम पढ़ चुके हैं पृथ्वी के धरातल पर सबसे अधिक सूर्यताप भूमध्य-रेखा के समीप प्राप्त होती है और ज्यों-ज्यों ध्रुवों की ओर बढ़ते जाते हैं उसकी मात्रा घटती जाती है। स्पष्ट है कि भूमध्यरेखा के समीप रात्रि के समय अधिक ताप विकिरण द्वारा नष्ट होगी। इसीलिए सामान्यतः **भूमध्यरेखा पर दैनिक तापान्तर अधिक** रहता है। यह तापान्तर भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर घटता जाता है। तापान्तर के इस सामान्य नियम में निम्नांकित कारणों से अंतर पड़ जाता है—

(क) समुद्रतट के समीपस्थ स्थानों की अपेक्षा महाद्वीपों के भीतरी भागों में दैनिक तापान्तर अधिक होता है।

(ख) बादल सूर्यताप का काफी अंश सोख लेते हैं तथा रात्रि के समय पृथ्वी की गरमी को विकरण द्वारा नष्ट होने में रुकावट डालते हैं। फलतः जिन दिनों आकाश में बादल छाये रहते हैं, उन दिनो दैनिक तापान्तर कम होता है।

(ग) जिन दिनों भूमि पर बर्फ ढँकी रहती है, उन दिनों दैनिक तापान्तर बढ़ जाता है क्योंकि सफेद वस्तु विकिरण द्वारा प्राप्त सूर्यताप का अधिक भाग परावर्तित कर देती है। भारतीय जानते हैं कि इसीलिए ग्रीष्म ऋतु में मकानों की सफेदी की जाती है।

(घ) ऊँचे स्थानों पर हवा घनी नहीं होती। अतः दिन में विकिरण द्वारा गरमी जल्दी पहुँच जाती है और रात्रि को जल्दी निकल जाती है। इसी कारण पर्वतीय प्रदेशों में निचले भागों की अपेक्षा दैनिक तापान्तर अधिक रहता है।

(च) मरुस्थली भागों में वायु में जलवाष्प की मात्रा कम रहती है और आकाश में बादल बहुत कम दिखाई देते हैं। अतः रात्रि के समय गरमी शीघ्रता से निकल जाती है। यही कारण है कि अन्य भागों की अपेक्षा मरुस्थलों में दैनिक तापान्तर अधिक रहता है।

(छ) अन्य स्थानों से बहने वाली हवायें अपने साथ वहाँ का तापक्रम लेकर आगे बढ़ती हैं। उनके कारण दैनिक तापान्तर में अंतर हो जाता है।

२५९. ऋतुओं के अनुसार तापक्रम में परिवर्तन—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पृथ्वी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा कर रही है। इस परिभ्रमण में उसकी धुरी अपने परिभ्रमण-मार्ग पर कुछ झुकी हुई है और उसकी धुरी की सब स्थितियाँ एक दूसरी के समानान्तर रहती हैं। इस परिस्थिति के कारण धरातल पर सूर्यताप का वितरण ऋतुओं के अनुसार बदलता रहता है। इसी के अनुरूप प्रत्येक स्थान का तापक्रम बदलता रहता है।

इसके अतिरिक्त जलधाराओं आदि कारणों से भी कुछ स्थानों के तापक्रम में ऋतुओं के अनुसार पर्याप्त अन्तर पड़ जाता है।

ऋतुओं के अनुसार तापक्रम की जाँच औसत मासिक तापक्रम निकालकर की जाती है। ऋतु अनुसार तापक्रम-परिवर्तन की प्रमुख विशेषतायें निम्नाँकित हैं :—

(क) उष्ण कटिबन्ध में अयनरेखाओं के अतिरिक्त सभी भागों में सूर्य की किरणें वर्ष में दो बार सीधी पड़ती हैं। वर्ष के शेष भाग में भी धरातल पर सूर्य की किरणों द्वारा बनने वाला कोण अधिक झुका हुआ नहीं रहता। फलतः उष्ण-कटिबन्ध में ऋतुओं के अनुसार प्राप्त होने वाली सूर्यताप की मात्रा में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। यही कारण है कि उष्णकटिबन्ध में ऋतुओं के अनुसार तापक्रम में कम अन्तर पड़ता है।

(ख) शीतोष्ण और शीत कटिबन्धों में जिन दिनों सूर्य सबसे अधिक ऊँचाई पर चमकता है उन्हीं दिनों दिन की लम्बाई भी सबसे अधिक होती है। अतः उन दिनों तापक्रम अधिक रहता है। इसके विपरीत जिन दिनों सूर्य सबसे कम ऊँचाई पर चमकता है उन्हीं दिनों रात की लम्बाई सबसे अधिक होती है और दिन छोटा होने के कारण सूर्यताप कम देर तक ही मिल पाता है। अतः उन दिनों तापक्रम काफी कम रहता है। इसी कारण से इन भागों में ऋतु के अनुसार तापक्रम में पर्याप्त अन्तर हो जाया करता है। सूर्य की स्थिति के कारण जिन दिनों उत्तरा गोलार्द्ध में गरमी की ऋतु

होती है उन दिनों दक्षिणी गोलार्द्ध में जाड़ा होता है।

(ग) भीतरी भागों की अपेक्षा समुद्र के पास के स्थानों में मौसम के अनुसार

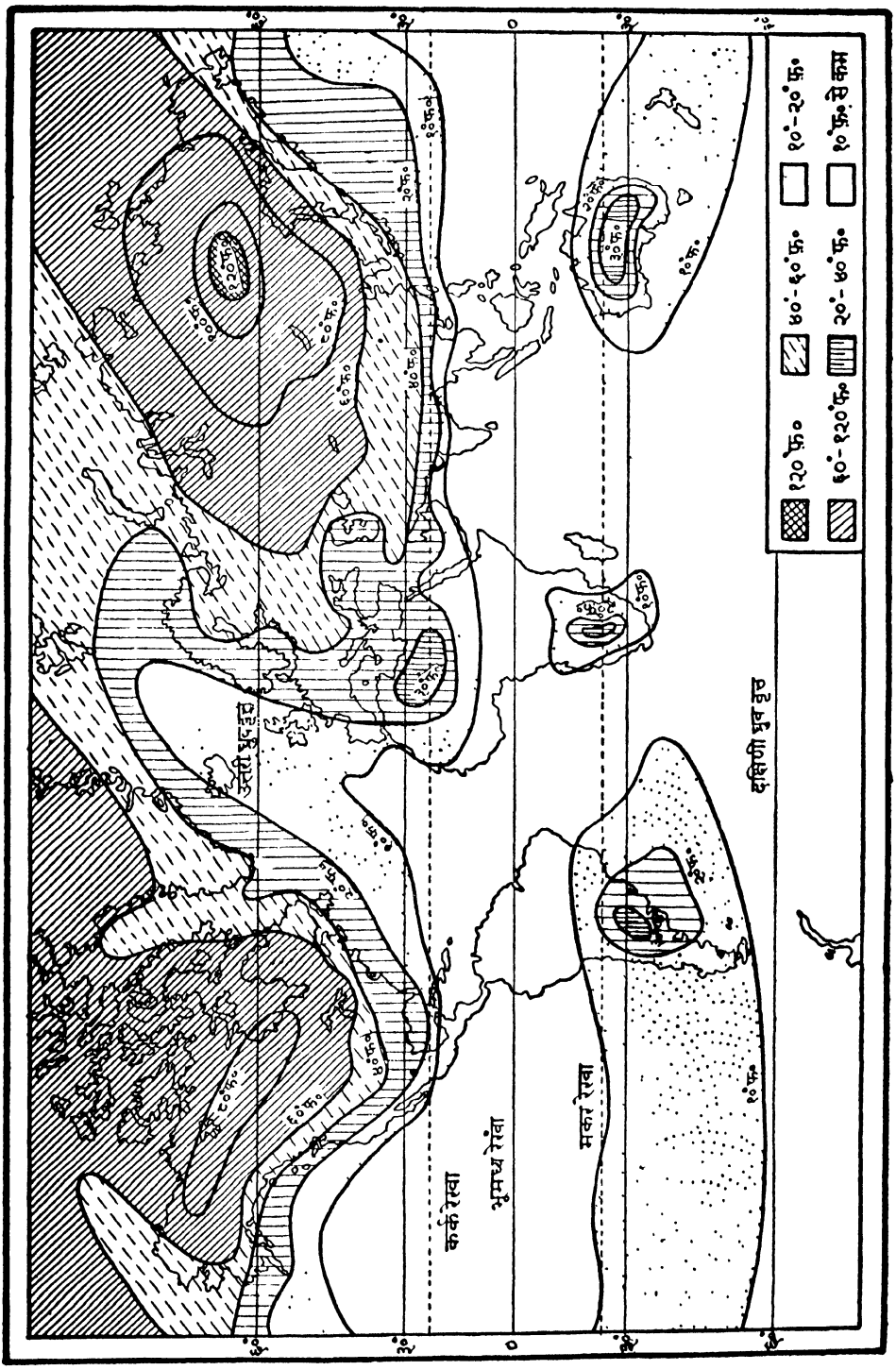

चित्र ७७. वार्षिक तापान्तर।

तापक्रम में कम परिवर्तन होता है। जिन स्थानों पर गरम धारायें बहती हैं वहाँ पर ऐसा तापान्तर और भी कम होता है।

२६०. समुद्रतल से ऊँचाई और तापक्रम परिवर्तन—हम जैसे-जैसे समुद्रतल से ऊपर जाते हैं, तापक्रम कम होता जाता है। इसके निम्नांकित दो कारण हैं—

(क) हम देख चुके हैं कि सूर्य की किरणें वायुमण्डल के निचले भाग को (परिवर्तमण्डल) बिना गरम किये ही पार कर जाती हैं। कारण यह है कि वायुमण्डल के मुख्य भाग आक्सीजन और नाइट्रोजन सूर्य की किरणों के अधिकतर भाग के लिए पारदर्शी हैं, परन्तु ये किरणें पृथ्वी के धरातल पर पड़कर उसे खूब गरम कर देती हैं। पृथ्वीतल के सम्पर्क में आने वाली वायु उष्ण धरातल से गरम होकर जब ऊपर उठती है, तो फैलने के कारण ठण्डी हो जाती हैं। इस प्रकार निचले भागों में वायु का दबा हुआ और उष्ण स्तर रहता है और ऊपरी भागों में वायु का फैला हुआ और ठण्डा स्तर रहता है। यह सभी जानते हैं कि वायु दबाने से गरम होती है। हम साइकिल में हवा भरते समय प्रतिदिन इस बात का अनुभव करते हैं।

(ख) ज्यों-ज्यों हम ऊपर जाते हैं वायुमण्डल में पानी की भाप और कार्बन-डाइआक्साइड की कमी होती जाती है। इस प्रकार निचले भागों में वायु की सघनता तथा उष्णता को सुरक्षित रखने वाली गैसों और भाप की अधिकता होने के कारण वायु के निचले स्तर अधिक गरम रहते हैं। ऊपर की ओर गरमी कम होती जाती है।

सामान्यतया प्रत्येक ३३० फीट की चढ़ाई के पश्चात् १° फा० कम होता जाता है। १८९९ ई० में टेसेराइन और आसमन नामक वैज्ञानिकों ने गुब्बारों की सहायता से पता लगाया कि लगभग ७ मील की ऊँचाई पर तापक्रम कम होना अकस्मात् बन्द हो जाता है और इसके ऊपर तापक्रम लगभग एक-सा रहता है। स्थिर तापक्रम वाले मध्यस्तल (Tropopause) की ऊँचाई सब जगह समान नहीं है। इसकी ऊँचाई अक्षांशों के साथ घटती-बढ़ती है। यह ऊँचाई भूमध्यरेखा के पास सबसे अधिक और ध्रुवों के पास सबसे कम है। वैज्ञानिकों ने मालूम किया कि मध्यस्तल की ऊँचाई भूमध्यरेखा के पास १०·७ मील, उत्तरी इटली में ६·८ मील और स्काटलैण्ड में ५·७८ मील है। मध्यस्तल से ऊपर ऊर्ध्वमण्डल (Stratosphere) है। ऊर्ध्वमण्डल में तापक्रम बहुत कम है। ऊर्ध्वमण्डल का तापक्रम —६०° से —७०° फा० के बीच में पाया गया है। ऊर्ध्वमण्डल में धूपकणों और जलवाष्प की मात्रा बहुत ही नगण्य है और इसीलिए इस भाग में तापक्रम बहुत कम है।

२६१. तापक्रम की विलोमता (Inversion of Temperature)—सामान्यतया ऊँचाई के अनुसार तापक्रम घटता जाता है। परन्तु ठण्डी रात्रि के समय जब आकाश में बादल नहीं हों निचली घाटियों में तापक्रम बहुत गिर जाता है। उसी समय ऊपर पहाड़ी ढालों पर तापक्रम काफी ऊँचा रहता है। कैलीफोर्निया की घाटी में रसदार फलों को पाले से बचाने के लिए ऊपरी ढालों पर लगाते हैं। इसी

प्रकार ब्राज़ील में कहवा पहाड़ी ढालों पर बोया जाता है। कारण स्पष्ट है। जिन दिनों हवा बन्द हो और आकाश मेघाछन्नन हो उन दिनों ठण्डी रात के समय ठण्डी हवा गरम हवा की अपेक्षा भारी होने के कारण घाटी में नीचे बैठ जाती है। इसीलिए घाटी में नीचे पाला पड़ता है और उसी समय ऊपर ढालों पर तापक्रम अपेक्षाकृत कुछ गरम रहता है।

२६२. पृथ्वीतल पर तापक्रम का वितरण—पृथ्वीतल पर तापक्रम का विस्तार समताप रेखाओं (Isotherms) द्वारा दिखाया जाता है। समतापरेखा उन स्थानों को मिलाने वाली रेखा है जिनका औसत तापक्रम एक-सा हो। समतापरेखाओं के सम्बन्ध में दो बातें अवश्य स्मरण रखनी चाहिएँ—

(क) समतापरेखायें किसी स्थान का **औसत तापक्रम** प्रदर्शित करती हैं।

(ख) यह रेखायें किसी स्थान पर **समुद्र तल का तापक्रम** दिखाती हैं। उदाहरण के लिए, बंगलौर का तापक्रम ७०° फा० है। बंगलौर समुद्रतल से लगभग ३,००० फीट ऊँचा है। यदि यह ऊँचाई न होती तो वहाँ का तापक्रम $\frac{३०००}{३००}$ = १०° फा० अधिक होता। इसलिए नक्शे में समतापरेखायें बनाने के लिए वहाँ का तापक्रम ७०° + १०° = ८०° फा० दिखाया जायगा।

स्पष्ट है कि समतापरेखाओं द्वारा किसी भू-भाग के तापक्रम का यथार्थ रूप नहीं देखा जा सकता। परन्तु यदि यह तरीका न अपनाया जाता, तो इतनी उलझनें उत्पन्न होतीं कि समतापदर्शक मानचित्रों का अध्ययन भी कठिन हो जाता। समुद्रतल के तापक्रम में परिणित करने पर समतापदर्शक मानचित्रों द्वारा तापक्रम पर अक्षांश तथा जल-स्थल का प्रभाव सरलता से देखा जा सकता है। सभी स्थानों का असली तापक्रम दिखाने पर यह प्रभाव बिलकुल ही अस्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यथार्थ चित्र न होने पर भी समतापदर्शक मानचित्र किसी क्षेत्र की तापक्रम सम्बन्धी सामान्य पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देता है।

२६३. समतापदर्शक मानचित्रों का अध्ययन—संसार के समतापदर्शक मानचित्रों का अध्ययन करने से निम्नांकित विशेषतायें प्रकट होती हैं।

(१) सामान्यतः समतापरेखायें अक्षांशों की तरह पूर्व-पश्चिम खिंची हुई हैं। इसका कारण यह है कि तापक्रम सूर्यताप पर निर्भर रहता है। और सूर्यताप अक्षांश के अनुसार ही घटता-बढ़ता है। भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर तापक्रम घटता जाता है।

(२) समतापरेखाओं के पूर्व-पश्चिम मार्ग में अधिक परिवर्तन उसी स्थान पर होता है जहाँ स्थलमण्डल और जलमण्डल की सीमायें मिलती हैं। जब यह रेखायें महाद्वापों से समुद्र की ओर जाती हैं, तो गरमी में भूमध्यरेखा की ओर और जाड़ों

में ध्रुवों की ओर मुड़ जाती हैं। जल और स्थल की गरमी में अन्तर ही इस परिवर्तन का कारण है। अक्षांश के बाद जल और स्थल का विन्यास ही तापक्रम के वितरण

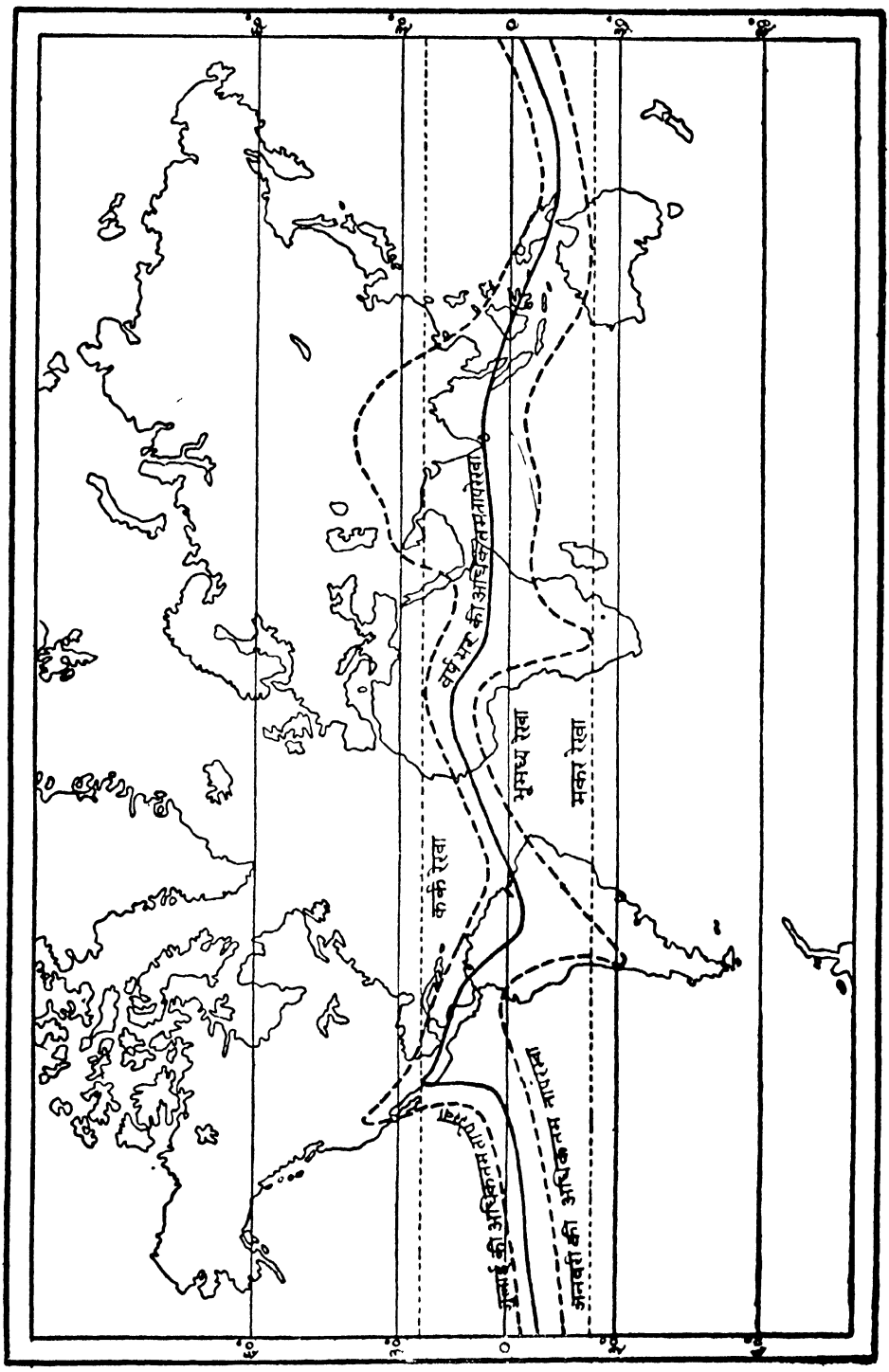

चित्र ७८. अधिकतम तापरेखा।

पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालता है। जलधारायें इन रेखाओं को मोड़ में कुछ अधिक परिवर्तन कर देती हैं।

(३) उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में ये रेखायें अधिक सीधी हैं क्योंकि उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल भाग अधिक हैं और दक्षिणी गोलार्द्ध में महासागर अधिक हैं।

(४) अधिकतम तापरेखा (Thermal Equator) भूमध्यरेखा के उत्तर में है। इसका भी मुख्य कारण पृथ्वी के धरातल पर स्थल भाग और जल भाग का अन्तर है। अधिकतम ताप स्थलखण्डों पर ही दिखाया गया है।

२६४. जनवरी और जुलाई के तापक्रम—हमारी पृथ्वी पर जलवायु की विषमताओं को प्रदर्शित करने वाले महीने जनवरी और जुलाई हैं। जनवरी में उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़े की ऋतु रहती है और दक्षिणी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है।

जनवरी में समतापदर्शक मानचित्र में देखने से सबसे अधिक ठण्डे भाग सायबेरिया और ग्रीनलैण्ड में दिखाई देते हैं। सायबेरिया में विश्व का शीततम भाग वरखोयान्स्क के समीप है जहाँ का तापक्रम —९०° फा० तक नापा जा चुका है। संसार की सबसे ठण्डी समतापरेखा —५०° फा० इसी भाग में प्रदर्शित की गई हैं। शीत की दृष्टि से ग्रीनलैण्ड का दूसरा स्थान है। यहाँ —४०° फा० की समताप-रेखा बनाई गई है इस। दृष्टि से उत्तरी कनाडा का तीसरा स्थान है।

उत्तरी गोलार्द्ध के स्थलीय भागों में समतापरेखायें शीत कधिबन्ध में एक दूसरी के बहुत समीप दिखाई गई हैं। इस प्रकार से समतापरेखाओं की सघनता इन भागों की चक्रवात और प्रतिचक्रवात हवाओं के परिणामस्वरूप बनी हैं।

दक्षिणी गोलार्द्ध के गरम भागों में समस्त आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका का उत्तरी भाग सम्मिलित है। गरमी के प्रमुख केन्द्र दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका और आस्ट्रेलिया के पश्चिमी पठार में लगभग २०° द० अक्षांश के समीप हैं जिनमें ९०° फा० की समतापरेखा अधिकतम गरमी प्रदर्शित करती है।

जुलाई का समतापदर्शक मानचित्र देखने से हमें सबसे ठण्डे भाग एण्टार्कटिक पर दिखाई देते हैं जहाँ सबसे कम तापक्रम —६०° फा० तक अनुमान किया जाता है।

दक्षिणी गोलार्द्ध की समतापरेखायें प्रायः सीधी हैं, परन्तु उत्तरी गोलार्द्ध में उनकी सीध में पर्याप्त अन्तर है। ९०° फा० समतापरेखायें एशिया और अफ्रीका के बहुत बड़े भाग को घेरे हुए हैं। उत्तरी अमेरिका के कोलम्बिया पठार और ग्रेट बेसिन को भी ९० फा० समतापरेखा घेरे हुए है। इससे प्रकट होता है कि जनवरी की अपेक्षा जुलाई में गरमी का प्रभाव अधिक विस्तृत होता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि जनवरी में हमारी पृथ्वी सूर्य से जुलाई की स्थिति से अधिक समीप होती है। सूर्य से पृथ्वी की दूरी जनवरी में नौ करोड़ पन्द्रह लाख मील और जुलाई में नौ करोड़ पैंतालीस लाख मील होती है। फिर भी जुलाई में अधिक भाग में तथा

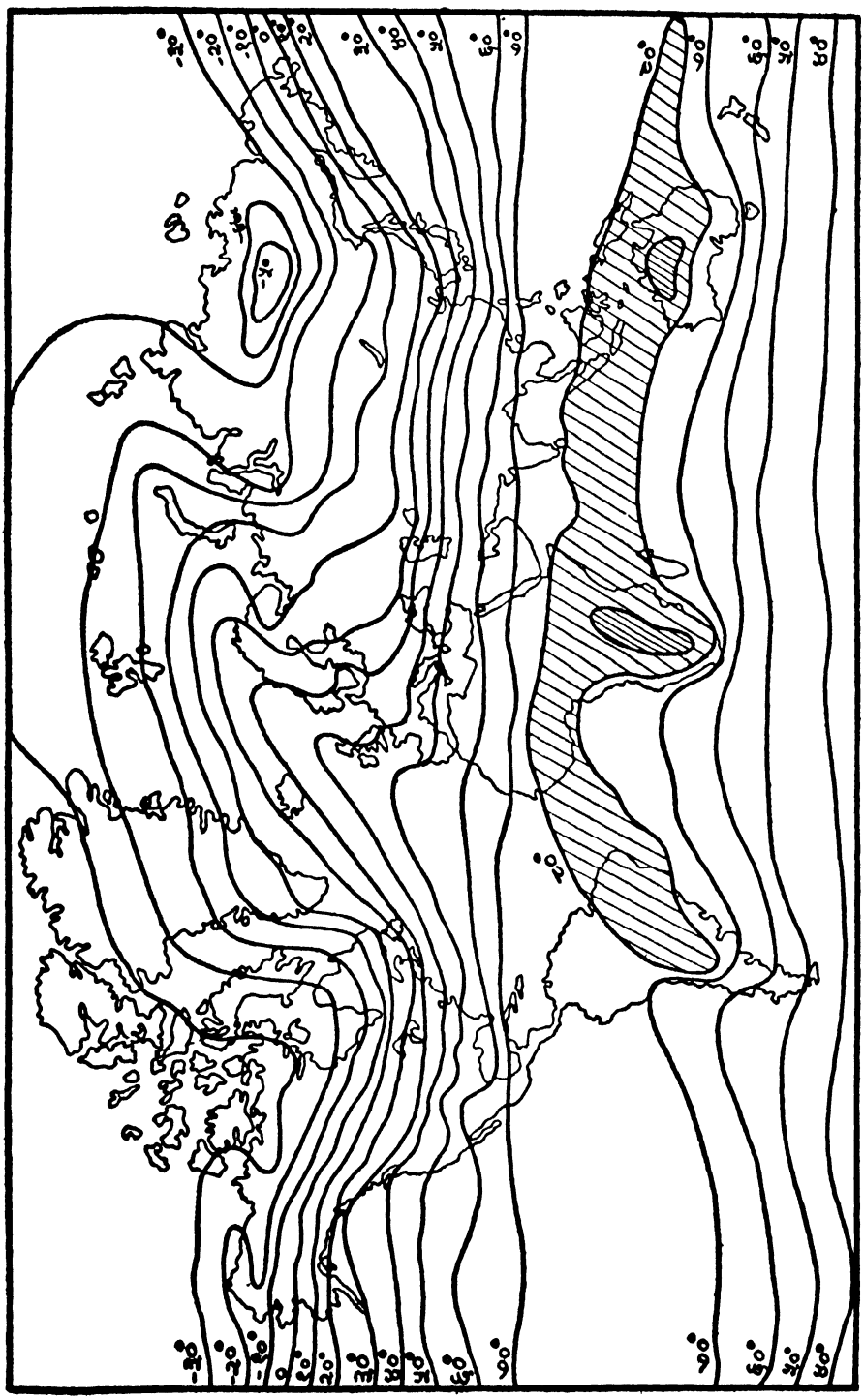

जनवरी की समतापरेखायें

चित्र ७६.

अधिक गरमी होने का कारण उत्तरी गोलार्द्ध में स्थल की अधिकता ही है।

जनवरी और जुलाई के समतापदर्शक मानचित्रों के अध्ययन द्वारा प्रत्येक स्थान का वार्षिक तापान्तर जाना जा सकता है क्योंकि विश्व के प्रत्येक स्थान पर

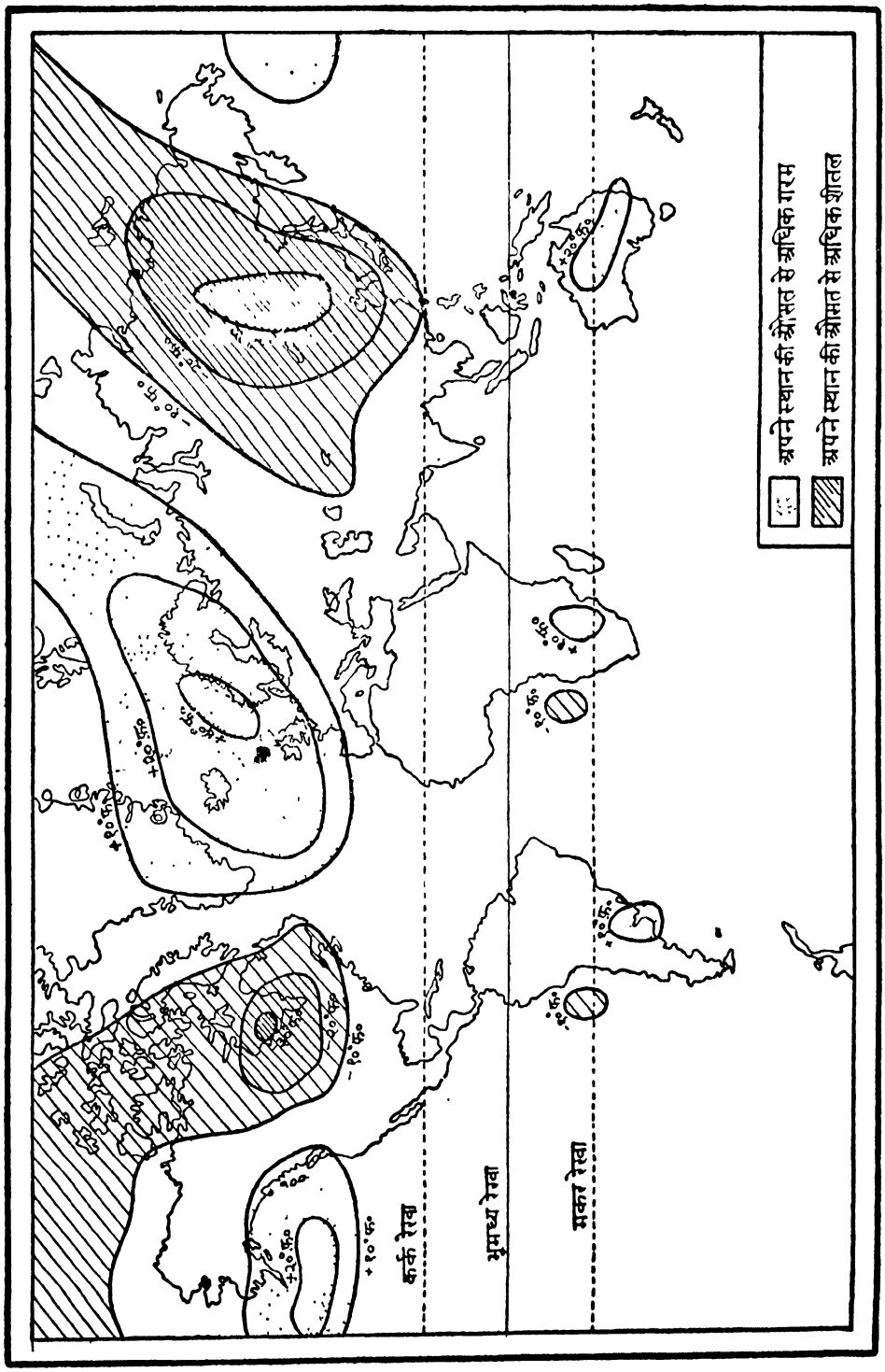

चित्र ८०. जनवरी में अपने औसत से अधिक गरम या अधिक ठण्डे स्थान।

इनमें से एक महीना सबसे गरम है तो दूसरा सबसे ठण्डा है। वार्षिक तापान्तर किसी स्थान की जलवायु के अध्ययन में पर्याप्त उपयोगी होता है। वार्षिक तापान्तर (चित्र ८२) के आधार पर हमें पता चलता है कि विश्व के दो प्रकार के स्थानों में वार्षिक

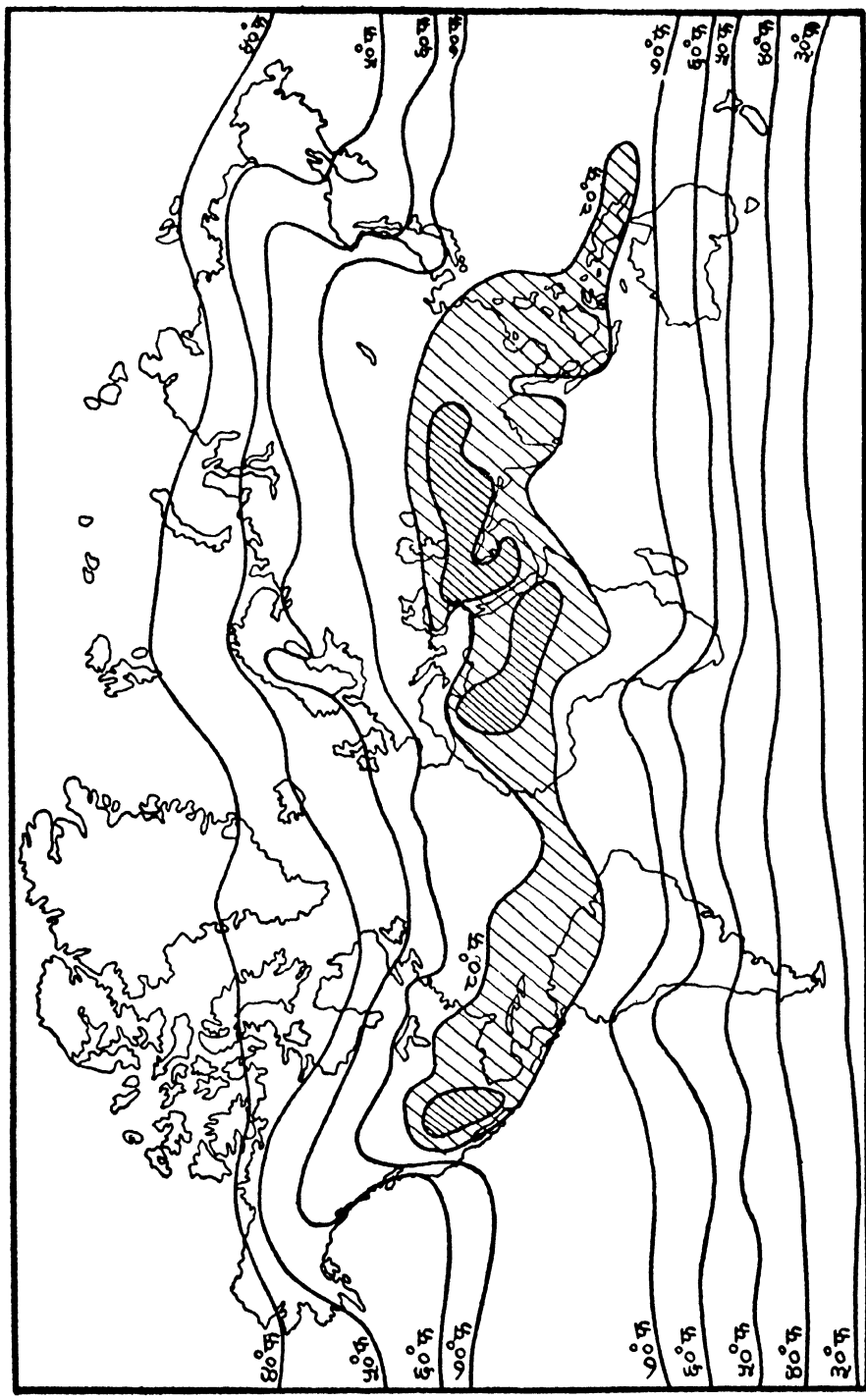

जुलाई की समतापरेखायें
चित्र ८१.

तापान्तर कम होता है—(१) भूमध्यरेखा के समीपवर्ती स्थानों में साल भर लगभग एक-सी गरमी पड़ने के कारण, और (२) समुद्र के समीपस्थ भागों में जल के प्रभाव द्वारा। इसके विपरीत तीन प्रकार के स्थानों में वार्षिक तापान्तर अधिक होता है—(१) ध्रुवीय प्रदेशों में जाड़ों और ग्रीष्म में सूर्यताप की मात्रा में अधिक

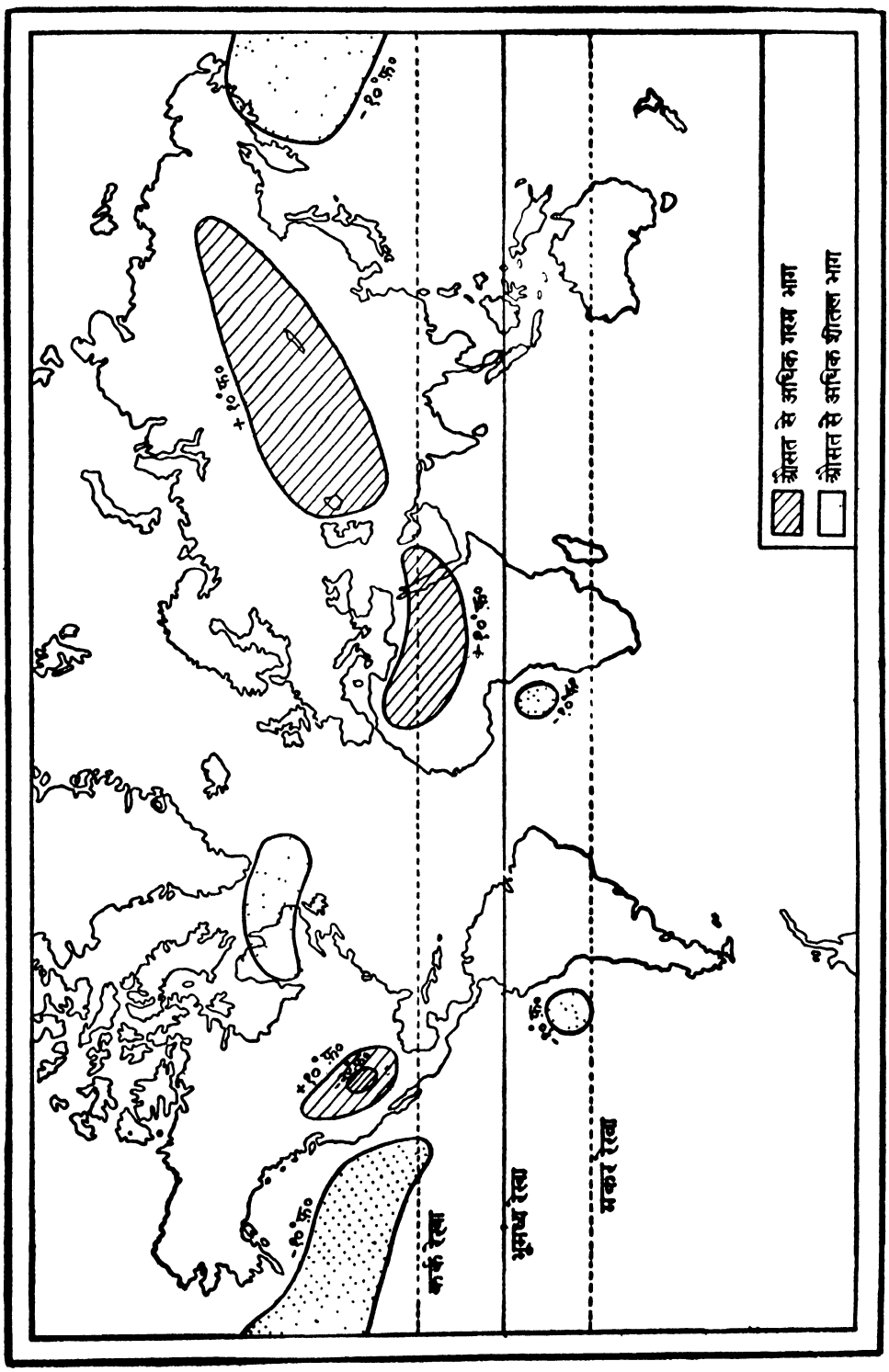

चित्र ८७ जनवरी में धरातल के अधिक गरम या ठण्डे भाग।

अन्तर पड़ने के कारण, (२) महाद्वीपों के भीतरी भागों में स्थल के प्रभाव द्वारा और (३) ऊँचे पर्वतीय प्रदेशों में वायु में सघनता की कमी और जलवाष्प आदि गैसों के अभाव के कारण।

इक्कीसवाँ अध्याय

वायुभार और हवायें

२६५. वायुभार क्या है ?—हम पहले कह चुके हैं कि हमारे भूमण्डल पर सैकड़ों मील ऊँचा वायु का परत है। इसकी ठीक-ठीक ऊँचाई अभी तक ज्ञात नहीं हो सकी है। परन्तु लगभग ४०० मील की ऊँचाई पर सुमेरु ज्योति या अरोरा बोरियालिस (उत्तरी ध्रुव का प्रकाश) देखा गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि ४०० मील की ऊँचाई पर वायु मौजूद है।

हम जानते हैं कि पृथ्वी संसार के प्रत्येक पदार्थ को अपनी ओर खींचती है। इसी आकर्षण-शक्ति के कारण हम प्रत्येक पदार्थ में भार पाते हैं। वायु भी एक भौतिक पदार्थ है, इसलिए इसमें भी भार होना चाहिए। वायु में भार होने का प्रमाण सबसे पहले आटोफान गेरिक नामक एक जर्मन वैज्ञानिक ने १६५१ ई० में प्रस्तुत किया था। उसने लोहे के दो अर्द्ध-गोलों को मिलाकर उनके भीतर की हवा निकाल दी। भीतरी वायु निकलने से बाहरी वायु का भार इतना अधिक पड़ा कि दोनों ओर दस-दस घोड़ों के खींचने पर भी वे अर्द्ध-गोले एक दूसरे से अलग नही हुए।

वायुभार का ज्ञान भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष रूप से वायुभार का मानव-जीवन पर कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु वायुभार में थोड़ा-सा भी परिवर्तन हो जाने से हवाओं की गति और उनकी दिशा पर प्रभाव पड़ता है। हवाओं की गति और दिशा, तापक्रम और आर्द्रता (वर्षा आदि) पर प्रभाव डालती है। तापक्रम और वर्षा तो प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार से मानव-जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती हैं। इस प्रकार वायुभार अप्रत्यक्ष रूप से जीवन की परिस्थितियो पर नियन्त्रण रखता है। यदि पृथ्वी के सभी भागों पर सर्वदा एक-सा वायुभार बना रहता, तो स्थल पर वर्षा के रूप में जीवन का रस लाने वाली हवायें कैसे चलतीं ? आर्द्रता-विहीन स्थल पर जीवन की कल्पना ही असंभव हो जाती और सृष्टि में स्थलचारी जीवों का निशान भी न होता।

२६६. वायुभार की माप—वायुभार को मापने का यन्त्र सबसे पहले गैलीलेओ के शिष्य टारिसेली ने बनाया था। उसने काँच की एक गज़ लम्बी नली में पारा भरकर उसे पारे से भरे हुए एक प्याले में उलटा खड़ा कर दिया। उलटने पर नली में लगभग ३०" ऊँचा पारे का स्तम्भ खड़ा रह गया और ऊपर ६" लम्बी जगह खाली हो गई। इसका अर्थ यह हुआ कि बाहरी हवा के दबाव से ही नली में पारे का ३०" ऊँचा स्तम्भ खड़ा रह सका। दूसरे शब्दों में हवा का भार नली के भीतर खड़े हुए

३०" लम्बे पारे के स्तम्भ के भार के बराबर है। यदि किसी कारण हवा का दबाव कम हो जाय, तो वह ३०" ऊँचे पारे के स्तम्भ को नहीं सँभाल सकेगा और नली का कुछ और पारा प्याले में गिर जायगा। वायु के भार को नापने वाले यन्त्र को बैरोमीटर कहते हैं। पहले वायुभार इंचों में नापा जाता था, परन्तु आजकल आसानी के लिए मिलीबार भी वायुभार नापने में प्रयुक्त होते हैं। १,००० मिलीबार लगभग २९-५३" के बराबर होते हैं। वायुभार में मापक यन्त्रों में भी पर्याप्त सुधार हुआ है। फोरटिन का बैरोमीटर और एनेरोइड बैरोमीटर बड़े उपयोगी वायुमापक यंत्र हैं तथा बैरोग्राफ़ तो स्वयंलेखक बैरोमीटर है।

२९७. **वायुभार की निर्भरता**—वायुभार निम्नांकित तीन स्थितियों में बदल जाता है—

(क) वायुभार और तापक्रम—तापक्रम और वायुभार में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। वायु गरमी पाकर फैलती है और अधिक स्थान घेरती है। इसका अर्थ यह हुआ कि गरम होने पर वायु का भार कम हो जाता है। इसके विपरीत ठण्ड पाकर वायु संकुचित होती है और पहले से कम स्थान घेरती है। दूसरे शब्दों में ठण्डी होने पर वायु का भार बढ़ जाता है। इसी के आधार पर एक सामान्य नियम बन गया है कि **यदि तापक्रम अधिक होगा तो वायुभार कम होगा और यदि तापक्रम कम होगा, तो वायुभार अधिक होगा।** इसी नियम को इस प्रकार भी कहते हैं कि थर्मामीटर जितना ऊँचा चढ़ेगा, बैरोमीटर उतना ही नीचे उतरेगा और थर्मामीटर जितना नीचे उतरेगा, बैरोमीटर उतना ही ऊँचा चढ़ेगा। यही कारण है कि भूमध्यरेखा के निकट वायुभार कम रहा करता है और ध्रुवों के निकट हिमाच्छादित तट पर अधिक ठण्ड के कारण वायु का भार अधिक रहता है। हिम से आच्छादित धरातल पर एक और विशेषता होती है। बर्फ एक तो पृथ्वी पर पहुँचने वाले सूर्यताप का $\frac{4}{5}$ भाग परावर्तित (Reflect) कर देती है। दूसरे विकिरण द्वारा (Radiation) बड़ी जल्दी अपनी गरमी को निकाल देती है। अतः जिन दिनों आकाश साफ़ होता है उन दिनों रात्रि के समय हिमाच्छादित मैदानों का तापक्रम बहुत कम हो जाता है। और इसी-लिए वहाँ वायुभार बढ़ जाता है।

(ख) ऊँचाई के अनुसार वायुभार परिवर्तन—वायु के ऊपरी स्तरों का भार नीचे वाले स्तरों पर पड़ता है, अतएव नीचे की वायु अधिक घनी तथा भारी हो जाती है और ऊपर की वायु फैली हुई और हल्की रहती है। समुद्रतल पर वायुभार प्रतिवर्ग इंच पर ७$\frac{1}{2}$ सेर के लगभग होता है। परन्तु ज्यों-ज्यों हम समुद्रतल से ऊँचे चढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों वायु का भार कम होता जाता है। समुद्रतल से ९०० फीट की ऊँचाई पर वायुभार एक इंच घट जायगा। ऊँचाई के साथ-साथ वायु का घनत्व भी

कम होता जाता है, अतएव १,८०० फीट की ऊँचाई पर वायुभार पूरे दो इंच कम न होगा बल्कि दो इंच से कुछ कम ही घटेगा। ऊँचाई के साथ वायुभार घटते जाने का एक विशेष फॉरमूला (नियम) है।

(ग) वायुभार और जलवाष्प—यदि किसी स्थान पर वायु में पानी की भाप अधिक मिल जाती है तो उस स्थान पर वायुभार कम हो जाता है क्योंकि भाप वायु के निचले भाग से भार में कम होती है। वर्षा ऋतु में वायु में जलवाष्प अधिक मात्रा में मिली रहती है जिससे उस समय भार कम रहता है। सूखी हवा अधिक भारी होती है।

२६८. वायुभार में दैनिक परिवर्तन—हम पहले कह चुके हैं कि वायुभार और तापक्रम में घनिष्ठ सम्बन्ध है। वायुभार मापकयन्त्र में प्रतिदिन प्रातःकाल के ४ बजे से दिन के १० बजे तक तथा शाम के ४ बजे से रात के १० बजे तक वायुभार बढ़ता हुआ मालूम होता है। इसके विपरीत दिन के १० बजे से शाम के ४ बजे तक

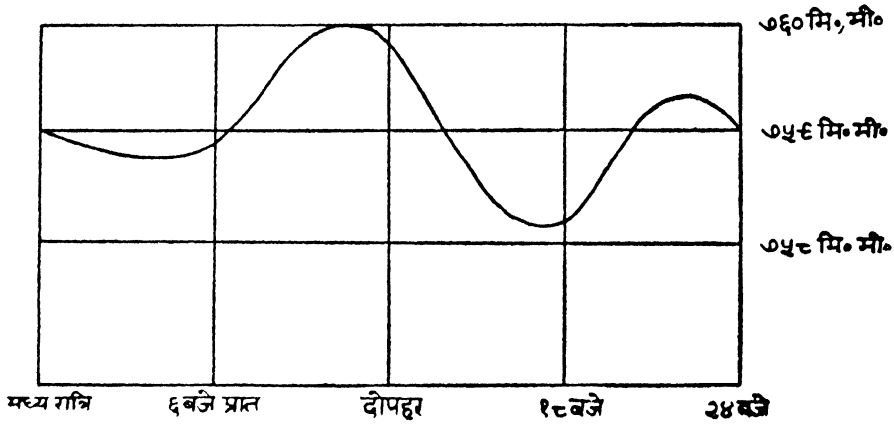

चित्र ८३. बैरोमीटर का ज्वारभाटा।

और रात के १० बजे से प्रातःकाल ४ बजे तक वायुभार घटता है। वायुभारके इस प्रकार घटने बढ़ने को **बैरोमीटर का ज्वारभाटा** (Barometric Tide) कहते हैं। बैरोमीटर का ज्वारभाटा भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर कम होता जाता है। ६०° उत्तर और दक्षिण अक्षांशों के आगे यह अदृश्य हो जाता है। बैरोमीटर के ज्वारभाटे पर स्थल का प्रभाव स्पष्ट मालूम पड़ता है। स्थल के भीतरी भागों में बैरोमीटर के पारे का दिन के समय उतार-चढ़ाव रात्रि के उतार-चढ़ाव से भी अधिक नहीं होता, परन्तु समुद्र के निकट वाले स्थानों के दिन के उतार-चढ़ाव से भी अधिक होता है। इसके प्रतिकूल समुद्र के समीपस्थ स्थानों में रात का उतार-चढ़ाव भीतरी भागों के रात के उतार-चढ़ाव की अपेक्षा अधिक होता है। संक्षेप में बैरोमीटर का ज्वार-भाटा तापक्रम के अनुसार परिवर्तनशील रहता है।

ऊँचाई के कारण वायु के घनत्व प्रभाव पड़ने से होने वाले वायुभार-परिवर्तन का वर्णन किया जा चुका है। परन्तु तापक्रम के अनुसार भी ऊँचे या नीचे स्थानों में वायुभार में परिवर्तन होता है।

२६९. पृथ्वी पर वायुभार की पेटियाँ—वायुमण्डल का वह अंश, जो धरातल के सन्निकट है, धरातल के सम्पर्क में आकर धरातल के साथ-साथ गरम होता है और उसके ठण्डा होने पर ठण्डा हो जाता है। भूमध्यरेखा के समीप का प्रदेश अधिक गरम हो जाता है, अतः उसके पास की वायु भी अधिक गरम हो जाती है। वायु गरम होकर ऊपर की ओर फैलती है और फैलने से उसका भार कम हो जाता है। वायु के हल्केपन के कारण समीप की भारी वायु अधिक दबाव डालकर गरम और हल्की वायु को ऊपर उठा देती है और आप स्वयं उसका स्थान ले लेती है। वहाँ पहुँचने पर धरातल की गरमी उसे भी गरम कर देती है और उसे भी फैलकर ऊपर उठना पड़ता है। ठण्डी और भारी वायु फिर उसके स्थान पर आ जाती है। ऊपर उठती हुई गरम और हल्की हवा अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर ठण्डी हो जाती है। ठण्डी होकर वायु सिकुड़ती है और उसका भार बढ़ता है। भार बढ़ जाने के कारण वायु नीचे उतरती है, परन्तु भूमध्य रेखा के प्रदेश में नहीं उतरने पाती बल्कि उसके उत्तर और दक्षिण में कर्क और मकर रेखाओं के पास उतर पड़ती है। भूमध्यरेखाओं के समीप हल्की वायु की अधिकता के कारण उस प्रदेश का वायुभार घट जाता है और ३० अक्षांश के समीप वायुभार कुछ बढ़ जाता है।

ध्रुवों के निकट अत्यन्त शीत पड़ने से वहाँ का धरातल अत्यधिक ठण्डा हो जाता है। ठण्डे धरातल के स्पर्श से वहाँ की वायु ठण्डी होकर संकुचित होती है और वहाँ का वायुभार बढ़ जाता है। इस प्रकार ध्रुवों के पास उच्चभार की पेटियाँ होती हैं।

उपर्युक्त पेटियों के अतिरिक्त ६०° उत्तर और दक्षिण अक्षांशों के समीप न्यून भार की पेटियाँ हैं। इनका संभावित कारण निम्नांकित है—

यदि किसी प्याले में पानी भरकर उसे तेज़ी से घुमाया जाय, तो बीच से पानी सिमटकर किनारों पर इकट्ठा हो जायगा। यदि हम कल्पना करलें कि हमारी पृथ्वी दो प्यालों के जोड़ने से बनी है, तो ध्रुव उनके पेंदे और भूमध्यरेखा पर उनके किनारे होंगे। इन दोनों प्यालों पर पानी के स्थान पर वायु है। इस उपमा से हम भलीभाँति समझ जायँगे कि पृथ्वी के तीव्र गति से घूमने के कारण पानी के समान वायु भी ध्रुवों से भूमध्यरेखा की ओर सिमटने लगेगी, और पृथ्वी की विशेष आकृति के कारण ध्रुववृत्तों के समीप कम रह जायगी, अतः वहाँ न्यूनभार रह जायगा। सिमटी हुई हवा ३० उत्तरी और दक्षिणी अक्षांशों के समीप एकत्र हो जायगी और

वहाँ पर उच्चभार स्थापित हो जायगा। इस प्रकार पृथ्वी पर उच्चभार और न्यूनभार की कुछ पेटियाँ बन जाती हैं जिनकी व्यवस्था निम्न प्रकार है—

(१) भूमध्य-रेखा पर न्यूनभार की पेटी।

(२) अयनरेखाओं के समीप उच्चभार की पेटियाँ।

(३) ध्रुवव्रतों के समीप न्यूनभार की पेटियाँ।

(४) ध्रुवों के निकट उच्चभार की पेटियाँ।

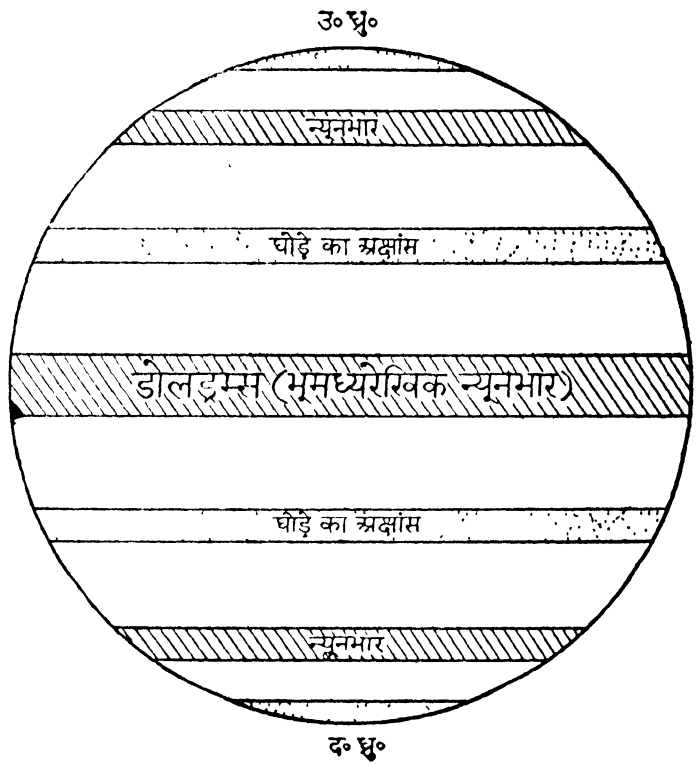

चित्र ८४. वायुभार की पेटियाँ।

२७०. ऋतुओं के अनुसार वायुभार में परिवर्तन—पृथ्वी पर वायुभार का वितरण समभार रेखाओं (Isobars) द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। समान वायुभार वाले स्थानों को मिलाने वाली रेखा को समभार रेखा कहते हैं। समभार रेखायें खींचने से पूर्व वायुभार को हमेशा समुद्रतल के वायुभार में बदल लेते हैं। ऋतुओं के अनुसार वायुभार परिवर्तन समझने के लिए जनवरी और जुलाई के समभारदर्शक मानचित्रों का अध्ययन अत्यन्त लाभदायक होता है। इन मानचित्रों के अध्ययन से प्रकट होता है कि वायुभार की पेटियाँ सूर्य की सीधी किरणों के प्रभाव से कुछ उत्तर की ओर तथा जनवरी में कुछ दक्षिण की ओर खिसक जाती हैं। परन्तु वे तामक्रम के साथ-साथ उत्तर या दक्षिण में अधिक दूर तक नहीं खिसक पातीं, बल्कि कुछ पीछे रह जाती हैं। महासागरों की अपेक्षा महाद्वीपों में ये पेटियाँ कुछ अधिक दूरी तक खिसक जाती हैं। उदाहरण के लिए जनवरी के समभारदर्शक मानचित्र में भूमध्यरेखा की न्यूनभार वाली पेटी दक्षिणी अमेरिका और दक्षिणी अफ्रीका में २०° दक्षिणी अक्षांश के आसपास तक पहुँच जाती है और आस्ट्रेलिया महाद्वीप में तो २०° द० अक्षांश के दक्षिण में काफी दूर तक खिसक जाती है।

अयनवृतीय (Subtropical) उच्चभार की पेटी पर ऋतुओं का अत्यधिक प्रभाव स्थल और जल के विन्यास के कारण पड़ता है। जाड़े की ऋतु में स्थलखण्ड

बहुत ठण्डे रहते हैं, अतः उच्चभार की पेटी लगभग अटूट-सी ज्ञात होती है। परन्तु गरमी की ऋतु में स्थलभाग इतने गरम हो जाते हैं कि उच्चभार की यह पेटी स्थल पर न्यूनभार में परिवर्तित हो जाती है।

उत्तरी गोलार्द्ध में और विशेषतया एशिया और उत्तरी अमेरिका में अयनरेखा के समीप स्थल के अधिकांश भागों पर जाड़ों में उच्चभार और गर्मियों में न्यूनभार स्थापित हो जाता है। उसी समय उनके पास के समुद्रों में जाड़ों में न्यूनभार और गर्मियों में उच्चभार बन जाया करता है।

२७१. जनवरी के समभारदर्शक मानचित्र का अध्ययन—जनवरी में संसार का उच्चतम वायुभार मध्य एशिया में (लगभग ३०·६ इंच) होता है। उच्चभार के अन्य केन्द्र सहारा मरुस्थल में तुआत क्षेत्र, उत्तरी अमेरिका में कोलम्बिया पठार और केलीफोर्निया के पश्चिम में प्रशान्त महासागर में स्थित होते है। दक्षिणी गोलार्द्ध में उच्चभार के केन्द्र चिली के पश्चिमी तट के समीप प्रशान्त महासागर में, दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट के पास अटलाण्टिक महासागर में और आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट के समीप हिन्द महासागर में है।

न्यूनभार के केन्द्र उत्तरी अटलाण्टिक में आयसलैण्ड द्वीप के आसपास तथा उत्तरी प्रशान्त महासागर में अल्यूशियन द्वीपसमूह के आसपास स्थापित हो जाते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में न्यूनभार के केन्द्र तीनों दक्षिणी महाद्वीपों में भूमध्यरेखा से काफी दक्षिण तक स्थापित हो जाते हैं।

२७२. जुलाई के समभारदर्शक मानचित्र का अध्ययन—जुलाई में दक्षिणी गोलार्द्ध में उच्चभार की पेटी ३०° द० अक्षांश के समीप लगभग अविच्छिन्न रूप से विस्तृत है। तारीफ़ तो यह है कि जब उत्तरी गोलार्द्ध में जाड़ों की ऋतु में उच्चभार के विशेष केन्द्रस्थल में थे, तब दक्षिणी गोलार्द्ध में विशेष रूप से समुद्र ही उच्चभार के मुख्य केन्द्र हैं। उत्तरी गोलार्द्ध में भी समुद्र ही उच्चभार के केन्द्र हैं। उच्चभार के मुख्य स्थान उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में अजोर्स द्वीप के निकट तथा उत्तरी प्रशान्त में ४०° उत्तरी अक्षांश के आसपास है।

न्यूनभार उत्तरी गोलार्द्ध में विशेष विकसित है। मध्य एशिया का न्यून वायुभार केन्द्र बहुत विस्तृत भाग में फैला हुआ है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी संयुक्त राज्य में बेफिन की खाड़ी तथा उत्तरी स्केण्डिनेविया आदि में न्यूनभार के केन्द्र में उत्पन्न हो जाते हैं।

वायुभार और हवायें

२७३. हवाये क्या है ?—धरातल से ऊपर की ओर तथा ऊपर से धरातल की ओर चलने वाली वायु को वायुधारा (Air Current) कहते है। परन्तु धरातल

पर इधर से उधर चलने वाली वायु को हवा या पवन (Wind) कहा जाता है। हवा जिस दिशा से चलती है उसी दिशा के अनुसार उसका नाम रखा जाता है। जैसे पूर्व से चलने वाली पूर्वी हवा और पश्चिम से आने वाली पछवा हवा कहलाती हैं।

२७४. हवाओं के चलने का कारण—पहले कहा जा चुका है कि गरमी से वायु फैलती है और उसका आयतन (Volume) बढ़ जाता है। आयतन बढ़ने से वायु ठण्डी पड़ जाती है और तापक्रम घट जाता है। ठण्डक से हवा का संकोच होता है, संकोच से या दबाव से आयतन घटता है और तापक्रम बढ़ जाता है। दूसरे शब्दों में दबाव बढ़ा देने से आयतन घटता है और आयतन घटने से हवा की गरमी बढ़ती है। इसके विपरीत दबाव घटा देने से आयतन बढ़ता है और हवा की गरमी घटती है। जब कभी वायुमण्डल के किसी भाग में दबाव बढ़ जाता है तो उसका आयतन घटता है और वहाँ से हवा कम दबाव के कारण अधिक आयतन वाले स्थान की ओर बहती है। इस प्रकार धरातल पर वायुभार में अन्तर होने के कारण ही भूतल पर हवायें चला करती हैं। हवायें सदैव उच्चभार से न्यूनभार की ओर चला करती हैं। हवा की प्रवाह-गति वायुभार के अन्तर की न्यूनाधिकता पर निर्भर रहती है। वायुभार में कम अन्तर होगा तो हवा धीमी गति से चलेगी। परन्तु यदि वायुभार में अधिक अन्तर होगा, तो तूफ़ान या आँधी चलेगी। वायुभार के अन्तर को वायभार का ढाल या बैरोमीटर का ढाल कहा जाता है। मान लीजिये अ और ब दो ऐसे स्थान हैं जिनमें वायुभार क्रमशः २८·७" और २८·६" है, तो अ से ब की ओर बैरोमीटर का ढाल समझा जायगा। वायुभार का अन्तर धरातल पर जितना अधिक पास-पास होगा, ढाल उतना ही प्रपाती होगा और फलतः हवा भी उतनी ही अधिक ज़ोर से चलेगी। समभार रेखाओं के अध्ययन से वायुभार के ढाल का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि नक्शे में समभार रेखायें बहुत पास-पास बनी हैं, तो ढाल अधिक प्रपाती (Steep) है जो तूफ़ान की भविष्य-वाणी कर रहा है। परन्तु यदि समभार रेखायें काफी दूर-दूर हैं, तो हवा की गति धीमी होगी।

२७५. फेरल का नियम—यद्यपि हवायें उच्चभार की ओर से न्यूनभार की ओर चलती हैं, परन्तु पृथ्वी के पश्चिम से पूर्व की ओर तेज़ी से घूमने के कारण उनकी दिशा में परिवर्तन हो जाया करता है। हम जानते हैं कि भूमध्यरेखा की लम्बाई लगभग २५,००० मील, ३०° अक्षांश की २१,६०० मील और ६०° अक्षांश की १,५०० मील है। इन रेखाओं पर स्थित स्थान २४ घंटे में पूरा चक्कर काट रहे हैं। स्पष्ट है कि भूमध्यरेखा पर स्थित स्थान ३०° अक्षांश पर स्थित स्थान से और ३०° अक्षांश का स्थान ६०° अक्षांश के स्थान से अधिक शीघ्रता से घूमता है। अतः जो हवायें ३०° उत्तरी अक्षांश से भूमध्यरेखा की ओर चलती हैं, वे ठेठ दक्षिण की ओर

नहीं पहुँच पातीं। क्योंकि भूमध्यरेखा पर सभी स्थान ३०° अक्षांश के स्थानों से अधिक तेज़ी से घूमते हैं, अतः हवायें निर्दिष्ट स्थान से कुछ पीछे रह जाती हैं। ऐसी दशा में हवा की दिशा कुछ पश्चिम की ओर झुकी हुई प्रतीत होती है। इसी प्रकार ३०° अक्षांश से ६०° अक्षांश की ओर चलने वाली हवायें कुछ पूर्व की ओर झुक जाती हैं। फैरल नामक एक अमेरिकन विद्वान् ने हवाओं, धाराओं आदि गतिशील पदार्थों पर पृथ्वी के आवर्तन के प्रभाव का अध्ययन करके यह नियम निकाला कि पृथ्वीतल पर घूमते हुए पदार्थ उत्तरी गोलार्द्ध में अपनी दायीं ओर और दक्षिणी गोलार्द्ध में अपने बायीं ओर घूम जाते हैं। इस नियम को फैरल का नियम कहते हैं। फैरल के नियम के अनुसार हवाओं का झुकाव भूमध्यरेखा के समीप बहुत थोड़ा होता है। परन्तु भूमध्यरेखा से ज्यों-ज्यों उच्च अक्षांशों की ओर जाते हैं, हवा का यह झुकाव बढ़ता जाता है। संभवतया इसका कारण यह है कि भूमध्यरेखा के समीप पृथ्वी की गोलाई धीरे-धीरे कम होती है, परन्तु आगे यह कमी बराबर बढ़ती जाती है। इसी कारण भूमध्यरेखा के समीपस्थ प्रदेशों में हवा उच्चभार से न्यूनभार की ओर चलती हुई कम मुड़ाव के कारण तीव्र गति से बहती है। तीव्र गति के कारण शीघ्र ही न्यूनभार के स्थान पर पहुँचकर न्यूनभार की स्थिति को समाप्त कर देती है जिससे हवा बहना बन्द हो जाता है। यही कारण है कि भूमध्यरेखिक प्रदेशों में बहुत बार ऊमस रहा करती है।

२७६. वायुभार का ढाल—उच्च अक्षांशों में हवायें उच्चभार से लघुभार वाले स्थानों को सीधी नहीं जाती बल्कि लघुभार वाले स्थानों का चक्कर काटती चलती हैं। यही कारण है कि इनकी गति इतनी अधिक तीव्र नहीं होती। हवाओं की गति के सम्बन्ध में सामान्य नियम यह है कि ध्रुवों से ज्यों-ज्यों भूमध्यरेखा की ओर जाते हैं त्यों-त्यों हवा की गति बढ़ती जाती है। किन्तु हमें यह भी याद रखना चाहिए कि बैरीमीटर का ढाल ऋतुओं के अनुसार भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर बढ़ता है। इसका भी हवाओं की गति पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वायुभार का ढाल जितना अधिक प्रपाता होता है, हवाओं की गति उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है।

(१) ग्रहीय हवायें या स्थायी हवायें (Planetary Winds)

२७७. भूमध्यरेखिक शान्त हवा की पेटी या डोल्ड्रम्स—भूमध्यरेखा के आस-पास सूर्य की किरणें सीधी पड़ती हैं। अतः वहाँ पर वायु अधिक गरम होकर ऊपर की ओर फैलती है। इस प्रकार इस प्रदेश में वायु का प्रवाह धरातल से ऊपर आकाश की ओर होता है। इस प्रदेश में वायुभार के ढाल का सर्वथा अभाव-सा रहता है। अतः यहाँ धरातलीय वायु भी वर्ष के अधिक भाग में शांत रहती है। ट्रेवार्था महोदय का मत है कि साल में चार महीने धरातलीय हवायें शांत रहती हैं।

वायुभार के ढाल के अभाव के कारण धरातल की हवायें अत्यन्त धीमी और चारों दिशाओं से चलती है। इस प्रकार की अनियमित हवाओं का और शांत भाग का कोई निश्चित स्थान नहीं रहता।

भूमध्यरेखा की अनियमित हवाओं और शान्त प्रदेश की पेटी वास्तव में समस्त पृथ्वीतल पर एक पेटी के रूप में नही फैली हुई है। इसका विस्तार ऋतुओं के अनुसार भी बदलता रहता है। बहुत से स्थानों पर कई महीनों तक व्यापारिक हवाओं और मानसून हवाओं के चलने से यह पेटी लगभग अदृश्य हो जाती है। प्राचीन काल में जहाज ऐसे प्रदेश में होकर जाया करते थे जहाँ इस पेटी का विस्तार बहुत कम होता था। सामान्यता इस पेटी का विस्तार भूमध्यरेखा के दोनों ओर माना जाता है। परन्तु इसकी स्थिति ऋतु-अनुसार बदलती रहती है। बहुत से स्थानों पर इसका विस्तार भूमध्यरेखा से १०° अक्षांश से भी आगे तक बढ़ जाता है तथा कहीं-कहीं इसका विस्तार व्यापारिक हवाओं द्वारा अत्यन्त सीमित कर दिया गया है।

२७८. व्यापारिक हवायें (Trade Winds)—अयनवृत्तीय उच्चभार से भूमध्यरेखिक न्यूनभार की ओर चलने वाली हवाओं को व्यापारिक हवायें कहते हैं। ये हवायें ३०° या ३५° अक्षांशों से लगभग १०° या ५° तक के बीच में मुख्यतया जलखण्डों में चलती है। फैरल के नियमानुसार उत्तरी गोलार्द्ध में दायीं ओर मुड़ जाने के कारण ये हवायें उत्तर-पूर्व से चलती है। अतः उत्तरी गोलार्द्ध में इनको उत्तर-पूर्वी व्यापारिक हवायें कहते हैं। दक्षिणी गोलार्द्ध में ये हवाये दक्षिण-पूर्व से चलती हैं, अतः इन्हें दक्षिण-पूर्वी व्यापारिक हवायें कहते है। क्योंकि ये हवायें अयन-रेखाओं के समीप से भूमध्यरेखा की ओर चलती है, इसलिए निरन्तर गरम होती जाती है। ऐसी अवस्था में ये भाप अधिक बना सकती है किन्तु वर्षा नही कर पातीं। यही कारण है कि व्यापारिक हवायें सुखाने वाली हवायें समझी जाती हैं। अपेक्षाकृत कुछ ठण्डे भागों से आने के कारण ये ठण्डी होती है और ऋतु को सुहावनी बना देती हैं। इनकी प्रवाह गति तीव्र नहीं होती। अधिकतर

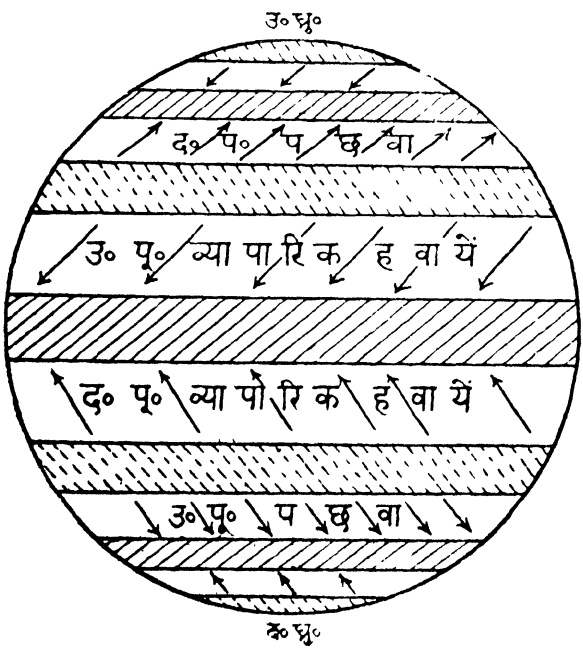

चित्र ८५. स्थायी हवायें।

इनकी गति १० से १५ मील प्रति घण्टा होती है। इन हवाओं के मार्ग में कोई ऊँचा पर्वत आ जाता है, तो इनसे पर्याप्त वर्षा भी हो जाती है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश गयाना में इनके द्वारा पर्याप्त वर्षा होती है। ये हवायें स्थायी और निरन्तर चलती रहती हैं। प्राचीन काल में इनके द्वारा जहाज़ों और नावों को चलाने में बड़ा सुभीता रहता था। इसी कारण इनका नाम व्यापारिक हवायें रक्खा गया था। इसी नाम से ये हवायें आज भी प्रसिद्ध हैं।

२७९. अयनरेखाओं के शान्त प्रदेश अथवा घोड़े का अक्षांश (Horse Latitudes)—विषुवत् रेखा के समीप की वायु जब गरम होकर ऊपर पहुँचती है, तो ऊपर की सर्दी पाकर भारी हो जाती है और नीचे उतरना चाहती है। परन्तु नीचे से आने वाली हवा उसका मार्ग रोक देती है जिससे वह अयनरेखाओं के समीप नीचे उतरती है। इसीलिए भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ३०° और ४०° अक्षांशों के बीच उच्च वायुभार की शांत पेटियाँ हैं। क्योंकि इस प्रदेश में हवायें ऊपर से धरातल पर उतरती हैं, अतः यहाँ मौसम शुष्क और आकाश साफ रहता है (चित्र ८४)। इस प्रकार उच्चभार की शान्त पेटियों का मौसम भूमध्यरेखा की शांत पेटी के मौसम से बिलकुल उलटा रहता है। भूमध्यरेखा की शान्त पेटी में हवायें नीचे धरातल से ऊपर की ओर जाती हैं, अतः मौसम आर्द्र और आकाश मेघाच्छन्न रहता है।

इस शान्त प्रदेश में वायुभार का ढाल बहुत ही धीमा रहता है, अतः यहाँ पर धरातल की हवायें या तो बिलकुल शान्त रहती हैं अथवा बहुत धीमी और अनिश्चित रहती हैं। हवायें सभी दिशाओं से चलती हैं। प्राचीन काल में इन शान्त प्रदेशों में मल्लाहों को अपनी नावें चलाने में कठिनाई आती थी। हवा के अभाव में भारी नावें आगे नहीं बढ़ पाती थी। फलतः मल्लाह अपनी नावें हल्की करने के लिए अपने घोड़े समुद्र में फेंके देते थे। इसीलिए इन प्रदेशों को घोड़े का अक्षांश कहते हैं।

२८०. पछवा हवायें (Westerlies)—अयनरेखाओं के उच्चभार की पेटी से ध्रुववृत्तों की ओर चलने वाली हवाओं को पछवा हवायें कहते हैं। ये हवायें भूमध्यरेखा के दोनो ओर लगभग ३५° या ४०° अक्षांश से ६०° या ६५° तक चलती है। फेरल के नियमानुसार इनकी प्रवाह-दिशा उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिण-पश्चिम से उत्तर-पूर्व को तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर-पश्चिम से दक्षिण-पूर्व को होती है। ये हवायें अन्य स्थायी हवाओं के विपरीत गरम अक्षांशों से ठण्डे अक्षांशों की ओर चलती हैं, अतः ठण्ड पाकर वर्षा करती है। महाद्वीपों के पश्चिमी तटवर्ती देशों में, जहाँ ये हवायें तट की ओर से पहुँचती हैं, सालभर वर्षा होती है। चक्रवात और

प्रतिचक्रवात हवाओं के चलते रहने के कारण इन हवाओं के क्षेत्र में बहुत अनियमित अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिससे इनकी गति में अन्तर पड़ जाता है। उत्तरी गोलार्द्ध की अपेक्षा दक्षिणी गोलार्द्ध में ये हवायें अधिक निश्चित और स्थायी रहती हैं। इसका कारण यह है कि दक्षिणी गोलार्द्ध में इन हवाओं के वेग में रुकावट डालने वाला स्थलखण्ड नहीं है। इनके प्रचण्ड वेग के कारण इन्हें दक्षिणी गोलार्द्ध में गरजने वाली चालीसा या वीर पछवा (Roaring Forties) कहते है। (चित्र ८५)

२८१. ध्रुवीय हवायें (Polar Winds)—ध्रुवों के उच्च भार से ठण्डी हवायें ध्रुववृत्तीय न्यून भार (Sub-polar Lows) की ओर चलती है। जिस प्रदेश में ये ठण्डी हवायें शीतोष्ण कटिबन्ध की हवाओं से मिलती है वहाँ पर चक्रवात और प्रतिचक्रवात उत्पन्न हो जाने की अवस्था स्थापित हो जाती है। इनमे उत्पन्न आँधियाँ जाड़े की ऋतु में दक्षिण की ओर बढ़ने लगती हैं।

२८२. स्थायी हवाओं की पेटियों का खिसकना (Shifting of Wind Belts)—सूर्य के उत्तरायण और दक्षिणायन होने के कारण वायुभार की पेटियाँ कुछ उत्तर या दक्षिण को खिसक जाती हैं। अतः स्थायी हवाओं के प्रवाह-क्षेत्र की स्थिति में भी अन्तर पड़ जाता है। इन हवाओं के प्रवाह-क्षेत्र की स्थिति बदल जाने से बहुत से प्रदेश एक वर्ष में दो प्रकार की हवाओं के प्रभाव में आ जाते हैं। इन प्रदेशों में दो प्रदेशों की अवस्था विशेष उल्लेखनीय है—

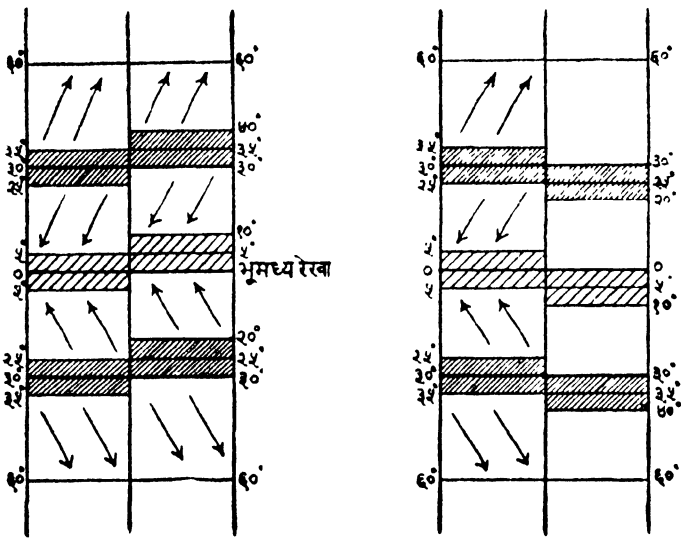

चित्र ८६. हवा की पेटियों का खिसकना।

(क) भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ५° से १५° अक्षांशों के बीच के भाग गरमो की ऋतु में डोलड्रम्स या भूमध्यरेखिक शान्त खण्ड के प्रभाव में रहते हैं। परन्तु जाड़े की ऋतु में व्यापारिक हवाओं के प्रभाव में चले जाते हैं।

(ख) भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ३०° से ४०° अक्षांशों के बीच के प्रदेश गरमो की ऋतु में अयनवृत्तीय शान्त खण्डों और व्यापारिक हवाओं के प्रभाव में रहते हैं। परन्तु जाड़े की ऋतु में ये प्रदेश पछवा हवाओं के प्रभाव में चले जाते हैं।

(२) सामयिक हवायें (Seasonal Winds)

२८३. मानसून हवायें (Monsoons)—यदि समस्त धरातल पर जल-ही-जल होता, तो ये स्थायी हवायें निरन्तर एक ही प्रकार से वर्ष भर चलती रहतीं। परन्तु धरातल पर स्थल का भी बहुत बड़ा भाग है। स्थल और जल असमान रूप से गरम और ठण्डे होते हैं। ऋतुओं के अनुसार इनके वायुभार में बहुत अन्तर हो जाता है जिससे हवाओं की प्रवाह-दिशा में अन्तर पड़ जाता है। जिन हवाओं की दिशा मौसम के अनुसार बदल जाती है उन्हें मानसून या मौसमी हवायें कहते हैं। मौसमी हवाओं की उत्पत्ति केवल उन्हीं प्रदेशों में सम्भव हो सकती है जहाँ अयन-रेखाओं के समीप एक ओर स्थल का बड़ा भाग और दूसरी ओर जल का बड़ा भाग विद्यमान हो। अयनरेखाओं के समीप में ही मौसमी हवाओं की उत्पत्ति का विशेष कारण यह है कि इसी भाग में ही तापक्रम की मात्रा और वायुभार में जल और स्थल पर पर्याप्त अन्तर हो जाता है। अधिक अन्तर रहने के कारण ही मानसून हवायें इतनी शक्तिशाली हो जाती है कि व्यापारिक हवाओं का प्रभाव समाप्त हो जाता है। मानसून हवायें भारत, पूर्वी द्वीपसमूह, हिन्दचीन, चीन, उत्तर-पूर्वी आस्ट्रेलिया, दक्षिण पूर्वी संयुक्तराज्य और पूर्वी अफ्रीका में विशेष महत्त्वपूर्ण है।

२८४. जाड़े का मानसून—मौसमी हवाओं को पूर्णतया समझने के लिए एशिया की परिस्थिति का ज्ञान आवश्यक है। जिन दिनों सूर्य मकर रेखा पर सीधा चमकता है, उन दिनों एशिया महाद्वीप का विशाल मध्यभाग हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर की अपेक्षा अधिक ठण्डा हो जाता है जिससे यहाँ का वायुभार भी अधिक हो जाता है। ऐसी दशा में इस ऋतु में मध्य एशिया से महासागरों की ओर हवायें चलने लगती हैं। इन हवाओं को जाड़े का मानसून कहते है। इन हवाओं की दिशा उत्तरी चीन में उत्तर-पश्चिमी, मध्य चीन में उत्तर और दक्षिणी एशिया में उत्तर-पूर्वी होती है। क्योंकि ये हवायें स्थल से जल की ओर चलती है, इसलिए शुष्क और ठण्डी होती है। गोबी मरुस्थल को पार करने के कारण ये हवाय धूलकणों से लदी रहती है। इन तेज आंधियों के कारण मानसूनी देशों में जाड़े की ऋतु सूनी ही बीतती है। हिमालय पहाड़ के कारण मध्य एशिया की तेज और ठण्डी हवायें भारत में नहीं पहुँच पातीं। इनकी एक शाखा उत्तर-पश्चिम से भारत में प्रवेश करती हैं। समुद्र के पास उत्तर-पूर्व से चलने लगती है। ये हवायें भूमध्यरेखा के न्यूनभार की ओर बढ़ती हैं तथा वहाँ से आस्ट्रेलिया के न्यूनभार की ओर मुड जाती हैं। भूमध्य-रेखा को पार करके यह उत्तर पश्चिमी मानसून बन जाती हैं और आस्ट्रेलिया पर पर्याप्त वर्षा करती है।

२८५. गरमी का मानसून—गरमी की ऋतु में जिस समय सूर्य की प्रचण्ड

किरणें कर्क रेखा पर सीधी पड़ती हैं उस समय मध्य एशिया तथा चीन और भारत के विशाल मैदान प्रचण्ड गरमी से तपने लगते है। अत्यन्त उत्तप्त हो जाने के कारण इनके ऊपर वायुभार बहुत कम हो जाता है। स्थल भागों की अपेक्षा आस-पास के समुद्रों का तापक्रम कम रहता है और वायुभार अधिक हो जाता है जिससे वायुभार का ढाल समुद्रों से स्थल की ओर रहता है। इस प्रकार जलखण्डों से स्थल की ओर चलने वाली हवाओं को गरमी का मानसून कहते हैं। स्थल की गरम वायु ऊपर की ओर फैलती है और हल्की हो जाती है और भूमध्यरेखा को पार करके आने वाली हवा इस ओर चलने लगती है। क्योंकि इन हवाओं को समुद्र का लम्बा मार्ग पार करना पड़ता है, अतः ये भाप से लदी रहती हैं और भारी वर्षा करती है। समुद्रों पर इन हवाओं की दिशा दक्षिण-पश्चिम होती है, इसलिए इन्हें दक्षिण-पश्चिमी मानसून हवायें भी कहते हैं। परन्तु जब ये हवायें स्थल के भीतरी भागों में प्रवेश करती है, तो इनकी दिशा बदल जाती है। चीन में ये हवायें दक्षिण-पूर्व से चलती हैं।

पृथ्वी के अन्य भागो मे दक्षिण-पूर्वी एशिया की तरह मौसमी हवायें नहीं चलती है। अन्य भागों में हवाओं की दिशा में इस प्रकार पूर्ण परिवर्तन नहीं हो पाता।

२८६. जल तथा स्थल-पवन (Land and Sea Breezes)—दिन और रात के समय वायुभार मे दैनिक परिवर्तन होते रहने से जल और स्थल-पवन चला करती है। दिन के समय समुद्र के समीप स्थल का भाग समुद्र की अपेक्षा अधिक गरम हो जाता है, अतः स्थल पर जल की अपेक्षा न्यून भार स्थापित हो जाता है। इस अन्तर के कारण समुद्र की ओर से स्थल पर स्थानीय पवन चलने लगती है जिसे जल-पवन कहते हैं। जल-पवन दिन के लगभग १० बजे से सूर्यास्त काल तक चला करती है। इन पवनों का प्रभाव तट से लगभग २० मील के भीतर ही हुआ करता है। ये पवन ठण्डी और तर होती हैं, अतः उष्ण कटिबन्ध में तट के उच्च तापक्रम को कम करने में सहायक होती हैं। कभी-कभी जल-पवन के चलने के पश्चात् १५-२० मिनट में ही तापक्रम १५° से २०° अंश तक कम हो जाता है।

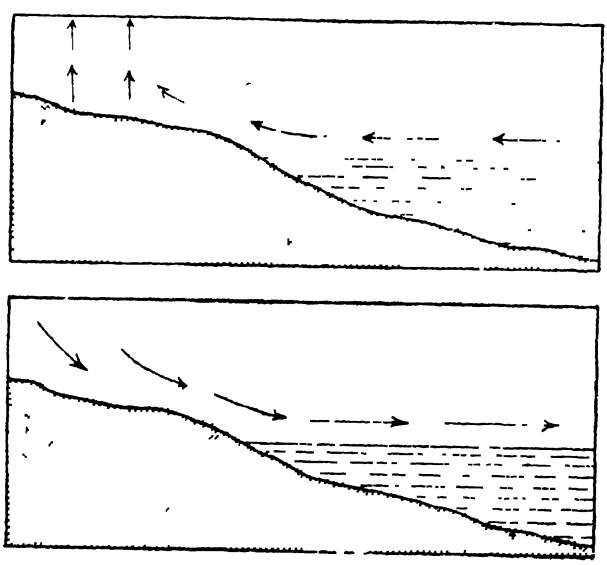

चित्र ८७. जल तथा स्थल-पवन।

रात्रि के समय स्थल समुद्र की अपेक्षा जल्दी ठण्डा हो जाता है। अतः स्थल की वायु का दबाव जल पर के वायभार से अधिक हो जाता है। ऐसी दशा में स्थल से जल की ओर पवन चलती है जिसे स्थल-पवन कहते हैं।

(३) स्थानीय हवायें (Local Winds)

२८७. पर्वत और घाटी पवन (Mountain and Valley Breezes)—जल और स्थल-पवन के समान ही पर्वतीय प्रदेशों में पर्वत और घाटी पवन चलती हैं। दिन के समय पर्वत-शिखर घाटियों की अपेक्षा अधिक गरम हो जाते हैं अतः घाटी की ओर से शिखर की ओर पवन चलती है। रात्रि के समय परिस्थिति उलट जाती है।

२८८. अन्य स्थानीय हवायें (Other Local Winds)—पछवा हवायें राकी पर्वतों के पश्चिमी ढालों पर पानी बरसाकर पूर्व की ओर आगे बढ़ती हैं, तो पर्वतों से नीचे उतरने के कारण बहुत गरम हो जाती हैं। इन हवाओं के कारण प्रेरी मैदानों का तापक्रम इतना बढ़ जाता है कि वहाँ की बर्फ पिघल जाती है। इन हवाओ को चिनूक हवायें कहते हैं। इसी प्रकार आल्प्स को पार करके उत्तर की ओर जाने वाली हवायें कहीं-कहीं पर तापक्रम में ४०° से भी अधिक अन्तर कर देती हैं। इन हवाओं को योरोप में फान हवायें कहते है। इस प्रकार की हवायें फ्रांस में मिस्ट्रल, स्पेन में सोलानो, इटली में सिराको आदि नामों से प्रसिद्ध हैं। मिस्र की स्थानीय हवा खामसिन, अरब की सिमून तथा सूडान की हरमाटन कहलाती है।

बाईसवाँ अध्याय

वायुमण्डल की आर्द्रता और वर्षा

२८९. भाप का महत्त्व—वायुमण्डल में जलवाष्प की मात्रा में पर्याप्त परिवर्तन होता रहता है। इसकी मात्रा शून्य से कुछ ही अधिक से लेकर अधिक-से-अधिक ४ या ५ प्रतिशत तक हो सकती है। जलवाष्प की मात्रा की न्यूनाधिकता मौसम की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसकी मात्रा के अनुसार ही ओस, कुहरा, बादल, वर्षा, ओले तथा बर्फ़ गिरती है। वर्षा के समान पेड़-पौधों तथा पशु-पक्षियों के जीवन को प्रभावित करने वाला मौसम का दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। जीव तथा वनस्पति का विकास वर्षा पर निर्भर है। हम यह देख चुके हैं कि भाप धरातल से निकली हुई गरमी को सोखकर तापक्रम की विषमताओं को अधिक बढ़ने नहीं देती। भाप की अधिक मात्रा मानव-शरीर की गरमी को कम नहीं होने देती। इस प्रकार भाप मानव-जीवन को अत्यधिक प्रभावित करती है।

२९०. जलवाष्प का स्रोत—धरातल पर सूर्य की गरमी से निरन्तर भाप बना करती है। धरातल के तीन-चौथाई भाग पर फैले हुए महासागर भाप के अजस्र स्रोत हैं। महासागरों से वायुमण्डल यथाशक्य भाप प्राप्त कर सकता है। इनके अतिरिक्त झील, नदी-नद, तालाब, कुएँ आदि सभी प्रकार के जलाशयों से जल भाप के रूप में परिणित होकर वायुमण्डल में पहुँचता रहता है। हरे पेड़-पौधों का रस सूखकर वायुमण्डल में मिलता रहता है।

२९१. जलवाष्प में गुप्त (Latent) ताप शक्ति—हम पहले कह चुके हैं कि ताप कोई भौतिक पदार्थ नहीं है, किन्तु शक्ति का एक विशेष रूप है। जब कोई पदार्थ इस शक्ति को ग्रहण करता है, तो उसके परिमाणु (Molecules) तेज़ी के साथ इधर-उधर हरकत करने लगते हैं। दूसरे शब्दों में ताप पदार्थों के परिमाणुओं की हरकत है। ज्यों-ज्यों हम किसी पदार्थ की गरमी को खींचते हैं, त्यों त्यों उस पदार्थ के परिमाणुओं की हरकत भी मन्द पड़ती जाती है। यदि हम पानी को ठण्डा करें तो उसके परिमाणुओं की हरकत मन्द हो जाती है, और वे एक-दूसरे से गुँथकर ठोस रूप में बन जाते हैं। परन्तु यदि पानी को गरम करें, तो पानी के परमाणुओं की हरकत बढ़ जाती है और वे अधिक फैलकर भाप रूप में बदल जाते हैं। स्पष्ट है कि भाप में जल की अपेक्षा अधिक ताप-शक्ति विद्यमान रहती है। जल की अपेक्षा भाप में जितनी अधिक ताप विद्यमान रहती है उसे गुप्त ताप (Latent heat) कहते हैं। यह गुप्त ताप भाप के ठण्डी होकर द्रवरूप में परिणित होने पर निकल जाती है.

और वायु उसे ग्रहण करके अधिक गरम हो जाती है। यही कारण है कि तूफ़ान के बीच में जब कभी भाप ठण्डी होकर बादलों के रूप में बदल जाती है, तो भाप से निकला हुई गरमी से संवाहनधाराओं की गति बढ़ जाती है और तूफ़ान भयकर हो उठता है।

२९२. आर्द्रता या नमी (Humidity)—सूर्य की गरमी से जलाशयों का जल भाप के रूप में परिणित होकर वायु में मिलता रहता है। यह भाप वायु में मिलकर उसे आर्द्र बनाती रहती है। वायु में भाप की मात्रा उसकी आर्द्रता कहलाती है। वायु की भाप को धारण करने की शक्ति उसके तापक्रम पर निर्भर होती है। वायु का तापक्रम जितना अधिक बढ़ता है, उसमें उतनी ही अधिक भाप धारण करने की शक्ति होती है। एक घनफुट वायु में तापक्रम के अनुसार अधिक-से-अधिक निम्न मात्रा में भाप रह सकती है—

वायु का तापक्रम	भाप की मात्रा	तापक्रम में १०° फा० अंतर होने पर भाप धारण की शक्ति में अन्तर
३०° फा०	१·९ ग्रेन	...
४०° ,,	२·९ ,,	१·०
५०° ,,	४·१ ,,	१·२
६०° ,,	५·७ ,,	१·६
७०° ,,	८·० ,,	२·३
८०° ,,	१०·९ ,,	२·९
९०° ,,	१४·७ ,,	३·८
१००° ,,	१९·७ ,,	५·०

उपर्युक्त तालिका से विदित होता है कि ठण्डी हवा की अपेक्षा गरम हवा अधिक भाप रख सकती है और तापक्रम की वृद्धि के साथ-ही-साथ भाप धारण करने की शक्ति में पर्याप्त वृद्धि होती जाती है। यदि ४०° फा० तापक्रम वाली हवा की गरमी १०° फा० बढ़कर ५०° फा० हो जाय, तो उस हवा के प्रति घनफुट में १·२ ग्रेन और मिला लेने की शक्ति बढ़ जायगी। परन्तु यदि ९०° फा० तापक्रम वाली हवा की गरमी को १०° बढ़ा दिया जाय, तो उसमें भाप ग्रहण करने की शक्ति प्रति घनफुट पर ५ ग्रेन बढ़ जायगी। स्पष्ट है कि गरम हवा मे वर्षा करने की शक्ति भी अधिक होगी और गरमी बढने की परिस्थिति में देश को शुष्क बनाने की शक्ति भी अधिक हो होगी। यही कारण है कि शुष्क मरुस्थल उष्ण कटिबन्ध में ही अधिक पाये जाते हैं।

तापक्रम के अनुसार हवा में जितनी मात्रा में भाप रह सकती है उतनी यदि हवा में मौजूद हो, तो उस हवा को **सम्पृक्त** (Saturated) कहेंगे । सपृक्त हवा का जब तक तापक्रम नहीं बढ़ेगा, तब तक वह और अधिक भाप ग्रहण नहीं कर सकेगी । एक समान तापक्रम और दबाव पर भाप हवा से हल्की होती है । भाप और हवा के भार में ५ और ८ का अनुपात बताया जाता है । यही कारण है कि **भाप से लदी हुई हवा सूखी हवा से हल्की होती है** । सपृक्त हवा में और अधिक भाप मिलते ही वह पानी के रूप में बरसने लगेगी ।

२९३. **प्रकेवल आर्द्रता** (Absolute Humidity)—वायु मे जलवाष्प की जितनी मात्रा होती है उसे वायु की प्रकेवल आर्द्रता कहते है । उदाहरण के लिए यदि १ घनफुट वायु में ४०° फा० तापक्रम पर २ ग्रेन भाप मौजूद है तो हम इसे वायु की प्रकेवल आर्द्रता कहेंगे । सम्पृक्त होने के लिए उसे ९ ग्रेन भाप और चाहिए । तापक्रम के परिवर्तन से वायु की प्रकेवल आर्द्रता की मात्रा में कोई अन्तर नहीं पड़ता । वायु में अधिक भाप मिलने से अथवा भाप के किसी रूप में निकल जाने से ही इसकी मात्रा मे अन्तर पड़ता है । धरातल के सभी भागो में जलवाष्प की मात्रा एक समान नही होती । जिन प्रदेशों में गरमी अधिक पड़ती है और जलाशय भी अधिक है उनमें जलवाष्प की मात्रा अधिक रहती है । इसी कारण भूमध्यरेखा के समीप आर्द्रता अधिक होती है और ध्रुवों के समीप कम रहती है । भाप की मात्रा प्रति घनफुट में ग्रेनों के अनुसार नापी जाती है ।

२९४. **सापेक्ष आर्द्रता** (Relative Humidity)—हवा में किसी तापक्रम पर कुल जितनी जलवाष्प रह सकती है उसका जितना प्रतिशत भाप हवा में मौजूद होती है उसे हवा की सापेक्ष आर्द्रता कहते है । उदाहरण के लिए ७०° फा० तापक्रम पर एक घनफुट वायु में ८ ग्रेन जलवाष्प रह सकती है । मान लीजिये इस तापक्रम पर एक घनफुट वायु में ४ ग्रेन भाप मौजूद है, तो हवा की सापेक्ष आर्द्रता $\frac{४}{८} \times १०० = ५०$ प्रतिशत है । वायु के तापक्रम में परिवर्तन होते ही उसकी भाप धारण करने की शक्ति में भी अन्तर पड़ेगा और उसी के अनुसार सापेक्ष आर्द्रता मे भी अन्तर पड़ता जायगा । मौसम के ज्ञान से लिए सापेक्ष आर्द्रता का जानना आवश्यक है । किसी स्थान की वायु में भाप की मात्रा अधिक हो, परन्तु सापेक्ष आर्द्रता कम हो तो वहाँ का जलवायु सूखा ही रहेगा । उदाहरण के लिए सहारा मरुस्थल में वायु में भाप की मात्रा पर्याप्त होती है, परन्तु ऊँचे तापक्रम के कारण वहाँ पर वायु की सापेक्ष आर्द्रता लगभग १० प्रतिशत ही रह जाती है । सापेक्ष आर्द्रता से ही हम उस देश की वर्षा का हाल जान सकते है ।

२९५. **आर्द्रता की नाप**—वायु की आर्द्रता नापने के लिए एक विशेष ढंग

का यन्त्र काम में लाते हैं जिसमें दो थर्मामीटर लगे रहते हैं। एक थर्मामीटर की घुण्डी खुली हवा में रहती है और दूसरे थर्मामीटर की घुण्डी पर बारीक मलमल का जल में भीगा हुआ कपड़ा लपेट देते है। कपड़े का एक सिरा नीचे जल में डूबा रहता है। पानी इस कपड़े के सहारे ऊपर चढ़कर घुण्डी को हर समय तर रखता है। यदि हवा में आर्द्रता कम हुई तो घुण्डी का पानी भाप बनकर उड़ेगा और घुण्डी ठण्डी रह जायगी। फलतः गीली घुण्डी वाले थर्मामीटर का तापक्रम खुली हवा में घुण्डी वाले थर्मामीटर के तापक्रम से कम होगा। इस अन्तर को मालूम करके एक विशेष प्रकार से तैयार किये हुए चार्ट की सहायता से वायु की आर्द्रता जानी जाती है तथा इसी की सहायता से सापेक्ष आर्द्रता की जाती है। स्पष्ट है कि समुद्रों के समीप वायु में नमी अधिक रहती है और महाद्वीपों के भीतरी भागो में कम रहती है।

२९६. वाष्पीभवन और घनीभवन की क्रियायें (Evaporation and Condensation)—वायु की नमी (आर्द्रता) वायु के तापक्रम अथवा भार में परिवर्तन होने के कारण निरन्तर बदलती रहती है। नमी के घटने-बढ़ने के लिए यह आवश्यक है कि जलवाष्प का रूप वायव्यावस्था से सलिलावस्था में और सलिलावस्था से वायव्यावस्था में परिवर्तित होता रहे। जल के रूप को बदलने वाली इन क्रियायों को वाष्पीभवन और घनीभवन या सघनन कहते है। वर्षा के विभिन्न रूपों को हृदयंगम करने के लिए हमें इन दोनो क्रियायों को भलीभाँति समझ लेना चाहिए।

२९७. उद्वाष्पन या वाष्पीभवन (Evaporation)—इस क्रिया के लिए उष्णता की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए एक सेर पानी को उबालने के लिए जितना ईधन लगेगा उससे पाँच गुना ईधन उस पानी को भाप बनाने में खर्च होगा। परन्तु तापक्रम नापने पर जितनी उष्णता उबले जल में रहती है उतनी ही उष्णता पानी के भाप बनकर उड़ जाने तक बनी रहती है। तब यह पाँच गुनी उष्णता कहाँ जाती है? यह पाँच गुनी उष्णता भाप में विद्यमान रहती है जिसे हम देख नहीं सकते। अतः इस उष्णता को **गुप्त ताप** (Latent Heat) कहते हैं। इस गुप्त उष्णता को पुनः उत्पन्न किया जा सकता है। यदि हम किसी बर्तन में अत्यन्त ठण्डा पानी भरकर उसमें थोड़ी-सी भाप छोड़ दें, तो पानी का तापक्रम बढ़ने लगेगा तथा पानी की मात्रा भी बढ़ जायगी। निश्चित है कि भाप ने जल के रूप में बदलकर जो ताप छोड़ी उसी से पानी का तापक्रम बढ़ गया। स्मरण रहे कि पदार्थ और शक्ति दोनों ही अविनाशी है। हाँ, उनका रूपान्तर अवश्य हो जाता है। उदाहरण के लिए पेड़-पौधे वातावरण की उष्णता ग्रहण करके उसे लकड़ी के रूप में संग्रह करते रहते है। इसी लकड़ी को जलाकर हम पुनः उष्णता प्राप्त कर लेते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि वाष्पीभवन क्रिया द्वारा वायु वातावरण की उष्णता को सोख लेती है। इसीलिए वाष्पी भवन द्वारा वायु की गुप्त ताप बढ़ जाती है।

२९८. संघनन या घनीभवन (Condensation)—उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा भाप पानी के रूप में बदल जाय। हवा जब तक गरम रहती है, तब तक वह भाप को वायव्य रूप में अपने में मिलाये रहती है। परन्तु जब वह ठण्डी होती है, तो भाप सघन होकर जल के रूप में प्रकट हो जाती है। सघन होकर भाप पानी की छोटी-छोटी बूँदों के रूप मे या हिम रूप में परिवर्तित होती है। वाष्प के ये अत्यन्त सूक्ष्म जलसीकर या हिमसीकर वायु में ही टिके रहते हैं, तो धुन्ध या बादल का रूप धारण कर लेते है। परन्तु यदि बूँदों का रूप बड़ा हो जाता है तो वर्षा आदि के रूप में धरातल पर गिर जाती हैं।

हम पहले कह चुके हैं कि हवा में जलवाष्प को अदृश्य रूप में ग्रहण करने का गुण है। परन्तु परिमित तापक्रम वाली हवा में परिमित सीमा में ही भाप ग्रहण करने की शक्ति होती है। इस सीमा तक भाप ग्रहण कर लेने पर वायु सम्पृक्त हो जाती है तथा उसमें और अधिक भाप समाने की गुञ्जाइश नहीं रहती। इस सीमा से अधिक भाप प्राप्त होते ही वह सघन होकर जलसीकरों या हिमकणों का रूप ग्रहण कर प्रकट हो जायगी। इस प्रकार **सम्पृक्त हवा मे अधिक भाप मिलते ही घनीभवन या संघनन** (Condensation) **की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है।**

२९९. संघनन की दूसरी विधि—एक अन्य प्रकार से भी जलवाष्प सघन होकर प्रकट हो जाती है। मान लीजिये कि एक विशेष तापक्रम वाली हवा में भाप इतनी कम है कि उसको पानी या हिमकण के रूप में बदलने के लिए हवा में बहुत ज्यादा भाप मिलानी पड़ेगी। परन्तु भाप के अभाव में यदि वायु का तापक्रम घटाया जाय और घटते-घटते तापक्रम इतना कम हो जाय कि हवा में वर्तमान भाप से अधिक भाप ग्रहण करने की शक्ति शेष न रह जाय, तो थोड़ा-सा तापक्रम और गिरते ही भाप सघन होकर जल या हिम रूप में प्रकट होने लगेगी। वायु का तापक्रम गिरते-गिरते जब इतना कम हो जाता है कि वायु की और अधिक भाप ग्रहण करने की शक्ति समाप्त हो जाती है अथवा दूसरे शब्दों में तापक्रम के घटने से वायु सम्पृक्त अवस्था में पहुँच जाती है, तो वायु के उस तापक्रम को **ओसबिन्दु** (Dew-point) कहा जाता है। स्पष्ट है कि ओसबिन्दु का वायु की सापेक्ष आर्द्रता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि वायु में सापेक्ष आर्द्रता (Relative Humidity) अधिक होगी, तो वायु थोड़ी ठण्डी होने पर ही ओसबिन्दु पर पहुँच जायगी। परन्तु यदि हवा में सापेक्ष आर्द्रता कम होगी तो ओसबिन्दु तक पहुँचने के लिए हवा का तापक्रम बहुत घटाना पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भाप के सघन होने के लिए दो बातों की आवश्यकता है—

(अ) हवा का तापक्रम गिरना या हवा का ठण्डा होना तथा (ब) हवा की सापेक्ष आर्द्रता का परिमाण। यही कारण है कि शुष्क प्रदेशों में हवा के तापक्रम को ओस-बिन्दु तक पहुँचने के लिए अर्थात् भाप को सघन होकर प्रकट होने के लिए हवा को पर्याप्त ठण्डा होना पड़ता है। यदि हवा ओसबिन्दु पर ३२° फा० से ऊँचे तापक्रम पर ही पहुँच जाती है, तो भाप सघन होकर जलबिन्दुओं के रूप में प्रकट होती है। परन्तु यदि ओसबिन्दु तक पहुँचते-पहुँचते हवा का तापक्रम ३२° फा० से नीचे गिर जाता है, तो भाप सघन होकर हिमसीकरों के रूप में प्रकट होती है।

३००. संघनन की तीन परिस्थितियाँ—भाप के सघन होने योग्न तापक्रम तक हवा के ठण्डे होने के लिए तीन प्रकार की परिस्थितियों में किसी एक की आवश्यकता होती है—

(क) शान्त हवा का शीतल वस्तुओं के सम्पर्क में आना।

(ख) आर्द्र हवा का ठण्डी वस्तुओं को स्पर्श करते हुए बहना।

(ग) हवा का ऊपर उठते हुए फैलना।

(क) शान्त हवा का शीतल वस्तुओं के सम्पर्क मे आना—दिन के समय विकिरण (Radiation) द्वारा सूर्य से जो उष्णता धरातल को प्राप्त होती है वह रात्रि को परावर्तित हो जाती है। जब कभी उष्णता इतनी अधिक घट जाती है कि ठण्डे पदार्थों के संसर्ग पाकर हवा का तापक्रम ओसबिन्दु पर पहुँच जाता है, तो हवा में विद्यमान भाप ओस, पाला आदि के रूप में परिणित हो जाती है। ओस, पाला आदि गिरने के लिए कई बातों की आवश्यकता होती है। प्रथम तो आकाश स्वच्छ हो और हवा सूखी हो। स्वच्छ आकाश और सूखी हवा दिन में प्राप्त की हुई सूर्यताप को शीघ्रतापूर्वक परावर्तित करने में सहायक होते हैं। पहले बताया जा चुका है कि धरा-तल की उष्णता को रोकने में बादलों तथा आर्द्र हवा का बहुत बड़ा हाथ रहता है। दूसरे यह भी आवश्यक है कि हवा शान्त हो अन्यथा हवा का कोई भी भाग अधिक समय तक शीतल वस्तुओं के सम्पर्क में नहीं रहेगा और अधिक ठण्डे हुए बिना सूखी हवा की भाप जल रूप में सघन न हो सकेगी। स्मरण रहे कि वायु में जलवाष्प न्यूनाधिक परिमाण में हमेशा विद्यमान रहती है और यही भाप ओस आदि की उत्पत्ति का कारण है।

हमने देखा होगा कि ओस प्रायः जाड़े की ऋतु में गिरती है। इसका विशेष कारण यह है कि गरमी की ऋतु में रात्रि का अपेक्षा दिन बड़ा होता है और इस ऋतु में गरमी में अधिक पड़ती है। अतः दिन भर में जो गरमी प्राप्त होती है वह रात भर में परावर्तित नहीं हो पाती। परिणामस्वरूप गरमी बढ़ती जाती है और हवा में अधिक भाप मिलाये बिना ऐसी अवस्था नहीं आ पाती कि हवा का तापक्रम ओसबिन्दु तक

पहुँच जाय। यही कारण है कि गरमी की ऋतु में ओस नहीं पड़ती। इसके विपरीत जाड़े की ऋतु में दिन की अपेक्षा रात बड़ी होती है। दिन भर में सूर्य से जो उष्णता प्राप्त होती है उसे लम्बी रात्रि में परावर्तित होने के लिए पर्याप्त समय मिल जाता है। इसी कारण रात के समय जो वस्तुएँ बहुत ठण्डी हो जाती हैं उनके सम्पर्क में आने वाली हवा का तापक्रम गिरते-गिरते ओसबिन्दु से कम हो जाता है और ओस गिरने लगती है। कुछ विद्वानों का मत है कि वृक्ष अपनी लम्बी जड़ों की सहायता से पृथ्वी के भीतर से तरी खींच लेते हैं। यह तरी हवा की गरमी से भाप रूप में बदल जाती है और घास व पेड़-पौधों पर शीतलता उत्पन्न हो जाती है। हवा जब इन ठण्डी वस्तुओं के संसर्ग में आती है, तो भाप को ओस की बूँदों के रूप में छोड़ देती है। ध्यान रहे कि यदि ओसबिन्दु ३२° फा० से ऊचे तापक्रम पर पहुँचता है, तो भाप जलबिन्दुओं के रूप में जमती है जिसे हम ओस कहते हैं। परन्तु यदि ओसबिन्दु ३२° फा० से नीचे के तापक्रम पर होता है, तो भाप हिमकणों के रूप में जमती है जिसे पाला (Hoar-frost) कहते हैं।

(ख) आर्द्र हवा का ठण्डी वस्तुओं को स्पर्श करते हुए बहना—यदि आर्द्र हवा ठण्डे जल, ठण्डी धारा या हिममण्डित भूभाग के ऊपर होकर बहती है, तो जल्दी ठण्डी हो जाती है और भाप जलबिन्दुओं के रूप मे परिणित हो जाती है। ये जलसीकर अत्यन्त छोटे होने के कारण हवा मे बने रहते हे जिससे वातावरण में धुआँ-सा प्रतीत होने लगता है। इसे कुहरा (Fog) कहते हैं। यदि गरम और आर्द्र हवा पर्वत-शिखर पर होकर बहती है तो ठण्डी बर्फ़ के संसर्ग से वहाँ कुहरा उत्पन्न हो जाया करता है। न्यू फाउण्डलैण्ड के समीप जब गल्फस्ट्रीम पर बहन वाली गरम तथा आर्द्र हवा लेब्रेडोर की ठण्डी धारा के सम्पर्क में आती है तो वहाँ कुहरा छा जाता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी कुहरा-सा उत्पन्न हो जाया करता है।

(ग) हवा का ऊपर उठकर फैलना—पृथ्वी के धरातल के पास की हवा पर वायुमण्डल का भार अधिक रहता है, अतः वहाँ की हवा घनी रहती है। परन्तु भूतल से ज्यों-ज्यों ऊंचे चढ़ते जाते है, त्यों-त्यो वायुमण्डल का भार भी कम होता जाता है जिससे ऊपर की हवा भी अधिकाधिक हल्की होती जाती है। हवा के हल्के हो जाने से उसकी ताप या उष्णता को रोके रखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। प्रयोगों द्वारा ज्ञात हुआ है कि प्रति ३३° फीट की ऊँचाई पर १° फा० तापक्रम घट जाता है। यही कारण है कि जब कभी किसी भी कारणवश हवा को ऊपर की ओर जाना पड़ता है तो वह फैलकर हल्की होती है और उसी के परिणामस्वरूप ठण्डी होती है। इसके विपरीत जब हवा को ऊपर से नीचे की ओर आना पड़ता है, तो वह अधिकाधिक घनी और भारी होती जाती है और उसमें गरमी भी बढ़ती जाती है। हवा के ठण्डे होने से

संघनन और गरम होने से वाष्पीभवन की क्रिया में मदद मिलती है।

३०१. कुहरा और धुन्ध—भाप के सघन होने पर जल अथवा हिम के सूक्ष्म-कण वायु में अवलम्बित रहकर धुन्ध या कहरे का रूप धारण करते हैं। परन्तु यदि भाप के संघनन की क्रिया अधिक विस्तार और गहराई के कारण होती है, तो उनको बादल कहते हैं। हमें याद रखना चाहिए कि जलबिन्दु या हिमकण हवा में विद्यमान धूलकणों के ऊपर स्थित होते है। यदि हवा में धूल के कण न हों, तो न ओस गिरे, न बादल बनें और न वर्षा होने की नौबत आये।

३०२. बादल—जब हवा का तापक्रम ओसबिन्दु (Dew-point) से नीचे गिर जाता है, तो भाप धूल अथवा धुएँ के कणों को केन्द्रित करके जल के सूक्ष्मकणों के रूप में परिणित होने लगती है और घनीभवन (संघनन) की क्रिया के विस्तार से बादल बन जाते हैं। जब आकाश में एक ही तल पर स्थित जल की नन्हीं-नन्हीं बूंदों पर सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तो प्रत्येक नन्हीं बूंद एक त्रिपार्श्व काच (Triangular Prism) के समान सूर्य किरण को सात रंगों में विभाजित कर देती है। इस प्रकार हमें आकाश में इन्द्र धनुष की छटा दिखाई पड़ती है। हम पहले कह चुके हैं कि बादल भूतल से कुछ ऊँचाई पर बनते हैं। अतः धरातल से अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। इनकी ऊँचाई-निचाई या विस्तार में अन्तर होने से, प्रकाश सीधे अथवा आड़े-तिरछे पड़ने या न पड़ने से तथा धूलकणों और जलसीकरों की मात्रा के भेद से इनके अनेक रूप दिखाई पड़ते है। सामान्यतः इनको चार प्रमुख भागों में बाँटा जाता है--

(क) कुन्तल मेघ (Cirrus)—ये बादल आकाश में सबसे अधिक ऊँचाई पर होते हैं। इनकी ऊँचाई ५ मील से ६ मील तक होती है। ऊँचाई के कारण इनका तापक्रम हिमांक से कम होता है और ये नन्हें हिमकणों से बने होते हैं। इन पर प्रकाश पड़ने से बड़े विचित्र रूप दिखाई देते हैं। प्रायः ये घुँघराले बालों या झिल्ली जैसे दिखाई देते हैं। इनके कारण वर्षा नहीं होती, परन्तु कभी-कभी इनके बाद शीतोष्ण कटिबन्ध में झंझावृष्टि होती है।

(ख) उनीले मेघ (Cumulus)—कुन्तल मेघों से कुछ ही नीचे उनीले मेघमाला के सुन्दर रूप बनते हैं। इनकी आकृति रुई के ढेर जैसी होती है जिसका तला फैला हुआ होता है और ऊपर की ओर छोटा होता जाता है। इनका निर्माण वायु की वाहनिक धाराओं के कारण होता है। इनके बीच-बीच में नीले आकाश का खुला हुआ भाग बड़ा सुन्दर दिखाई देता है। इन बादलों में गड़गड़ाहट अधिक होती है।

(ग) परतीले मेघ (Stratus)—ये बादल धरती से अधिक-से-अधिक एक या दो मील की ऊँचाई पर बनते हैं। परन्तु आकाश पर पूरी तरह छा जाते है। इनकी आकृति सर्वत्र एक-सा रहती है। ये बादल शीतोष्ण कटिबन्ध में प्रायः जाड़े की ऋतु में

अधिक बनते हैं क्योंकि इनका निर्माण दो भिन्न प्रकार की हवाओं के मिलने से होता है।

(घ) कुँज मेघ (Nimbus)—काले-काले बादलों की मेघमाला धरता से एक मील की ऊँचाई पर बनती है। ये कुँज रूप से छाये हुए बादल बड़ी जल्दी वर्षा करते हैं। घने होने के कारण सूर्य की किरणें इनमें होकर प्रवेश नहीं कर पातीं।

३०३. वर्षा (Rainfall)—हवा की भाप जब जल की बूँदों के रूप में या तुषार-कणों के रूप में भूतल पर बरसती है तो उसे वर्षा कहते हैं। वर्षा होने के लिए दो बातों की आवश्यकता है। एक तो वायु में पर्याप्त आर्द्रता होना तथा दूसरे वायु का किसी-न-किसी प्रकार ठण्डा होना। हवा में थोड़ी या बहुत भाप हमेशा रहती है। इसके अतिरिक्त नदी-नाले आदि जलाशयों से भाप बनकर हवा में मिलती रहती है। यह भाप जल बरसाने में बहुत सहायता पहुँचाती है। हवा चार प्रकार से ठण्डी हो सकती है—

(क) धरातल की गरमी से वायु गरम होकर ऊपर की ओर फैलती है और ऊपर पहुँचकर ठण्डी हो जाती है। भूमध्यरेखा के आसपास इसी प्रकार ठण्डी होती है।

(ख) हवा के मार्ग में किसी पर्वत के आजाने से उसे बाध्य होकर ऊपर उठना पड़ता है और ऊपर जाकर ठण्डी हो जाती है। पश्चिमी घाट में इसी प्रकार ठण्डी होती है।

(ग) गरम अक्षांशों से ठण्डे अक्षांशों की ओर चलने से हवा ठण्डी होती है। पछवा हवा इसी प्रकार ठण्डी होती है।

(घ) गरम हवा और ठण्डी हवा के मिलने पर हल्की होने के कारण गरम हवा को ऊपर चढ़ना पड़ता है और ऊपर जाने पर हवा ठण्डी हो जाती है। चक्रवात हवाओं (Cyclones) में इस प्रकार हवा ठण्डी हुआ करती है।

३०४. वर्षा के भेद—वर्षा के तीन मुख्य भेद हैं—(क) वाहनिक; (ख) पार्वत्य; और (ग) चक्रवातीय।

(क) वाहनिक वर्षा (Convectional Rain)—गरम हवा हल्की होने के कारण स्वभावतः ऊपर की ओर फैलती है। ऊँचे पहुँचने पर हवा का तापक्रम कुछ कम हो जाता है और उसकी भाप ठण्डी होकर बरस पड़ती है। भूमध्यरेखा के आस-पास सभी ऋतुओं में काफी गरमी पड़ती है, अतः भूमि के सम्पर्क में आकर वायु गरम होकर ऊपर को फैलती है। पास के भागों की ठण्डी हवा इस हवा को ऊपर ठेल देती है। यह भारी और ठण्डी हवा भी धरातल से गरमी पाकर ऊपर को जाती है। जब तक यह वायु अपने समान घनत्व वाली वायु तक नहीं पहुँचती, तब तक ऊपर की

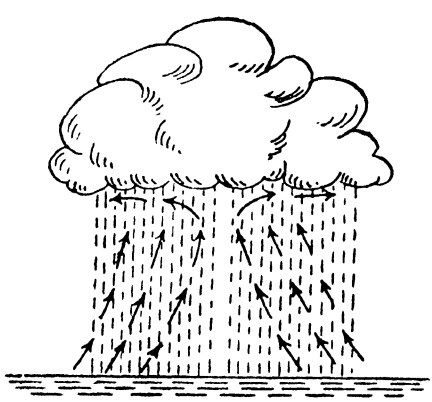

चित्र ८८. वाहनिक वर्षा।

और चढ़ती चली जाती है। इसीलिए जिन दिनों भीषण गरमी पड़ती है, उन दिनों गरम वायु को बहुत ऊँचा चढ़ना पड़ता है और बादल ऊँचाई तक फैल जाते हैं। कांगो और अमेजन नदियों के बेसिन में तथा पूर्वी द्वीपसमूह में इसी प्रकार की वर्षा होती है।

ग्रीष्म ऋतु उत्तरी गोलार्द्ध में स्थित महाद्वीपों के भीतरी भाग का तापक्रम बढ़ जाता है, अतः वहाँ की हवा गरम होकर ऊपर को उठती है और वर्षा हो जाती है। हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि उत्तरी महाद्वीपों के मध्य भाग में वाहनिक वर्षा (Convectional) होती है।

वाहनिक वर्षा हमेशा साल के गरम भाग में और दिन में दोपहर के बाद शुरू होती है। यह वर्षा मूसलाधार होती है और जल्दी ही समाप्त हो जाती है। अधिक वर्षा वाले भूमध्यरेखिक भागों में इस वर्षा के कारण भूमि की कटान सम्बन्धी समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(ख) पार्वत्य वर्षा (Relief Rain)—भाप से लदी हुई हवाओं के मार्ग में जब कोई पर्वत आ जाता है तो उनको ऊपर की ओर चढ़ना पड़ता है। ऊपर चढ़ने पर वह फैल जाती है और ठण्डी होकर वर्षा कर देती हैं। इस प्रकार की वर्षा को पार्वत्य वर्षा कहते है। ऐसी वर्षा पर्वतों के पवनाभिमुख भाग (Windward

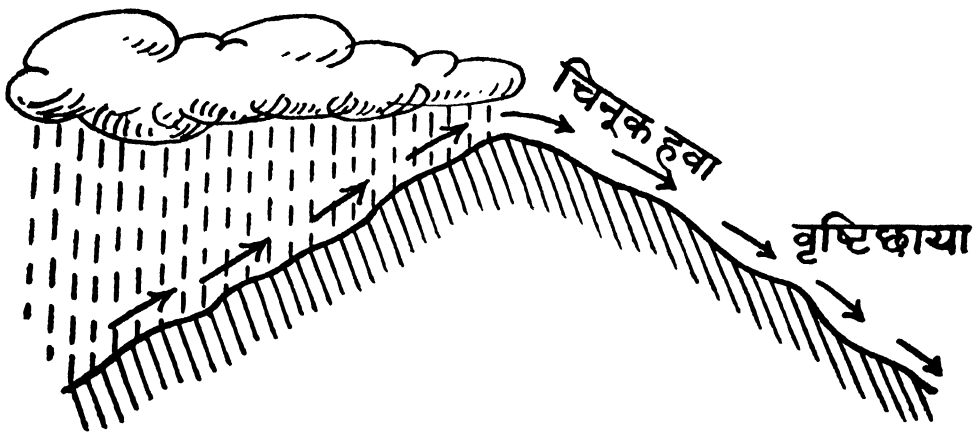

चित्र ८९. पार्वत्य वर्षा

side) पर ही होती है। जब हवायें पर्वतों के दूसरी ओर पहुँचती हैं, तो उनको नीचे उतरना पड़ता है। फलतः पर्वतो के इस भाग में हवायें अधिक दबाव से गरम हो जाती हैं और वर्षा करने के स्थान पर उनकी भाप धारण करने की शक्ति बढ़ जाती है। पर्वतों के इस शुष्क भाग को पवनविमुख भाग (Leeward side) कहते हैं। पर्वत के पवनविमुख भाग के समीप का सारा प्रदेश, जा बिना वर्षा के रह जाता है, वृष्टिछाया का भाग (Rain Shadow Area) कहलाता है। तिब्बत इसी

प्रकार के 'वृष्टिछाया' भाग में स्थित है।

पश्चिमी घाट के पश्चिमी ढालों पर तथा हिमालय के दक्षिणी ढालों पर इसी प्रकार की वर्षा होती है।

(ग) चक्रवातीय वर्षा (Cyclonic Rain)—जिन देशों में चक्रवात अथवा न्यूनभार वाले तूफ़ान चलते हैं वहाँ विभिन्न दिशाओं से हवायें केन्द्र की ओर आती हैं और इसी कारण उनके तापक्रम और घनत्व में बहुत अन्तर होता है। तूफ़ान के भीतरी भाग में विभिन्न तापक्रम की हवायें मिलती हैं और ठण्डी हवायें गरम हवाओं को ऊपर की ओर ठेल देती है। ऊपर की ओर पहुँचकर हवायें ठण्डी हो जाती हैं और वर्षा कर देती हैं। इस वर्षा को चक्रवातीय वर्षा कहते हैं।

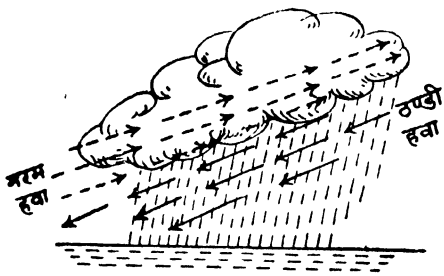

चित्र ९०. चक्रवातीय वर्षा।

इस प्रकार की वर्षा फुहारों के रूप में होती है क्योंकि गरम हवा भूमध्यरेखिक वायुधाराओं की तरह एकदम ऊपर की ओर नहीं चढ़ती, किन्तु धीरे-धीरे और कुछ टेढ़ी होकर ऊपर की ओर गिरती है। इस प्रकार की वर्षा पछवा हवाओं की पेटियों में जाड़े की ऋतु में सबसे अधिक होती है। उत्तर-पश्चिमा भारत में भी शीतकाल में चक्रवातीय वर्षा होती है।

३०५. हिमपात (Snowfall)—जब भाप के सघन होते समय हवा का तापक्रम ३२° फा० अथवा उससे कम हो जाता है तो भाप हिमकणों के रूप में प्रकट होती है। ऊँचे अक्षांशों और ऊँचे पर्वतों पर हवा में आर्द्रता कम रहती है। अतः ओस-बिन्दु तक पहुँचने के लिए तापक्रम का बहुत कम होना ज़रूरी है। परन्तु भारी हिमपात होने के लिए हवा में पर्याप्त नमी भी होना आवश्यक है तथा हवा का तापक्रम भी कम होना चाहिए। ऐसी अवस्था ऊँचे पर्वतों पर पाई जाती है। अतः वहाँ हिमपात अधिक होता है। धरातल पर हिमपात होने के लिए यह आवश्यक है कि वायु के निचले भाग का तापक्रम भी ३२° फा० के आसपास हो अन्यथा हिमपात के समय हिमकण मार्ग में ही पिघलकर जलसीकरों के रूप में बदल जावेंगे। ऐसी स्थिति ध्रुवीय देशों में तथा जाड़े की ऋतु में शीतोष्ण कटिबन्ध के भीतरी भागों में होती है। अतः इन देशों में भी हिमपात अधिक होता है।

जिन प्रदेशों में हिमकण भूमि पर पर्याप्त समय तक पड़ रहते हैं, वहाँ रात्रि के समय ताप का परावर्तन शीघ्रतापूर्वक नहीं होता जिससे उन भागों का तापक्रम स्थिर रहने में बड़ी सहायता मिलती है। कोणधारी वनों (Coniferous forests) के क्षेत्र में भूमि पर कई फीट गहरी बर्फ जमा हो जाती है जिससे वहाँ पर भूमि का

तापक्रम स्थिर रहता है। परन्तु इन वनों के दक्षिण में स्टेपीज के मैदानों में शीतकाल में बर्फ नहीं गिरती। फलतः वहाँ रात्रि के समय ताप शीघ्रतापूर्वक परावर्तित हो जाती है और भूमि शीतल हो जाती है। यही कारण है कि इस क्षेत्र में पेड़ नहीं पनप पाते।

हिमपात से दूसरा लाभ यह है कि हिम धीरे-धीरे पिघलती है, अतः वर्षा के जल की भाँति बर्फ से पिघला हुआ जल जल्दी नहीं बह सकता। इसीलिए जिन प्रदेशों में हिमपात होता है उनमें भूमि कई फीट की गहराई तक तर हो जाती है। इस तरी से खेती को अत्यधिक लाभ पहुँचता है। प्रेरी के मैदानों में भूमि को इसी प्रकार की तरी मिलती है।

३०६. ओला और बिजली (Hailstorm)—कभी झंझावात के साथ जल का ठोसरूप ओलों के रूप में गिरता है। ओलों की बनावट की परीक्षा करने पर पता चला है कि हिम के पतले-पतले परत मिलकर ओलों के रूप में बनते हैं। उनकी बनावट से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जल का इतना ठोस रूप वायु की वेगवती धाराओं के शीघ्रतापूर्वक ऊपर-नीचे बहने से बना होगा। इन धाराओं के साथ हिमकण भी ऊपर-नीचे नाचते होंगे और परस्पर टकराकर एक दूसरे से गुँथ जाते होंगे। जब ये ओले इतने बड़े हो जाते होंगे कि वायुधाराओं के झोंके इनको नहीं सँभाल सकें, तभी ये धरती पर बरस पड़ते होंगे। ओलों का गिरना बिजली की चमक के साथ सम्बन्धित बताया जाता है। सिम्पसन का मत है कि बादलों के भीतर जलसीकर घनात्मक (Positive) विद्युत से युक्त होते हैं। हवा की ऊपर जाने वाली धारा के साथ ऋणात्मक (Negative) बिजली बादलों के शेष भाग में पहुँच जाती है। जब जलबिन्दुओं की विद्युत हवा के साथ अन्य बादलों के सम्पर्क में आती है तो लम्बी धारा के रूप में बिजली चमक उठती है। बिजली चमककर अपने आगे की हवा को हटा देती है और दूसरी हवायें उस स्थान को भरने तेज़ी से दौड़ पड़ती हैं जिससे तीव्र ध्वनि उत्पन्न होती है। इसकी प्रतिध्वनि बादलों में होती है।

३०७. वर्षा की माप—वर्षा इंचों या मिलीमीटरों में नापते हैं। वृष्टिमापक यंत्र द्वारा किसी स्थान के एक मास के प्रत्येक दिन की वर्षा नापते हैं और महीने के सब दिनों की वर्षा जोड़कर मासिक वर्षा ज्ञात की जाती है। कुछ वर्षों तक उसी महीने की वर्षा ज्ञात करके उनको जोड़कर तथा वर्षों की संख्या से भाग देकर उस महीने की औसत मासिक वर्षा (Normal Monthly Temperature) ज्ञात की जाती है। इसी प्रकार बहुत से वर्षों की वर्षा निकालकर उस स्थान की औसत वार्षिक वर्षा (Mean Annual Rainfall) जानी जाती है। इन्हीं औसत वार्षिक वर्षा के आँकड़ों की सहायता से वृष्टिद्योतक मानचित्र (Rainfall Maps) बनाये जाते हैं।

३०८. वृष्टिद्योतक मानचित्रों का अध्ययन—जिन स्थानों पर एक समान वर्षा होती है उन्हें एक रेखा द्वारा मिला दिया जाता है। इन रेखाओं को समवृष्टि रेखायें

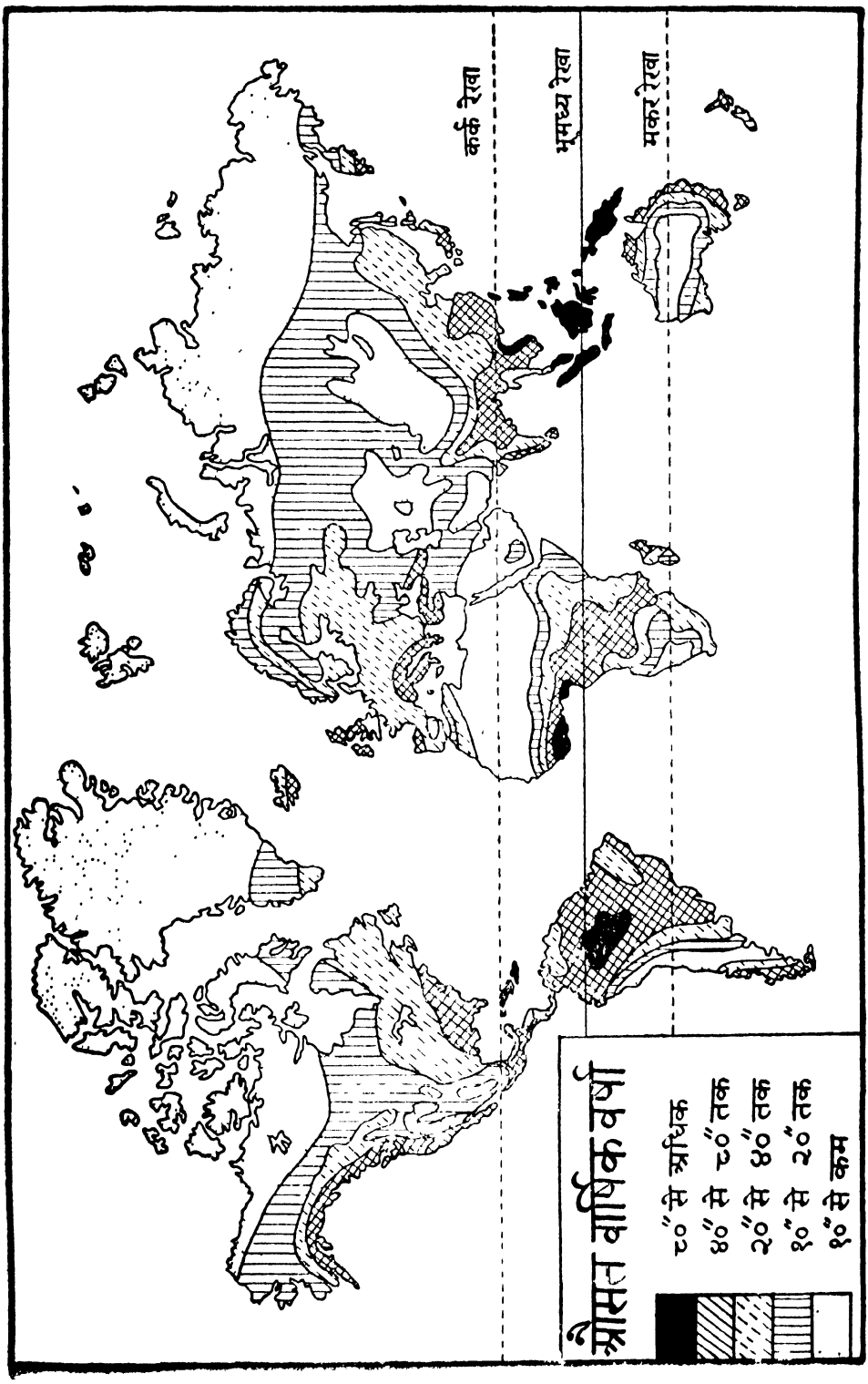

चित्र ६१.

(Isohyets) कहते हैं। इस प्रकार की समवृष्टिरेखाओं द्वारा वृष्टिद्योतक मानचित्र बनाये जाते हैं।

इन मानचित्रों के अध्ययन के समय हमें दो बातों का विशेष ध्यान रखना चाहिए—

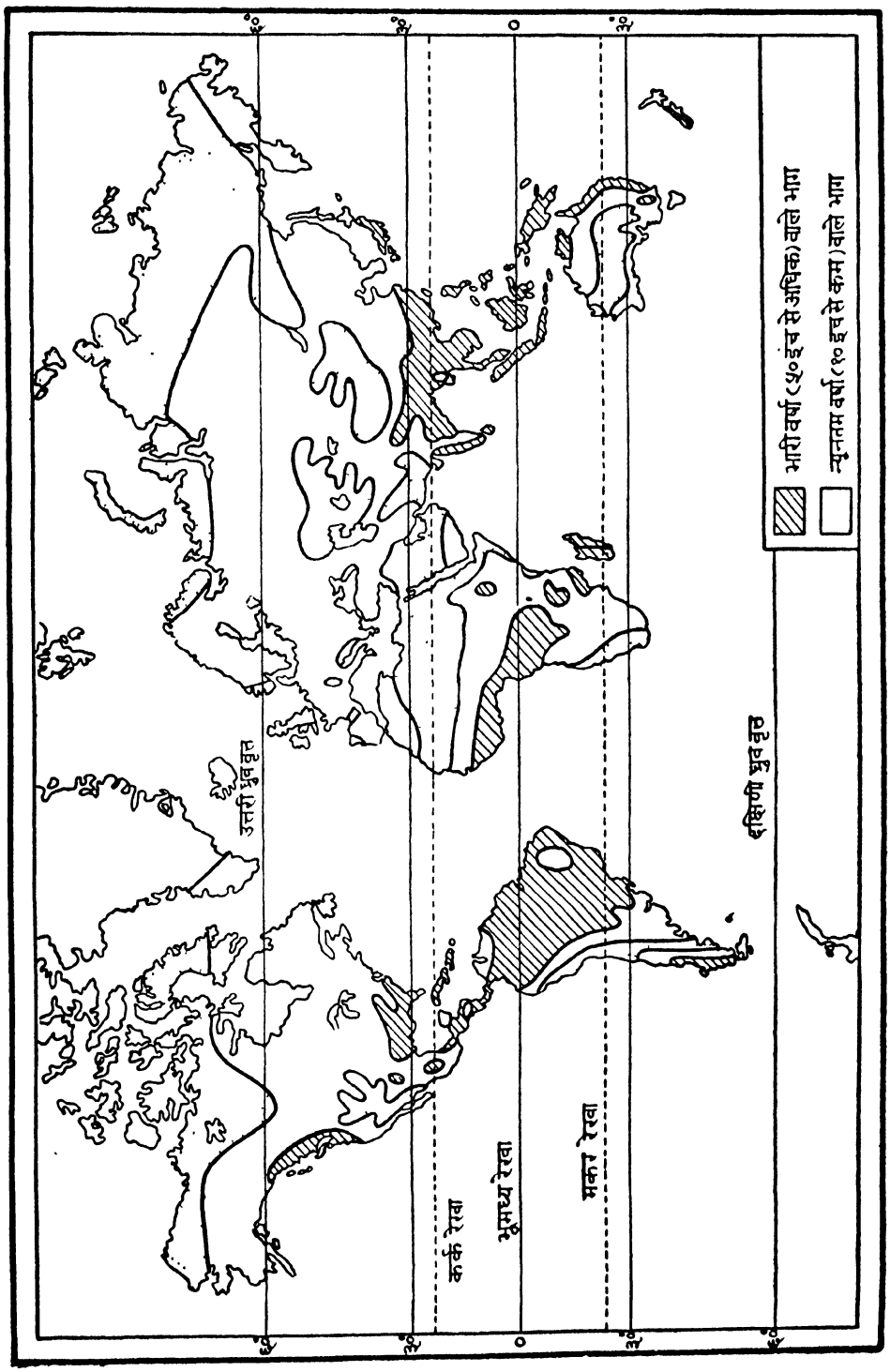

चित्र ६२. भारी या कम वर्षा वाले भाग।

(१) वर्षा को अधिक, मध्यम, अल्प और अत्यल्प भागों में विभक्त किया जाता

है। हमें देखना चाहिए कि वह स्थान इनमें से कौनसे विभाग में आता है। इन विभागों का सामान्य विभाजक नियम निम्न प्रकार है—

उष्ण कटिबन्ध में—

(क) ८०" से अधिक वर्षा को भारी वर्षा या अतिवृष्टि (Heavy Rainfall) कहते हैं।

(ख) ४०" से ८०" तक की वर्षा मध्यम वर्षा (Moderate Rainfall) है।

(ग) १५" से ४०" तक की वर्षा अल्पवृष्टि (Light Rain) है।

(घ) १५" से कम वर्षा अत्यल्पवृष्टि (Poor Rain) है। ऐसी वर्षा वाले भाग मरुस्थल हैं।

शीतोष्ण कटिबन्ध में—

(क) ४०" से अधिक वर्षा वाले भागों को अतिवृष्टि वाले विभाग मानते हैं।

(ख) २५" से ४०" तक वर्षा वाले प्रदेशों को मध्यमवृष्टि वाले विभाग कहते हैं।

(ग) ५" से २०" तक वर्षा को अल्पवृष्टि माना जाता है।

(घ) ५" से कम वर्षा को अत्यल्पवृष्टि माना जाता है। ऐसी वर्षा वाले भाग मरुस्थल हैं।

(२) दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि **वर्षा किस ऋतु में अधिक होती है।** हम जानते हैं कि खेती की उपज के लिए गरमी एक आवश्यक वस्तु है। अतः गरमी की ऋतु में वर्षा खेती की दृष्टि से अधिक लाभदायक है।

यदि हम वर्षा के नक्शों को देखें, तो पता चलता है कि संसार में सबसे अधिक वर्षा उष्ण कटिबन्ध में होती है। इसका कारण यह है कि उष्ण कटिबन्ध में गरमी अधिक पड़ने के कारण भाप अधिक बनती है। ध्रुवीय प्रदेशों में अधिक ठण्ड के कारण भाप कम बनती है। अतः यहाँ पर होने वाली हिमपात की मात्रा कम होती है। इस प्रकार हमें ज्ञात होता है कि वर्षा और वाष्पीभवन में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

भूमध्यरेखिक प्रदेशों में वाहनिक वर्षा होती है। इन भागों में वर्षा सूर्य के पीछे चलती है अर्थात् जब सूर्य सबसे अधिक ऊँचा चमकता है उसी समय वर्षा भी सबसे अधिक होती है और जब सूर्य नीचा होता है उस समय वर्षा सबसे कम होती है। भूमध्यरेखिक प्रदेशों में सूर्य की गति के अनुसार वर्ष में दो बार वर्षा ऋतु और दो बार शुष्क ऋतु होती है। चित्र ९३ में वाहनिक वर्षा का बड़ा सुन्दर चित्रण दिया है। इस प्रकार की वर्षा का सबसे अच्छा उदाहरण अफ्रीका महाद्वीप के मध्य भाग में मिलता है। यहाँ पर कांगो के मध्यवर्ती बेसिन और पूर्वी तट पर साल भर वर्षा

होती है। यहाँ से कुछ उत्तर और दक्षिण में जाने पर वर्ष में दो शुष्क ऋतुएँ होती हैं। धीरे-धीरे दो शुष्क ऋतुएँ ग़ायब हो जाती हैं और केवल एक लम्बी वर्षा ऋतु और एक शुष्क ऋतु रह जाती है।

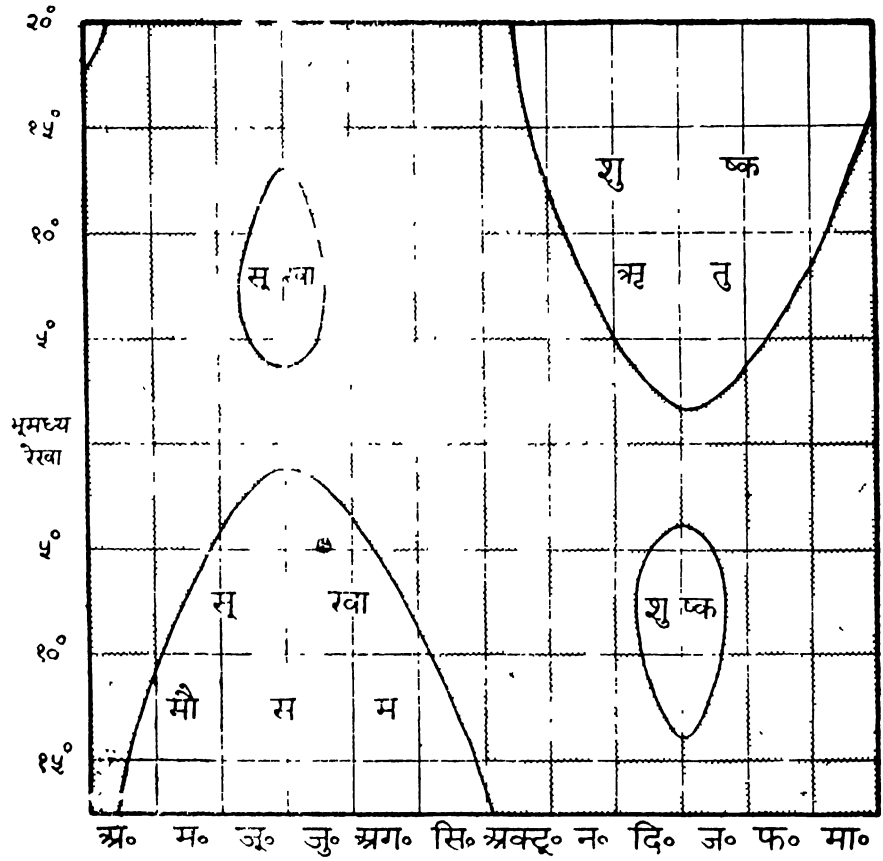

चित्र ६३. भूमध्यरेखिक प्रदेश की वर्षा।

उष्ण कटिबन्ध से बाहर वाहनिक वर्षा बहुत कम होती है। अतः वर्षा सूर्य के पीछे नहीं चलती, किन्तु मुख्यतया हवाओं की दिशा पर निर्भर रहती है। विश्व के कुछ भागों में ऋतुओं के अनुसार हवाओं की दिशा बदलती है और जिस ऋतु में हवाय समुद्र से स्थल की ओर चलती हैं उसी ऋत् में सबसे अधिक वर्षा होती है। इन भागों में पार्वत्य वर्षा होती है, अतः इन प्रदेशों में जो भाग पर्वतों के पवनाभिमुख (Windward) भाग में स्थित होते हैं वहाँ सबसे अधिक वर्षा होती है और पवनविमुख (Leeward side) में बहुत कम वर्षा होती है। यही कारण है कि संसार की सबसे अधिक वर्षा भारत के चेरापूंजी स्थान पर (४२४ इंच) और हवाई द्वीप के कौए द्वीप में (४७६ इंच) होती है।

३५° अक्षांश से आगे पछवा हवाओं का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। इन हवाओं के क्षेत्र में महाद्वीपों के पश्चिमी भाग अधिक वर्षा के प्रदेश हैं। पछवा हवायें शीत-

काल में महाद्वीपों के भीतरी भागों में प्रवेश नहीं कर पातीं क्योंकि इस ऋतु में भीतरी भागों में वायु के उच्चभार के क्षेत्र स्थापित हो जाते हैं । पछवा हवाओं के क्षेत्र में चक्रवातीय वर्षा होती है। चक्रवाती वर्षा का अधिक ज़ोर शीतकाल में होता है। यही कारण है कि इन भागों में जाड़े की ऋतु में सबसे अधिक वर्षा होती है। गरमी की ऋतु में झंझावात से वर्षा हुआ करती है।

तेईसवाँ अध्याय

वायु विक्षोभ और उनका मौसम पर प्रभाव

(The Minor Circulations of the Atmosphere and Associated Weather)

३०९. वायु विक्षोभ क्या हैं—अभी तक हमने वायुमण्डल में होने वाले परिवर्तनों के सामान्य रूपों पर विचार किया है। परन्तु पृथ्वी की विचित्र परिस्थितियों के कारण इन सामान्य रूपों में विशेष परिवर्तन होता रहता है । इन परिवर्तनों के कारण स्थान विशेष के मौसम पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है । अतः हमें इनका अध्ययन करना चाहिए। पिछले अध्यायों में हवाओं की प्रवाह-दिशा पर विचार किया जा चुका है। परन्तु हवा सदैव सीधी (एक ही दिशा की ओर नहीं) चलती। जिस प्रकार बहते जल में भँवर पड़ते हैं, उसी प्रकार हवा में भी भँवर या चक्कर पैदा हो जाते हैं। वायुप्रवाह का ऐसा भँवर बढ़ते-बढ़ते कभी-कभी भयंकर तूफ़ान या बवण्डर बन जाता है। उदाहरण के लिए, बंगाल की खाड़ी में काफी भयंकर तूफ़ान उठा करते हैं। ये तूफ़ान अनियमित रूप से चला करते हैं। इन तूफ़ानों की न कोई दिशा स्थिर होती है और न क्षेत्र निश्चित रहता है । ये असाधारण कारणों से अचानक उत्पन्न हो जाते हैं और चलने के उपयुक्त कारण उत्पन्न होते ही चल पड़ते हैं। परन्तु इनका प्रवाह असीमित नहीं होता। इनकी एक सीमा होती है। इसी सीमा के भीतर इनका उत्पात फैल जाता है। इनके साथ कभी-कभी जल या हिम की वर्षा होती है। इसके अतिरिक्त ये बवण्डर अपने साथ अपना विशेष प्रकार का तापक्रम ले जाते हैं और अपनी सीमा के भीतर वाले देशों के मौसम पर प्रभाव डालते हैं। इन बवण्डरों को चक्रवात (Cyclones) और प्रतिचक्रवात (Anti-cyclones) कहते हैं।

जब चक्रवात या प्रतिचक्रवात चलते हैं तो ऐसा मालूम पड़ता है मानो हवा एक केन्द्रीय धुरी के चारों ओर एक भँवर के रूप में नाच रही है। परन्तु दोनों के नाचने की दिशा में अन्तर होता है । चक्रवात में केन्द्र के पास न्यून वायुभार होता है और चारों ओर उच्चभार रहता है। अतः हवा का नाचता हुआ भँवर बाहर की हवा को भीतर की ओर ठेलता है। उत्तरी गोलार्द्ध में चक्रवात की हवायें घड़ी की सुइयों के प्रतिकूल दिशा में (Anti-clockwise) चलती हैं। इसके विपरीत प्रति-चक्रवात में केन्द्र के समीप उच्चभार रहता है जिससे हवा का नाचता हुआ भँवर केन्द्र के समीप की हवा को बाहर की ओर ठेलता है । इसमें हवा नाचने की दिशा उत्तरी गोलार्द्ध में घड़ी की सुइयों की चाल की तरह (Clockwise) रहती है।

दक्षिणी गोलार्द्ध में दोनों प्रकार के बवण्डरों के नाचने की दिशा उलटी हो जाती है।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात के सम्बन्ध में एक्सनर (Exner) नामक वैज्ञानिक का मत है कि ये अनियमित हवायें पृथ्वी के धरातल पर चलने वाली मुख्य हवाओं (व्यापारिक और पछवा हवाओं) के प्रवाह को स्थायी बनाये रखने में सहायक होती हैं। हम पढ़ चुके हैं कि भूमध्यरेखा के समीपस्थ प्रदेश की वायु सूर्य की गरमी से गरम होकर ऊपर उठती है। ऊपर उठी हुई वायु अधिक ऊँचाई पर पहुँचकर ठण्डी होती है और सिकुड़ने लगती है। इस सकोच से भार बढ़ता है और ऊपरी वायु नीचे उतरती है। नीचे उतरने पर यह वायु कर्क और मकर रेखाओं के पास पहुँच जाती है। इस प्रकार भूमध्यप्रदेश की वायु निरन्तर उत्तर और दक्षिण की ओर जाती रहती है। वायु की इस असमानता को दूर करने के लिए प्रकृति ने चक्रवात और प्रतिचक्रवात का प्रबन्ध कर रखा है। चक्रवात के पिछले भाग में और प्रतिचक्रवात के अगले भाग में हवायें भूमध्यरेखा की ओर चलती है। इसी प्रकार इन हवाओं द्वारा अन्य स्थानों पर भी भार की समानता होती रहती है।

चक्रवात और प्रतिचक्रवात दोनों ही उष्ण कटिबन्ध तथा शीतोष्ण कटिबन्ध में चला करते हैं। उष्ण कटिबन्ध के बवण्डर अधिकतर ग्रीष्म काल में चलते हैं। इसी ऋतु में यहाँ पर स्थल के उच्च तापक्रम और समुद्र के न्यून तापक्रम में सबसे अधिक अन्तर रहता है। परन्तु शीतोष्ण कटिबन्ध के तूफ़ान अधिकतर जाड़ों में उत्पन्न होते है क्योकि जाड़ों में हिमाच्छादित ग्रीनलैण्ड के न्यून तापक्रम और गल्फस्ट्रीम गरम धारा से प्रभावित अटलाण्टिक महासागर के उच्च तापक्रम में सबसे अधिक अन्तर रहता है। उष्ण कटिबन्ध की तूफ़ानी हवायें व्यापारिक हवाओं (Trade Winds) के क्षेत्र में उत्पन्न होती हैं। अतः वे पूर्व से पश्चिम की ओर चलती हैं। परन्तु शीतोष्ण कटिबन्ध में ये हवायें पछवा हवाओं के क्षेत्र में पैदा होती हैं। अतः इनका मार्ग पश्चिम से पूर्व की ओर जाता है।

शीतोष्ण कटिबन्ध के चक्रवात (Temperate Cyclones)

शीतोष्ण कटिबन्ध में चलने वाले चक्रवात बवण्डरों को गर्तचक्र या डिप्रैशन (Depression) कहा जाता है। इन डिप्रैशनों या गर्तचक्रों की उत्पत्ति के अनुसार कई भेद हो सकते हैं, यथा—

(क) सीमान्तजन्य (Frontal)।

(ख) तापज चक्रवात (Thermal)।

३१०. सीमान्तजन्य गर्तचक्र (Frontal Depression)—**जब दो विभिन्न प्रकार के तापक्रम वाली दो हवायें मिलती हैं, तो दोनों की मध्यवर्ती सीमा के पास कहीं अचानक न्यूनभार उत्पन्न होते ही गर्तचक्र का जन्म हो जाता है।**

इस गर्तचक्र या डिप्रेशन का विकास मुख्यतया न्यूनभार की कमावेशी पर ही निर्भर रहता है। यदि न्यूनभार तुरन्त ही समाप्त हो जाता है तो गर्तचक्र भी जन्मते ही मर जाता है। परन्तु यदि अनुकूल कारणों से न्यूनभार शीघ्र ही समाप्त न होकर बराबर कई दिनों तक बना रहता है और बढ़ता रहता है, तो फिर गर्तचक्र (डिप्रेशन) भी विकसित होकर स्थायी हवाओं के मार्ग पर चल पड़ता है।

३११. ध्रुवीय सीमान्त (Polar Front)—हम जानते हैं कि शीतोष्ण कटिबन्ध में ध्रुवीय प्रदेशों से ठण्डी हवायें उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिण की तरफ और दक्षिणी गोलार्द्ध में उत्तर की तरफ चलती हैं। इन हवाओं की प्रवाह-दिशा पृथ्वी के आवर्तन (Rotation) के कारण बदल जाया करती है। इन हवाओं के अतिरिक्त अयनरेखाओं (Tropics) के पास से गरम हवायें भी शीतोष्ण कटिबन्ध में चलती हैं। इन गरम हवाओं का प्रवाह ध्रुवों की ओर होता है, परन्तु आवर्तन के कारण इनका रुख उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिण-पश्चिम या पश्चिम से उत्तर-पूर्व या पूर्व की ओर हो जाता है। यदि पृथ्वी की परिस्थितियाँ सदैव एक समान बनी रहतीं, तो हवाओं की ये धारायें निरंतर निर्बाध गति से बहती रहतीं। इन दोनों प्रकार की हवाओं के बीच की सीमा को ध्रुवीय सीमान्त (Polar Front) कहते हैं। उत्तरी अटलाण्टिक महासागर में यह सीमा हिममण्डित ग्रीनलैण्ड की स्थिति के कारण कई अक्षांशों तक फैली हुई है। निरीक्षणों के आधार पर पता चला है कि यह सीमा सीधी नहीं होती, किन्तु लहरदार टेढ़ी-मेढ़ी होती है।

३१२. ध्रुवीय सीमान्त (Polar Front) **के लहरदार होने का कारण**—

(क) ध्रुवों की ओर से चलने वाली वायुधारा (Air Stream) ठण्डे धरातलों और हिमखण्डों से आच्छादित समुद्रों के ऊपर होकर आती है अतः काफी ठण्डी होती है। ज्योंही यह हवा अपेक्षाकृत कुछ गरम महासागरों पर पहुँचती है, वहाँ पर परिस्थितियाँ बदल जाती हैं। समुद्रतल के संसर्ग से इस वायुधारा का निचला भाग कुछ गरम हो जाता है और ऊपर की ओर फैलता है। इसी कारण **इस हवा का मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा या लहरदार हो जाता है।** समुद्रतल से ऊपर उठने वाली हवा अपने साथ भाप भी ले जाती है और ऊपर पहुँचने पर उनीले मेघ (Cumulus Clouds) आकाश में फैलने लगते हैं। अनुकूल स्थिति होने पर उनीली-कुंतल (Cumulo-limbus) मेघमाला छा जाती है और ध्रुवीय हवाओं से तेज़ बौछारों के रूप में वर्षा भी हो जाती है।

(ख) अयनरेखाओं की ओर से चलने वाली हवायें गरम अक्षांशों से ठण्डे अक्षांशों की तरफ आती हैं। ठण्डे अक्षांशों में आकर इन्हें ठण्डे स्थल अथवा समुद्र पर होकर जाना पड़ता है। अतः इनका निचला भाग धरातल के स्पर्श से ठण्डा हो जाता

है। ठण्डा भाग संकोच से भारी हो जाता है और हवा मज़बूती से आगे को बढ़ती है जिससे ध्रुवीय सीमा टेढ़ी-मेढ़ी हो जाती है।

गरम हवा का धरातलीय भाग ठण्डा होते रहने के कारण धरातल के पास कुहरा या धुन्ध-सी छायी रहती है। यदि इस हवा की गति अधिक तेज़ होती है, तो धुन्ध के स्थान पर परतीले बादल (Stratus) बहुत नीचे तक छा जाते हैं।

३१३. **गर्तचक्र (डिप्रेशन) की उत्पत्ति**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है ठण्डी हवा और गरम हवा के बीच की सीमा, जिसे ध्रुवीय सीमान्त (Polar Front) कहा जाता है, बहुत ही टेढ़ी-मेढ़ी और परिवर्तनशील होती है। दिये हुए चित्र में ध्रुवीय सीमान्त बिन्दुदार रेखा से दिखाई गई है। चित्र के 'क' भाग में सीमान्त के दोनों ओर समभार रेखायें हैं और तीर द्वारा हवाओं की प्रवाह-दिशा बतलाई

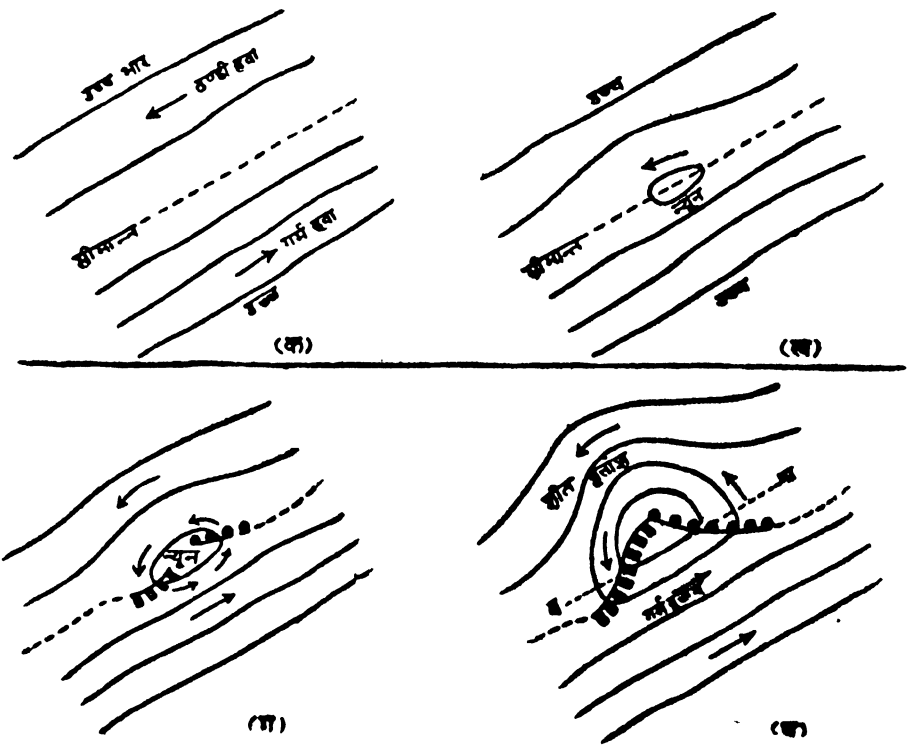

चित्र ९४. गर्तचक्र की उत्पत्ति।

गई है। अनुकूल परिस्थिति होने पर यदि सीमान्त के किसी भाग से कुछ हवा ऊपर की ओर उठ जाती है तो वहाँ निम्न भार बन जाता है। यह स्थिति चित्र 'ख' भाग में दिखाई गई है।

न्यूनभार चाहे जितना थोड़ा क्यों न हो कुछ-न-कुछ हवा उसकी पूर्ति के लिए दौड़ पड़ती है। हवा की दौड़ सीधी न्यूनभार की ओर नहीं होती। इस सम्बन्ध

में प्रो० बाइज बैलट नामक एक डच विद्वान् का बताया हुआ नियम याद रखना चाहिए। बाइज बैलट नियम इस प्रकार है—'यदि हम उत्तरी गोलार्द्ध में अपनी पीठ हवा की ओर करके खड़े हो जायँ, तो हमारे बायें हाथ की ओर न्यूनभार और दाहिने हाथ की ओर उच्चभार रहेगा। दक्षिणी गोलार्द्ध में इसका बिलकुल उलटा होगा।'

हवाओं के इस प्रकार दौड़ने पर न्यूनभार के पूर्वीय कोने पर दक्षिण की गरम हवा आगे बढ़कर उत्तर की ठण्डी हवा के ऊपर चढ़ जायगी। इस प्रकार न्यूनभार के पश्चिमी कोने पर उत्तर की ठण्डी हवा दक्षिण की गरम हवा को हटाकर ऊपर को ठेल देगी। यह स्थिति चित्र के 'ग' भाग में दिखाई गई है। इसमें सीमा कुछ टेढ़ी-मेढ़ी हो गई है।

हमें यहाँ यह बात साफ तौर से समझ लेनी चाहिए कि दोनों प्रकार की हवाओं की सीमा कोई दीवार जैसी चीज़ नहीं है जिसमें टेढ़ पड़ जाती हो। परन्तु यह सीमा तो एक सीमित क्षेत्र में फैला हुआ बैरोमीटर का ढाल मात्र है जिसका अन्तिम छोर पृथ्वी के उस भाग को छूता है जो बिन्दुदार रेखा द्वारा दिखाया गया है। इसलिए जहाँ कहीं पर भी बैरोमीटर के ढाल की अन्तिम सीमा होगी, वहीं पर सीमान्त समझा जायगा।

अस्तु, न्यूनभार के पूर्वी भाग पर गरम हवा ठण्डी हवा के ऊपर चढ़कर ठण्डी हवा के ऊपरी कुछ भाग को हटा देगी जिससे वहाँ पर भी भार कम हो जायगा। इस प्रकार धीरे-धीरे वायुभार पूर्व की ओर घटता जायगा, और न्यूनभार के बढ़ने पर हवायें अधिकाधिक वेग से चलने लगेंगी। कुछ काल बाद शीतोष्ण कटिबन्ध का गर्त-चक्र पूरे ज़ोर से चल पड़ेगा। पूर्ण विकसित डिप्रैशन या गर्तचक्र चित्र के 'घ' भाग में दिखाया गया है। सीमान्त ने वक्राकार होकर पूर्ण वृत्त को दो भागों में बाँट दिया है। उत्तर-पश्चिम के वृत्तांश (Sector) को शीत वृत्तांश (Cold Sector) कहते हैं क्योंकि इस भाग में ठण्डी हवायें चलती हैं। ठण्डी हवाओं की अन्तिम सीमा को शीत सीमान्त (Cold Front) कहते हैं। दक्षिण-पूर्व के वृत्तांश को गरम वृत्तांश (Warm Sector) कहते हैं क्योंकि इस भाग में दक्षिण से आई हुई गरम हवा चलती है। गरम हवा के अन्तिम छोर को गरम सीमान्त (Warm Front) कहते हैं।

३१४. गर्तचक्र में मौसम की दशा—जब गर्तचक्र आगे की ओर बढ़ता है तो अपने साथ विशेष प्रकार का मौसम ले जाता है। इस मौसम को समझने के लिए हमें पहले इसकी बनावट का अध्ययन कर लेना चाहिए। इसके बीचोंबीच न्यूनभार होता है। इस केन्द्र के उत्तर-पूर्व में गरम सीमान्त (Warm Front) है जहाँ पर

गरम हवा लगातार आगे बढ़कर ठण्डी हवा के ऊपर पहुँच रही है। गरम हवा समुद्रों पर होकर आती है जिससे उसमें काफी नमी होती है। इसके ऊपर चढ़ने के कारण निरन्तर घने बादल बनते रहते हैं और भारी वर्षा अथवा हिमपात होता है। गरम सीमान्त से उत्तर-पूर्व की ओर जितनी अधिक दूर जाते हैं, गरम हवा वहाँ उतनी ही कम मात्रा में पहुँच पाती है। अतः जैसा कि चित्र में दिखाया गया है गरम सीमान्त के पास कुंतल-परतीले (Nimbo-stratus) मेघ बनते हैं। इन बादलों से आगे ऊँचे-परतीले (Alto-stratus) बादल बनते हैं क्योंकि यहाँ पर गरम हवा पहले से कुछ अधिक ऊँचाई पर होती है। इससे आगे कुंज-परतीले (Cirro-stratus) और उनसे भी आगे कुंज (Cirrus) मेघ जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ते हैं।

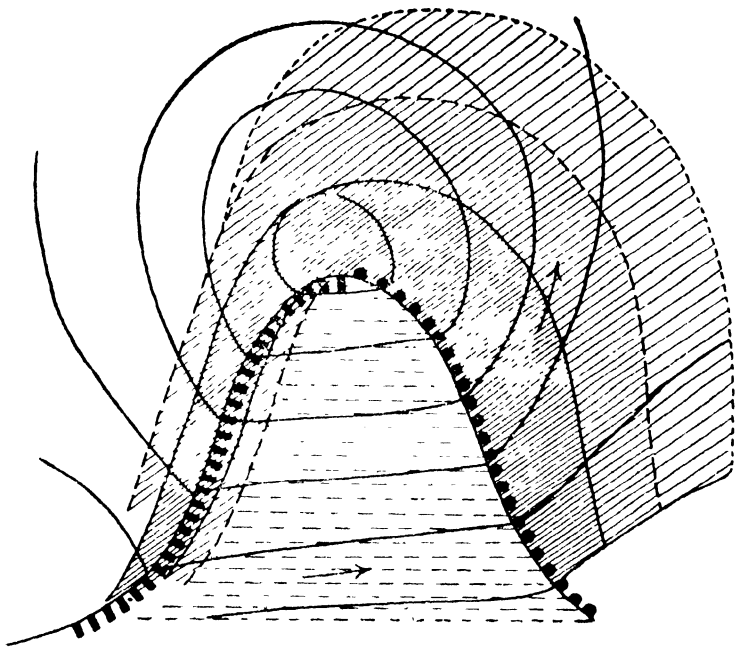

चित्र ९५.

पूर्ण विकसित गर्तचक्र। (बिन्दूदार भाग गरम वृत्तांश है)

अब ज़रा चित्र में दिये हुए शीत सीमान्त की ओर देखिये। यहाँ पर ठण्डी हवा आगे बढ़कर गरम हवा को ऊपर की तरफ ठेल देगी। स्पष्ट है कि इस भाग में भी बादल बनेंगे और वर्षा होगी। परन्तु इस ओर यह बादलों और वर्षा का क्षेत्र काफी संकुचित होगा। इस क्षेत्र में गरम हवा ठण्डी हवा से ठेली जाने के कारण बड़ी तेज़ी से ऊपर उठेगी जिससे उनीले-कुंतल मेघ (Cumulo-nimbus) बनेंगे और वर्षा काफी भारी होगी। संभवतया कभी-कभी ओले भी पड़ेंगे और बिजली की चमक तथा बादलों की कड़क भी होगी। स्पष्ट है कि ठण्डी हवा के चलने के कारण तापक्रम निरन्तर तेज़ी से गिरता जायगा।

यहाँ पर चित्र ९६ में गर्तचक्र के गरम वृत्तांश का पार्श्वदृश्य (Cross-Section) दिखाया गया है जो डिप्रेशन (चक्रवात) के मौसम का बड़ा अच्छा प्रदर्शन करता है। ठण्डी हवा के ऊपरी भाग पर गरम हवा के चढ़ने से वायुभार में कमी होने

लगेगी। और यह कमी गरम वृत्तांश तक बराबर बढ़ती जायगी। अतः जब कभी बैरोमीटर में निरन्तर गिरता हुआ पारा न्यून से न्यूनतर भार दिखाने लगे और सूर्य या चन्द्रमा

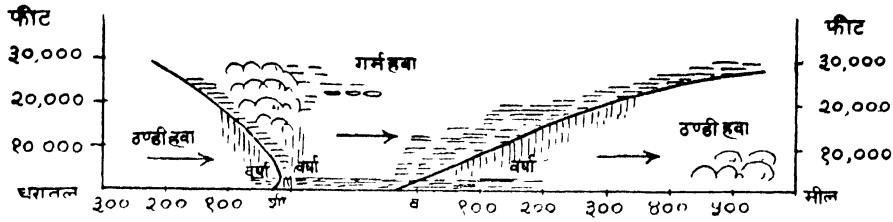

चित्र ९६. गरम वृत्तांश का पार्श्व दृश्य।

के चारों ओर आंशिक या पूर्ण किरीट (Halo) बन जाय (सूर्य या चन्द्रमा के चारों ओर किरीट बनने से यह प्रकट होता है कि क्षितिज के पार पश्चिम में कुंज परतीले बादल छा रहे हैं जिसके प्रकाश से प्रतिबिम्बित होकर किरीट के रूप में प्रकट हो रहा है) तथा हवा के बन्द होने से नालियों में बदबू आने लगे, तो समझ लीजिए कि चक्रवात आने ही वाला है। सबसे पहले आकाश में कुंज बादल (Cirrus) बहुत ऊँचाई पर (लगभग ३०,००० फीट पर) प्रकट होते हैं। समझ लीजिये कि चक्रवात का गरम सीमान्त (Warm Front) अभी ५०० मील से कम दूर नहीं है। कुछ ही घण्टों बाद आकाश में कुंतल परतीले बादल छा जाते हैं और सूर्य पूर्णतया बादलों में छिप जाता है। इसके बाद वर्षा प्रारम्भ होती है जो बूँदाबाँदी के रूप में शुरू होकर घनी झड़ी-सी लग जाती है। साथ-ही-साथ तेज़ हवा के झोंके भी चलते रहते हैं। इसी समय बैरोमीटर का पारा बराबर गिरता जाता है। गरम सीमान्त के पहुँच जाने पर पारे का गिरना रुक जाता है और वर्षा बन्द हो जाती है। आकाश साफ हो जाता है और मौसम सुहावना हो जाता है। मौसम सुहावना होते ही समझ लीजिये कि केन्द्र आ पहुँचा है। गरम वृत्ताँश के पार हो जाने तक मौसम साफ रहेगा। इसके बाद ही सर्दी यकायक बड़ी तेज़ी से बढ़ने लगती है, कपसीले बादल घने रूप में आकाश में छा जाते हैं और वर्षा की झड़ी लग जाती है। इस परिवर्तन से समझना चाहिए कि शीत सीमान्त आ पहुँचा है। इस वर्षा के साथ कभी-कभी ओले भी गिरते हैं तथा बिजली की कड़क और बादलों की गरज सुनाई पड़ती है। परन्तु यह वर्षा थोड़ी देर में ही समाप्त हो जायगी और बादल साफ होने लगेगा।

बादल किस प्रकार के बनेंगे, आकाश पर बादल खूब छा जायँगे या कम बादल होंगे, इन सब बातों की जानकारी के लिए हमें यह देखना पड़ेगा कि हवा किस मार्ग से बहकर आई है। यदि हवा गरम समुद्रों के ऊपर बहती हुई आई होगी, तो बादल खूब होंगे और वर्षा पर्याप्त होगी। परन्तु स्थल पर होकर आने वाली हवा इतनी प्रभावकारी न होगी। गरमी की ऋतु में स्थल की ताप से हवा गरम होकर ऊँची

उठेगी और उनीले बादल बनेंगे। परन्तु जाड़ों में गरम समुद्रों के प्रभाव से परतीले बादल छा जाते हैं।

३१५. गर्तचक्रों का आग बढ़ना—सीमान्तजन्य गर्तचक्र (Frontal Depressions) चाहे किसी भी दिशा की ओर बहें, परन्तु उस दिशा में पूर्व का पुट ज़रूर लगा रहता है। उत्तर या दक्षिण की ओर बढ़ते हुए चक्रवात भी कुछ-न-कुछ अंश पूर्व की ओर अवश्य झुकते हुए जायँगे। यदि ध्रुवीय सीमान्त (Polar Front) का रुख पश्चिम-पूर्व होता है, तो दक्षिण की गरम हवा आगे बढ़कर केन्द्र के पूर्व की ओर वायुभार को निरन्तर कम करती रहती है और गर्तचक्र का केन्द्र पूर्व की ओर बढ़ता चला जाता है। यह चक्रवात महाद्वीपीय भाग में काफ़ी दूर तक घुसा चला जाता है। परन्तु यदि सीमान्त का रुख़ कुछ उत्तर की ओर होता है, तो चक्र का केन्द्र अधिक आगे नहीं बढ़ पाता और दो-तीन दिन के बाद भार का अन्तर दूर हो जाता है और चक्रवात समाप्त हो जाता है। जिस सीमान्त का रुख़ कुछ दक्षिण की ओर होता है वह भी चक्रवात की गति को आगे की ओर ठेलने में सहायक होता है। भूमध्यसागरीय चक्रवात इसके उदाहरण है। जाड़ों में भूमध्यसागर के गरम जल से आने वाली हवा और ठण्डे यूरोप से आने वाली हवा के तापक्रम में पर्याप्त अन्तर होता है। फलतः भूमध्यसागर के उत्तर-पश्चिमी भाग से बनने वाले गर्तचक्रों का सीमान्त कुछ अंश में दक्षिणाभिमुख होता है। गरम भूमध्यसागर इसकी गति आगे बढ़ाने में सहायक होता है जिससे चक्रवात तुर्की, सीरिया, ईराक, ईरान आदि देशों में होते हुए पाकिस्तान और भारत तक पहुँच जाता है। हम जानते हैं कि पंजाब की गेहूँ की फसल इन चक्रवातों की कितनी ऋणी है।

चक्रवात हवाओं के आगे बढ़ने के लिए तथा उनके दीर्घ जीवन (बहुत दिनों तक चलते रहने) के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हें गरम और तर हवा निरन्तर मिलती रहे। यही कारण है कि जाड़ों में चक्रवात प्रायः समुद्रों पर होकर जाते हैं और महाद्वीपों के भीतरी भागों में बहुत ही कम घुस पाते हैं। यदि ये महाद्वीपों में भीतर चले भी जाते हैं, तो ऊँचे पर्वतों को लाँघ जाना इनके बूते से बाहर है। हाँ, पर्वतों के दर्रों में होकर ये देश के भीतरी भाग में पहुँच जाते हैं। कुछ चक्रवात प्रतिचक्रवात के इर्द-गिर्द घूम जाते है परन्तु उसके पास नहीं जा पाते।

३१६. गर्तचक्र का समाप्त होना (Occlusions)—सीमान्तजन्य गर्तचक्र (Frontal Depression) का जीवनकाल थोड़े दिन का ही होता है। पश्चिम की ओर से बढ़ती हुई ठण्डी हवा गरम हवा को हटाती जाती है और गरम वृत्तांश (Warm Sector) निरन्तर छोटा होता जाता है। कुछ काल बाद शीत सीमान्त (Cold Front) आगे बढ़ते-बढ़ते गरम सीमान्त (Warm Front)

से जा मिलता है और गर्तचक्र समाप्त हो जाता है। देखा गया है कि चक्रवात प्रायः लगभग ६ दिन के भीतर ही समाप्त हो जाता है। शीत सीमान्त के गरम सीमान्त से मिल जाने की अवस्था को संयुक्त सीमान्त (Occlusion) कहते है। सीमान्त मिलन (Occlusion) के तुरन्त बाद कुछ समय तक गरम हवा ठण्डी हवा के ऊपर मँडराती है जिससे संयुक्त सीमान्त (Occluded Front) के समीप वर्षा हो जाती है। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि संयुक्त सीमान्त के दोनों ओर तापक्रम में भी कुछ अन्तर रहता है। वास्तव में संयुक्त सीमान्त के पूर्व की ओर की ठण्डी हवा के तापक्रम और उसके पश्चिमी भाग की हवा के तापक्रम में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य रहता है। इसका कारण यह है कि संयुक्त सीमान्त के पश्चिम की हवा बहुत दूर से बहकर आती है। यही कारण है कि किसी देश में होकर संयुक्त सीमान्त के गुज़रने पर तापक्रम में दो या तीन अंश (Degrees) का फर्क पड़ जाता है।

३१७. अप्रधान गर्तचक्र की उत्पत्ति (Secondary Depression)—कभी-कभी ऐसा होता है कि प्रधान गर्तचक्र के शीत सीमान्त (Cold Front) पर किसी स्थान पर न्यूनभार उत्पन्न हो जाता है। इस न्यूनभार के आसपास दूसरा अप्रधान वायुचक्र बन जाता है जिसे अप्रधान गर्तचक्र (Secondary) कहते है। **चित्र** न० १०२ में इस अप्रधान चक्र की उत्पत्ति समझाई गई है। चित्र में प्रधान गर्तचक्र (Main Depression) आंशिक रूप से संयुक्त (Occluded) हो पाया है। इतने ही में शीत सीमान्त में लघुभार की टेढ़ या लहर उत्पन्न हो गई है। इसी टेढ़ से बढ़ते-बढ़ते अप्रधान वायुचक्र (Secondary) बन जायगा। इसके पूर्ण विकसित हो जाने पर प्रधान गर्तचक्र (Primary Depression) समाप्त हो जायगा। कभी-कभी इस पहले अप्रधान वायुचक्र के पीछे कई और छोटे-छोटे चक्र बन जाते हैं। इन छोटे-छोटे अप्रधान चक्रों (Secondary) की पंक्ति अटलाण्टिक महासागर में देखी जा सकती है। ऐसे अप्रधान वायुचक्र भूमध्यसागर के दक्षिण में जाकर मोरक्को आदि देशों में वर्षा कर देते हैं।

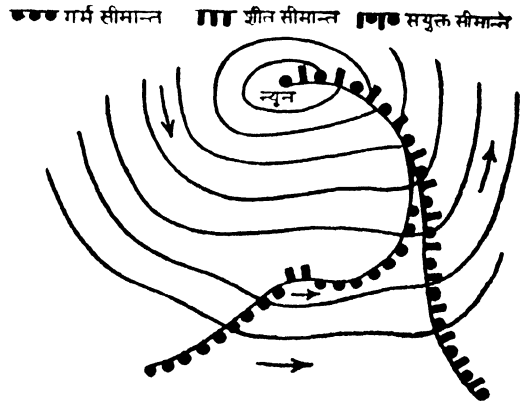

चित्र ९७. अप्रधान गर्तचक्र की उत्पत्ति।

३१८. तापज चक्रवात (Thermal Depression)—जब सूर्य ताप की तेज़ी से धरातल का कोई भाग अधिक गरम हो जाता है, तो वहाँ पर वायुभार (Pressure) घट जाता है और उस न्यूनभार (Low) के चारों ओर वायुभार

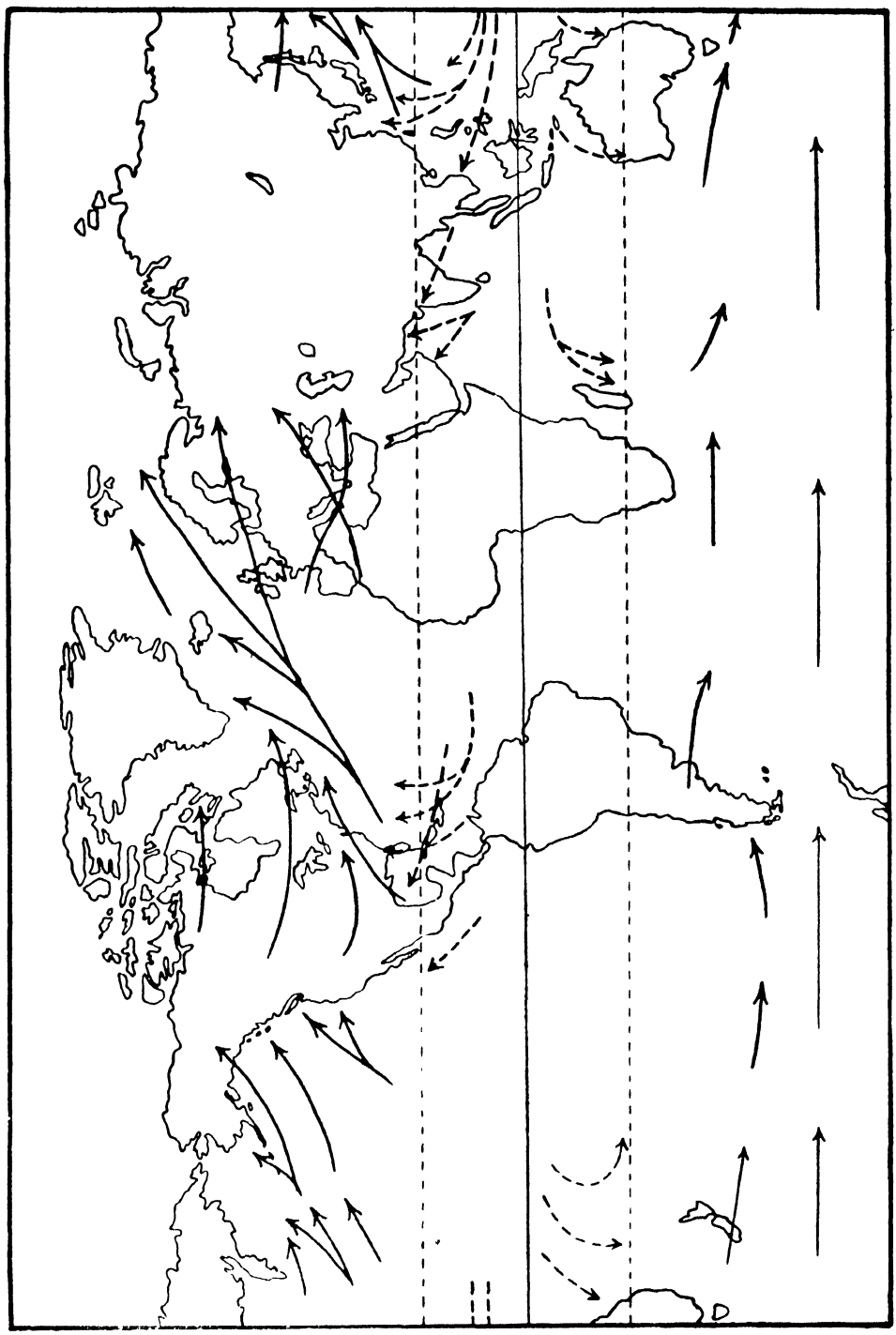

चित्र ६८. गर्तचक्रों का मार्ग।

अधिक होता है । फलतः समभाररेखाओं (Isobars) की आकृति अण्डाकार हो जाती है। ऐसा होने पर चारों ओर से हवायें न्यूनभार की ओर दौड़ पड़ती हैं और चक्रवात बन जाता है। ऐसे बवण्डर को तापज चक्रवात कहते हैं। हम जानते हैं कि आइबेरिया प्रायद्वीप (Iberia) चारों ओर समुद्र से घिरा है। गरमी की

ऋतु में इस प्रायद्वीप का तापक्रम आसपास के समुद्रों से कुछ अधिक रहता है जिससे गर्मियों में यहाँ तापज चक्रवात उत्पन्न हो जाते हैं। ऐसे ही चक्रवात संयुक्त राज्य (U. S. A.) के दक्षिण-पश्चिमी भाग में बनते हैं और पूर्व की ओर चल पड़ते हैं। इनके चलने से खेती को बहुत हानि होती है क्योंकि ये हवायें गरम और सूखी होती हैं। जब ये अंधड़ मैक्सिको की खाड़ी से नमी प्राप्त कर लेते है तो फिर सीमान्तजन्य गर्तचक्र बन जाते हैं और वर्षा कर देते हैं।

३१९. **उष्णकटिबन्धीय चक्रवात या साइक्लोन** (Tropicl Cyclones)—उष्णकटिबन्ध के चक्रवातों में अधिकांश ऐसे होते है जो गरमी की अधिकता से उत्पन्न होते हैं। कुछ विद्वानों की सम्मति है कि ये तूफ़ान भी दो विभिन्न तापक्रम वाली हवाओं की सीमा पर उत्पन्न होते है, भले ही यह सीमा कितनी भी अस्पष्ट क्यों न हो। इन दो प्रकार की हवाओं में से एक महाद्वीप से चलती है, तो दूसरी महासागर से चलती है। दोनों के बीच की सीमा महाद्वीपों के समीप ही समुद्रों में होती है। अतः ये तूफ़ान समुद्रों में ही पैदा होते है। ग्रीष्म ऋतु में भूमध्यरेखिक न्यूनभार की पेटी या डोलड्रम अधिक उत्तर की ओर खिसक आती है। डोलड्रम के उत्तरी छोर पर लगभग ६° और १५° अक्षांशों के बीच में इन तूफ़ानों की उत्पत्ति होती है। इस भाग में धरातल पर हवा का बहाव बहुत कम होता है और आकाश में बादल भी नहीं छाये रहते। अतः इस भाग में कहीं पर भी गरमी की अधिकता से न्यूनभार उत्पन्न होजाता है। न्यूनभार के चारों ओर वायुभार समान रूप से बढ़ता जाता है। इसीलिए चक्रवात की समभार रेखायें केन्द्रीय न्यूनभार के चारों ओर प्रायः संकेन्द्रीय वृत (Concentric Circles) बनाती हैं। उष्णकटिबन्धीय चक्रवात का आकार प्रायः बहुत छोटा होता है। ऐसे तूफ़ानों का व्यास अधिक-से-अधिक २०० मील लम्बा होता है। बहुत से तूफ़ानों का व्यास तो केवल ३० मील देखा गया है।

उष्णकटिबन्धीय चक्रवात पश्चिम की ओर ध्रुवों की ओर बढ़ते है। इनकी साधारण चाल १०-१५ मील प्रति घण्टा होती है। ज्योंही ये तूफ़ान स्थल पर पहुँचते है त्योंही इनकी शक्ति नष्ट हो जाती है और ये धीमी गति से चलते हुए वर्षा करते जाते हैं। परन्तु जल पर चलने वाले चक्रवात बड़े प्रलयंकारी होते हैं, इसलिए इन तूफ़ानों की विनाशलीला समुद्र तटों के पास अथवा द्वीपों में ही अधिक होती है। इन तूफ़ानों के कारण पेड़ उखड़कर गिर पड़ते हैं और धन-जन की अपार हानि होती है। किन्तु इससे भी अधिक हानि समुद्री लहरों द्वारा होती है। आँधियों के कारण समुद्र में बहुत ऊँची लहरें उठती है जो महानाश का कारण बन जाती है। एक बार समुद्र की ऊँची लहर ने बंगाल में एक लाख से भी अधिक लोगों के प्राण हर लिए।

३२०. **उष्णकटिबन्धीय चक्रवातों की विशेषतायें**—(१) भमध्यरेखा और

१५° अक्षांश रेखाओं के बीच में ये आँधियाँ पश्चिम की ओर चलती हैं।

(२) १५° और ३०° अक्षांश रेखाओं के बीच में इनके चलने का मार्ग अनिश्चित रहता है परन्तु प्रायः उत्तरी गोलार्द्ध में उत्तर की तरफ और दक्षिणी गोलार्द्ध में दक्षिण की तरफ चलती है।

(३) ३०° अक्षांश रेखाओं से आगे बढ़ने पर इनका रुख पश्चिम की तरफ होजाता है।

३२१. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात के प्रधान क्षेत्र—(१) पश्चिमी द्वीपसमूह के समीप जो तूफ़ान विकसित होते हैं वे फ्लोरिड़ा प्रायद्वीप तथा संयुक्त राज्य (U. S. A.) के दक्षिणी तट को प्रभावित करते हैं। इन्हें हरीकेन आँधियाँ कहते हैं।

(२) एशिया में फिलिपाइन्स द्वीपसमूह के समीप से जो आँधियाँ चलती हैं उन्हें टाइफून कहते हैं। टाइफून आँधियाँ चीन के तट और जापान के दक्षिणी तट को प्रभावित करती हैं।

(३) बंगाल की खाड़ी और अरबसागर से चलने वाले तूफ़ान भारतीय तट पर उत्पात मचाते हैं। इनको साइक्लोन के नाम से पुकारा जाता है।

(४) अफ्रीका में मैड़ागास्कर के पूर्वी तट से प्रारम्भ होकर ये तूफ़ान अफ्रीका के पूर्वी तट को प्रभावित करते हैं।

(५) साइक्लोन आँधियाँ आस्ट्रेलिया के उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी तटों पर चलती हैं।

३२२. उष्णकटिबन्धीय चक्रवात और मौसम—इस तूफ़ान के केन्द्र में न्यून-भार के भाग को तूफ़ान की आँख (Eye of the storm) कहते हैं। इस आँख के चारों ओर भार का परिवर्तन (बैरोमीटर का ढाल) अधिक होता है। यही कारण है कि यद्यपि तूफ़ान आगे की ओर मन्थर गति से बढ़ता है परन्तु तूफ़ान के अन्दर हवायें बड़े ज़ोर से चलती हैं। न्यूनभार कभी-कभी ९०० मिली बार ही रह जाता है। तूफ़ान के आने पर मूसलाधार वर्षा होती है, बिजली कौंधती है और बादल खूब गरजते हैं। साथ-ही-साथ ज़ोरदार अंधड़ भी चलता है। तूफ़ान की आँख के आते ही वर्षा बन्द हो जाती है और आकाश खुल जाता है। इस आँख का व्यास प्रायः १० से २० मील तक होता है। आँख के आगे बढ़ जाने पर फिर वर्षा होती है परन्तु वह जल्दी ही बीत जाती है।

३२३. प्रतिचक्रवात (Anticyclones)—जब कभी वृत्ताकार या अण्डाकार समभाररेखायें एक उच्चभार (H. P.) के क्षेत्र को चारों ओर से घेर लेती हैं तो प्रतिचक्रवात बन जाया करता है। प्रतिचक्रवात चक्रवात का उल्टा होता है। इस प्रकार के बवण्डर में हवायें उच्चभार के केन्द्र से चारों ओर को दौड़ती हैं। केन्द्र से बाहर की

ओर जाने वाली हवाओं का रुख बाइज बैलट के नियम के अनुसार हो जाता है।

३२४. **प्रतिचक्रवात और मौसम**—प्रतिचक्रवात के क्षेत्र में तेज़ हवायें प्राय कभी नहीं चलती और मौसम भी सुहावना रहता है। ग्रीष्म ऋतु में प्रतिचक्रवात का मौसम सुहावना होता है, परन्तु जाड़ों में प्राय: कुहरा पड़ता है। रात के समय विकिरण द्वारा निकली हुई गरमी हवा में पहुँचकर कुहरा पैदा कर देती है। यह कुहरा सूर्योदय के कई घण्टे बाद तक और कभी-कभी ठण्डे देशों में दिन भर छाया रहता है। गरम और सूखे प्रतिचक्रवात के पश्चिमी भाग म ठण्डी भूमि के स्पर्श से कुहरा बन जाता है। यही कुहरा ऊँचा उठकर बादल बन जाते हैं। यह बादल काफी नीचे रहते हैं जिससे अँधेरा-सा छाया रहता है।

कुछ अर्द्धस्थायी प्रतिचक्रवात

३२५. (क) **ठण्डे प्रतिचक्रवात**—जिन भूभागों में अत्यधिक ठण्ड पड़ती है वहाँ पर ठण्ड के कारण वायुभार बढ़ जाता है। यह स्थिति सायबेरिया में तथा जाड़े की ऋतु में मध्य एशिया में उत्पन्न हो जाया करती है। इस उच्चभार के चारों ओर प्रतिचक्रवात बन जाता है जो बहुत दिनों तक स्थायी-सा रहता है।

(ख) **गरम-शुष्क प्रतिचक्रवात**—हम पहले कह आये हैं कि अयनरेखाओं के समीप हवा ऊपर से नीचे को उतरती रहती है। यह नीचे उतरने वाली हवा नीचे आकर गरम और सूखी होजाती है तथा इन भागों का वायुभार बढ़ा देती है। इन गरम भागों में भी उच्चभार होने से प्रतिचक्रवात उत्पन्न हो जाया करते हैं जो अर्द्धस्थायी होते है।

चौबीसवाँ अध्याय

जलवायु के अनुसार पृथ्वी के विभाग

(Climatic Regions of the World)

३२६. जलवायु विभाग—यदि हम संसार के तापक्रम तथा हवा और वर्षा के मानचित्रों को ध्यान से देखें तो हमें मालूम पड़ेगा कि संसार के बहुत से भाग ऐसे हैं जिनका जलवायु लगभग एक-सा है। ऐसे सभी भागों को, जिनका जलवायु एक समान है, एक जलवायु-विभाग (Climatic Region) कहते हैं। संसार के समस्त देशों को इस प्रकार के ११ मुख्य जलवायु-विभागों में बाँटा जाता है—

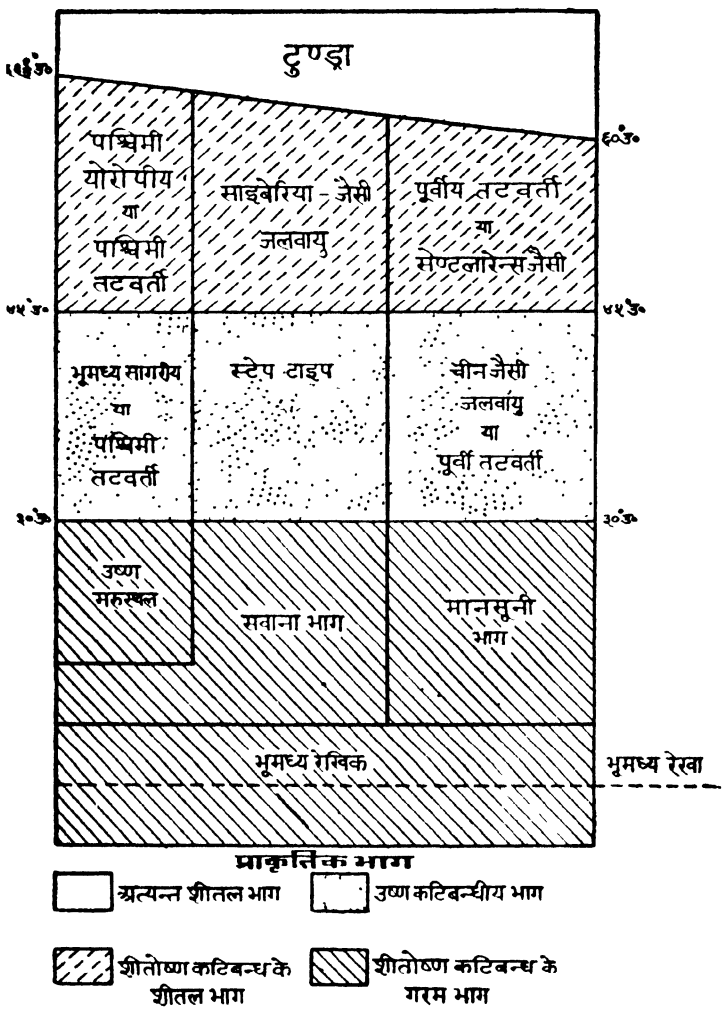

चित्र ९९.

(क) अधिकतम उष्ण प्रदेशों में (In the Hot Belt)—

(१) भूमध्यरेखीय अथवा उष्ण आर्द्र जलवायु (Equatorial or Hot Wet Climate)।

(२) उष्णकटिबन्ध के मध्यवर्तीय अथवा सूडान का जलवायु (Tropical Interior or Sudan Type)।

(३) उष्णकटिबन्ध के पूर्वीय विभाग या मानसूनी जलवायु (Tropical Eastern margin)।

(४) उष्ण मरुस्थल (Hot Deserts)।

(ख) शीतोष्ण कटिबन्ध के उष्ण प्रदेशों में (In the Warm Temperate Belt) :—

(५) भूमध्यसागरीय जलवायु (Mediterranean type) या महाद्वीपों के पश्चिमी तटवर्ती।

(६) महाद्वीपों के मध्यवर्ती या स्टेप्स-जैसे जलवायु (Steppe type)।

(७) महाद्वीपों के पूर्वीय तटवर्ती या चीन-जैसी जलवायु (Eastern margin)।

(ग) शीतोष्ण कटिबन्ध के समशीतोष्ण भागो में (In the cool Temperate Belt) :—

(८) पश्चिमी तटवर्ती या पश्चिमी यूरोप के समान जलवायु (West Europe type)।

(९) मध्यवर्ती या साइबेरियन टाइप (Siberian type)।

(१०) पूर्वीय तटवर्ती या सेण्ट लारेन्स-जैसा जलवायु। (St. Lawrence type)।

(घ) अति शीतल भागो मे (In the Cold Belt) :—

(११) टुण्ड्रा के प्रकार का जलवायु (Tundra type)।

(१२) हिममण्डित प्रदेश (Ice caps)।

३२७. अधिकतम उष्ण प्रदेशों की विशेषता—उष्ण कटिबन्ध का विस्तार अयनरेखाओ तक माना जाता है, परन्तु उष्ण प्रदेश लगभग ७०° फा० वार्षिक समतापरेखा तक फैले हुए है। यह समतापरेखा प्राय: ३०° उत्तरी और ३०° दक्षिणी अक्षाश रेखाओ के ऊपर होकर जाती है, अत: उष्ण प्रदेश का विस्तार भी ३०° उत्तरी और दक्षिणी अक्षांश रेखायें ही मानना चाहिए। इस विभाग में पृथ्वी का आधे से अधिक धरातल आ जाता है। इस विभाग के तीन-चौथाई धरातल पर समुद्र का राज्य है और एक-चौथाई भाग पर स्थल है। दक्षिणी

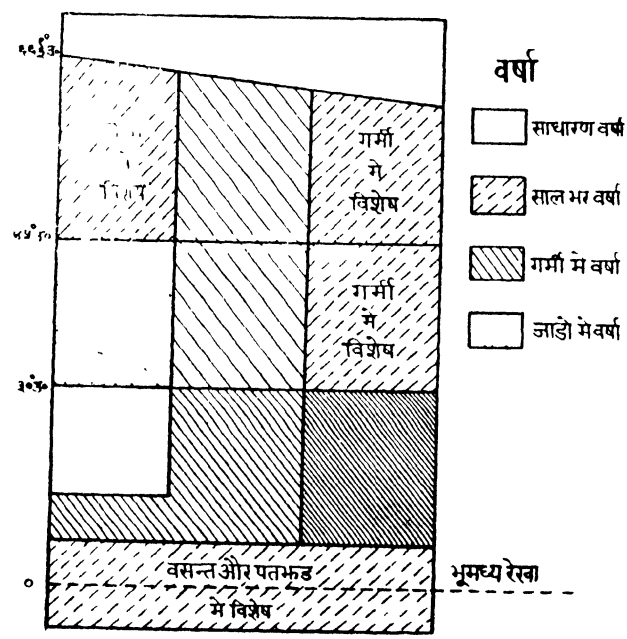

चित्र १००. वर्षा।

अमेरिका और अफ्रीका के अतिरिक्त अन्य भागों की स्थिति समुद्र के समीप है। सामुद्रिक समीपता के कारण उष्ण प्रदेशों की जलवायु लगभग एक समान ही रहती है। इसी कारण इस विभाग के निवासी अति प्राचीन काल से मल्लाह रहे हैं। जैसा कि हम पढ़ चुके हैं इस विभाग में सूर्य क्षितिज से बहुत ऊँचा रहता है। अतः यहाँ गरमी खूब रहती है। अकेला सूर्य ही इस विभाग की जलवायु को नियन्त्रित करता है। वर्षा भी सूर्य के साथ-साथ ही चलती है। वर्ष में दो बार सूर्यताप सबसे अधिक होता है और उसी समय वर्षा भी सबसे अधिक होती है। अयनरेखाओं से बाहर वर्षा केवल गरमी में ही होती है। खेती की दृष्टि से यह विभाग अत्यन्त उपयोगी है, परन्तु इन भागों की पूर्णतया उन्नति नहीं हो पाई है। इसका कारण यह है कि श्वेत जातियों ने इस विभाग के बहुत से भागों पर अधिकार जमा रखा है और वे नहीं चाहते कि इन भागों का काला मनुष्य उन्नति करके उनकी बराबरी करे।

३२८. शीतोष्ण कटिबन्ध के उष्ण भागों की विशेषता—इस विभाग का विस्तार प्रायः ३०° और ४५° अक्षांशों के बीच में है। इन विभागों में व्यापारिक हवायें और पछवा हवायें बारी-बारी से चलती हैं। गरमी की ऋतु में इस विभाग में व्यापारिक हवायें चलती हैं जो पूर्वीय तटवर्ती भागों में तो जल-वर्षा कर देती हैं, परन्तु पश्चिमी तटवर्ती भाग सूखे रह जाते हैं। जाड़ों की ऋतु में हवाओं की पेटी खिसक जाती है और इन भागों में पछवा हवायें चल पड़ती हैं जो पश्चिमी तटवर्ती भागों में वर्षा करती हैं। पश्चिमी तटवर्ती भागों पर इस प्रकार केवल जाड़ों में वर्षा होती है और गरमी के दिन गरम और सूखे बीतते हैं। इस प्रकार की जलवायु भूमध्यसागरीय कहलाती है।

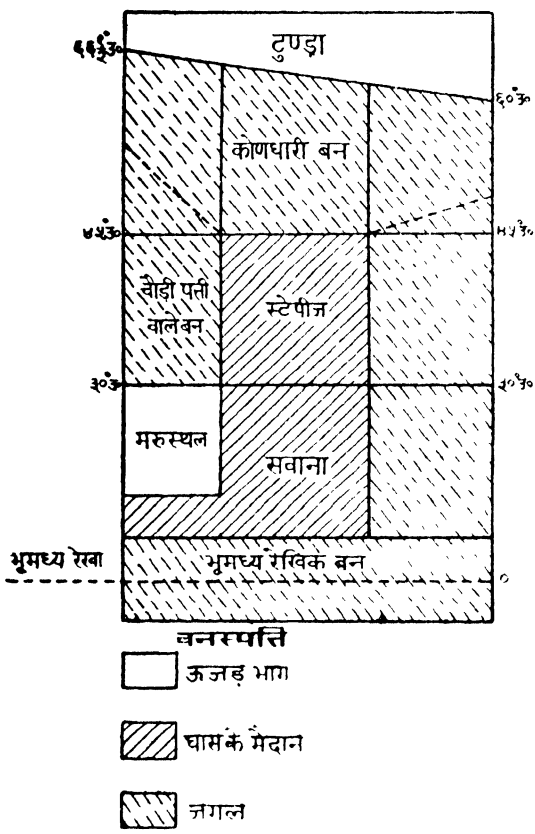

चित्र १०१.

३२९. समशीतोष्ण भागों की विशेषता—समशीतोष्ण भाग मोटे तौर से ४५° और ६६½° अक्षांशों के बीच में स्थित है। इन भागों में पछवा हवायें चलती हैं, अतः महाद्वीपों के पश्चिमी तटवर्ती

भागों में अच्छी वर्षा होती है। यह वर्षा साल भर होती रहती है। किन्तु महाद्वीपों के भीतरी भागों में वर्षा का हाल बदल जाता है। जाड़े की ऋतु में महाद्वीपों के भीतरी भागों में उच्च वायुभार स्थापित हो जाने से भीतर की ओर वर्षा करने वाली हवायें नहीं जा पातीं। भीतरी भागों में केवल गरमी में ही वर्षा हो पाती है। इन विभागों में साइक्लोन या चक्रवात हवायें जलवायु पर विशेष प्रभाव डालती हैं। इन हवाओं के कारण मौसम के बारे में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता। जिस प्रकार अत्युष्ण प्रदेशों में जलवायु पर सूर्य का प्रभाव स्पष्ट रहता है उसी प्रकार इन भागों में समुद्र का प्रभाव विशेष महत्त्वपूर्ण है। जो देश समुद्र के समीप होते हैं उनमें तापक्रम सम रहता है। इसके विपरीत समुद्र से दूरस्थ भागों की विषम जलवायु वर्णनातीत होती है। जाड़ों में इतना भयंकर शीत होता है कि यहीं पर संसार का सबसे ठण्डा स्थान होता है। मध्यवर्ती भाग की जलवायु साइबेरिया-जैसी जलवायु कही जा सकती है। इन भागों में तापान्तर सबसे अधिक होता है। साइबेरिया में बरखोयान्स्क का तापान्तर १२०° फा० (६०° फा० से ६०° फा० तक) होता है।

(१) अधिकतम उष्ण प्रदेश (Hot Belt)

३३०. स्थिति—यह विभाग भूमध्यरेखा के दोनों ओर लगभग ५° उ० अ० से ५° द० अ० तक फैला हुआ है। भूमध्यरेखा अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका में होकर

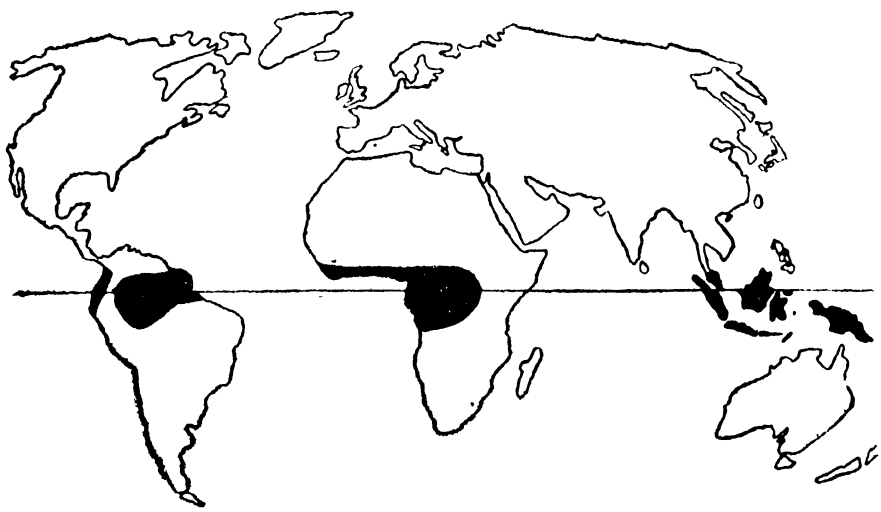

चित्र १०२. अधिकतम उष्ण प्रदेश।

जाती है, अतः ऐसी जलवायु मुख्यतः इन्हीं दोनों महाद्वीपों में पाई जाती है। अमेजन बेसिन, काँगो बेसिन और गिनी-तट तथा पूर्वी द्वीपसमूह और दक्षिणी मलाया में ऐसी जलवायु मिलती है।

३३१. जलवायु—इस विभाग में सूर्य लगभग साल भर सिर के ऊपर चमकता है जिससे यहाँ वर्ष भर तापक्रम ८०° फा० के आसपास ही रहता है। वर्षा और बादलों

के कारण तापक्रम ८०° फा० से अधिक नहीं जा पाता। वार्षिक तापान्तर ५° फा० के लगभग रहता है। परन्तु दैनिक तापान्तर १५° से २५° तक हो जाता है। इस भाग की जलवायु उष्ण और आर्द्र रहने के कारण यहाँ के निवासियों को साधारण ठण्ड भी अधिक मालूम होती है। पूरे वर्ष भर लगभग एक-सा तापक्रम रहने के कारण कहा जाता है कि रात के समय ही यहाँ पर जाड़े की ऋतु होती है।

यहाँ पर सदा भारी वाहनिक वर्षा होती है। सूर्य की गरमी से दोपहर तक निरन्तर हवा गरम होकर ऊपर उठती है। ऊपर पहुँचकर हवा ठण्डी हो जाती है और वर्षा कर देती है। वर्षा प्रायः दोपहर के बाद ही हुआ करती है। यद्यपि वर्षा प्रतिदिन सालभर तक होती रहती है, तथापि वर्ष में दो बार जब सूर्य की किरणें सीधी सिर पर चमकती हैं, वर्षा कुछ अधिक मात्रा में होती है। यह विशेष वर्षा मार्च और सितम्बर के महीनों में होती है। औसत वार्षिक वर्षा लगभग ८०" होती है, परन्तु कहीं-कहीं पर १००" से भी अधिक वर्षा होती है। वर्षा के साथ बिजली की चमक और बादलों की गर्जन भी बहुत अधिक होती है।

इस भाग में दिन और रात लगभग १२-१२ घण्टे के होते हैं तथा उषाकाल अथवा गोधूलि वेला का प्रकाश (Twilight) बहुत ही थोड़ी देर के लिए होता है। वायु में आर्द्रता (नमी) लगभग ८० प्रतिशत होती है, जिससे यहाँ पर ऊमस बहुत रहती है। इस भाग के ऊँचे पठारो अथवा पर्वतीय भागों की जलवायु स्वास्थ्य के अनुकूल होती है। उदाहरण के लिए भूमध्यरेखा पर स्थित क्विटो नगर समुद्रतल से ९,००० फीट ऊँचा है। अतः यहाँ पर वर्ष भर वसन्त ऋतु रहती है। क्विटो का तापक्रम ५५° फा० है और वार्षिक तापान्तर भी १° फा० से कम ही रहता है। परन्तु दिन और रात के तापक्रम मे ४०° फा० तक का अन्तर भी हो जाया करता है।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	तापक्रम जौलाई फा०	तापक्रम जनवरी फा०	वार्षिक तापान्तर	वर्षिक वर्षा
सिंगापुर	१० फीट	८१	७८·३	३·२	७२·९"
पारा	१० फीट	७८·१	७७ ७	२·७	८६·७"
क्विटो	९,३५० फीट	५४·९	५४·२	·७	४२·८"
बगोटा	८,७३० फीट	५७·६	५६·२	१·४	७३·४"

३३२. वनस्पति—गरमी और वर्षा की अधिकता के कारण इन भागों में

विस्तृत घने जंगल भरे पड़े है। अमेजन नदी के बेसिन में इन घने जंगलों को सैल्वा (Selvas) कहते हैं। इन जंगलों की विशेषता यह है कि यहाँ के पेड़ बहुत ऊँचे होते हैं और उनके ऊपर छतरी की तरह शाखाओं और पत्तियों का जाल छाया रहता है। पत्तों का जाल इतना घना होता है कि सूर्य का प्रकाश पत्तियों से छनकर पृथ्वी तक नही पहुँच पाता। प्रकाश पाने के लिए पेड़ बहुत ऊँचे हो जाते हैं। पेड़ों की ऊँचाई १०० फीट से २०० फीट तक होती है। इन जंगलों के पेड इतने घने होते हैं कि आँधी से टूटे हुए पेड़ भी नीचे नहीं गिर पाते। किन्तु अव्यवस्थित रूप में दूसरे पेड़ों के सहारे लटके रहते हैं। ऊपर के मरे हुए पक्षी भी ऊपर ही पड़े रहते हैं। पेड़ों को शाखाओं पर जहाँ कहीं आँधी से उडकर मिटटी जमा हो जाती है वहीं पर दूसरे पेड़ उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार धरातल पर निरन्तर अँधेरा छाया रहता है। कॉगो के बेसिन में जंगल इतने घने नहीं है। वहाँ पर जहाँ कहीं घने वनों के बीच में कुछ खुला स्थान है वहीं पर अनेक प्रकार के छोटे-छोटे पेड़-पौधे उग आते है। इन जंगलों को भूमध्य-रेखिक वन या उष्ण आर्द्र वन कहा जाता है। इन वनों में पेड़ों पर हज़ारों तरह की बेलें चढ़ जाती है जिससे बेलें और शाखायें एक दूसरे से बुरी तरह गुथी रहती है। पेड़ों की पत्तियाँ चौड़ी और कोमल होती है ताकि उनकी नमी भाप बनकर उड़ती रहे। ये पेड़ वर्षपर्यन्त पानी मिलते रहने के कारण सदा हरे-भरे रहते हैं।

भूमध्यरेखिक वनों में सबसे बड़ा दुर्गुण यह है कि एक जाति के पेड़ एक स्थान पर समूह में नहीं मिलते। एक एकड़ भूमि पर सैकड़ों प्रकार के पेड़ मिलते है, परन्तु एक जाति के पेड़ एक या दो से अधिक नहीं होंगे। इसी दोष के कारण ये वन आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयोगी नही है। इन वनो में दूसरी कठिनाई यह है कि इनके भीतरी भागों में मार्ग बना लेना सम्भव नहीं है। यातायात की कठिनाई के कारण अमेजन बेसिन के रबर के वृक्षों से पूरा फ़ायदा नहीं उठाया जा सका है। घने जंगलों के बाहरी पेड़ों से ही रबर प्राप्त किया जाता रहा है। यहाँ के पेड़ों में रबर, गटापार्चा, महोगनी, चन्दन, सिनकोना, केला और दूसरे प्रकार के ताड़ वृक्ष बहुत उपयोगी हैं। इन बनों की लकड़ी दृढ़ और मूल्यवान् होती है।

३३३. पशु—इन सघन वनों में हाथी जैसे विशालकाय पशु केवल वहीं पाये जाते हैं जहाँ पर जंगल कुछ खुला है। यहाँ के जानवर अधिकतर वृक्षों पर रहते है। रंग-बिरंगी तितलियाँ, भौंरे, चिड़ियाँ, भाँति-भाँति के बन्दर, लंगूर और गोरिला, मेंढक तथा छिपकली आदि यहाँ के मुख्य जानवर है। दलदली स्थानों पर कीड़े-मकोड़े, मच्छर, साँप, अजगर आदि रेंगने वाले जानवर पैदा हो जाते हैं। नदियों में मगर आदि बहुत भरे रहते हैं।

३३४. आर्थिक परिस्थिति—इन वनों में दो प्रकार की आर्थिक परिस्थितियाँ पाई जाती हैं—

(१) अमेजन और काँगो के बेसिनों मे घने जंगलों में रबर और हाथीदाँत एकत्र करते हैं तथा जंगलों के खुले भागों में अथवा उनके अन्तिम छोर पर पेड़ों को काटकर खेती की जाती है। इन खेतों में चावल, गन्ना, मक्का, ताड़, कोको, कहवा तथा केला पैदा किया जाता है।

(२) पूर्वी द्वीपसमूह तथा दक्षिणी मलाया में जंगलों को काटकर साफ़ कर दिया गया है और वहाँ गर्म क्षेत्रों की फसलें उगाते है। इन पौधों में रबर, टेपिओका (Tapioca), गन्ना, नारियल और कहवा आदि पैदा किया जाता है।

(२) उष्णकटिबन्ध के मध्यवर्तीय अथवा सूडान टाइप

३३५. स्थिति—यह प्रदेश उष्ण आर्द्र प्रदेशों के दोनों तरफ ५° और २०° अक्षांशों के बीच में फैले हैं और प्रायः महाद्वीपों के मध्य भाग में स्थित हैं। सूडान, जेम्बिजी नदी की ऊपरी घाटी, ओरोरिको की घाटी, ब्राजील का मध्यभाग और पश्चिमी आस्ट्रेलिया का उत्तरी भाग इस विभाग मे सम्मिलित है।

३३६. जलवायु—इन प्रदेशों की जलवायु प्रायः सालभर गरम रहती है। किसी भी महीने का तापक्रम ६८° फा० से कम नही रहता। वार्षिक तापान्तर भी केवल १०° से ३०° फा० तक रहता है। गरमी की ऋतु में यहाँ पर कड़ी गरमी पड़ती है। गरमी के महीनों का औसत तापक्रम ८०° से ९०° फा० तक रहता है। जाड़ों में भी तापक्रम ७०° फा० के लगभग रहता है।

इस विभाग में वर्षा एक समान नहीं होती। भूमध्यरेखा के समीप अधिक वर्षा (४०" तक) होती है। परन्तु उत्तर या दक्षिण की ओर वर्षा घटती जाती है और मरुस्थलों तक आते-आते १०"-१५" ही रह जाती है। वर्षा केवल गर्मियों में होती है, जाड़े की ऋतु सूखी ही बीतती है। इस विभाग में प्रत्येक स्थान पर एक साथ गरमी नहीं आती, किन्तु अक्षांशों के साथ-साथ गरमी की अवधि में अन्तर होता जाता है। इसी कारण यहाँ पर वर्षा का कोई भरोसा नहीं। कभी-कभी तो बिना वर्षा के कई वर्ष बीत जाते हैं और देश में अकाल पड़ जाता है।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	सबसे गरम महीने का तापक्रम	सबसे ठण्डे महीने का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
टिम्बकटू	८२° फीट	९५° फी०	७२° फा०	२३° फा०	९ इंच

३३७ वनस्पति—इन प्रदेशों में वर्षा केवल गरमी की ऋतु में होती है। यह वर्षा मूसलाधार होती है जिससे पानी तुरन्त ही बह जाता है तथा कड़ी गरमी के कारण पानी भाप बनकर उड़ता रहता है। इन्हीं कारणों से धरती में प्रवेश करने के

लिए थोड़ा-सा जल बच रहता है। जाड़ों में वह भी नहीं मिल पाता। फलतः यहाँ पर केवल घास ही उग सकती है। अस्तु, इन प्रदेशों में ऊँची-ऊँची घास तथा बीच-बीच में इक्के-दुक्के पेड़ उत्पन्न हो जाते हैं। घास की ऊँचाई ५ फीट से १० फीट तक होती है। सूखा के समय जब घास सूख जाती है तो ये पेड़ ही वनस्पति-विहीन मैदान में हरे-भरे नज़र आते हैं। ये पेड़ भूमध्यरेखा की तरफ अधिक घने होते है और घास भी अधिक लम्बी होती है। घास के स्थानों को बहुत से स्थानीय नामों से पुकारा जाता है। अफ्रीका में इन्हें सवाना, ओरोनिको की घाटी में लानोज और दक्षिणी ब्राज़ील में कैम्पाज के नाम से पुकारते हैं।

३३८. पशु—यहाँ घास खाने वाले जानवर जैसे हिरन, बारहसिंगा, नीलगाय, जेबरा, जिराफ़ आदि पाये जाते है तथा इन जानवरों का माँस खाने वाले शेर, चीते, तेंदुए, लकड़बग्घे आदि हिंसक जानवर पाये जाते हैं।

३३९. आर्थिक परिस्थिति—इस विभाग के अविकसित भागों में पशुपालन या शिकार मारना मुख्य धन्धा है। अर्द्ध विकसित भागों में पशुपालन तथा खेती होती है। इन खेतों में ज्वार, बाजरा, मक्का, मूँगफली, तिल, तम्बाकू, खजूर आदि पैदा होते हैं। सूडान, पूर्वी अफ्रीका और रोडेशिया जैसे विकसित भागों में सिंचाई का प्रबन्ध करके कपास, गन्ना आदि चीज़ें पैदा करते हैं।

(३) उष्णकटिबन्ध के पूर्वी भाग या मानसून टाइप

३४०. स्थिति—व्यापारिक या ट्रेड हवाओं की पेटी में महाद्वीपों के पूर्वी भाग

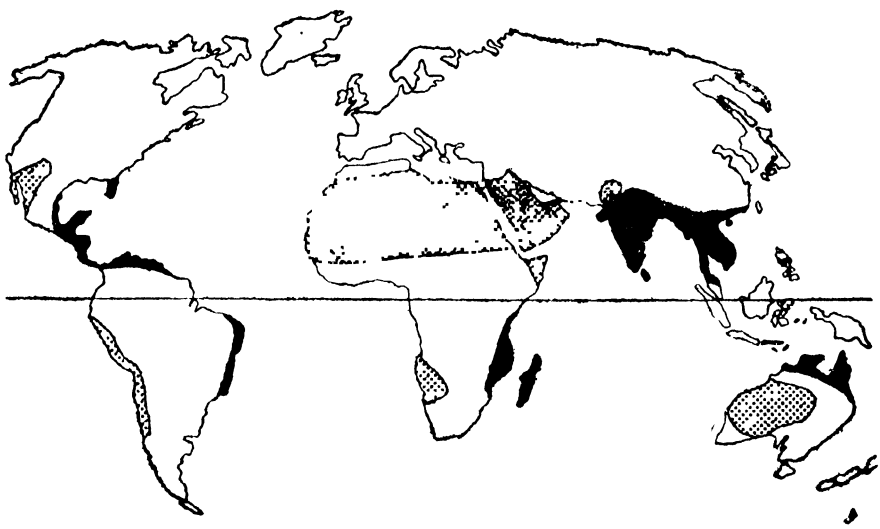

चित्र १०३. उष्णकटिबन्ध के मानसूनी और मरुस्थल प्रदेश। काले भाग मानसूनी प्रदेश हैं। इन्हीं अक्षांशों में मरुस्थल प्रदेश बिन्दुदार दिखाये गये हैं।

मानसूनी कहलाते हैं। भारत उपमहाद्वीप, इण्डोचीन प्रायद्वीप, दक्षिणी चीन, मध्य अमेरिका, कोलम्बिया और वेनेज़ुला का उत्तरी तट, पश्चिमी द्वीपसमूह, ब्राज़ील का

पूर्वी तट, मेडागास्कर और आस्ट्रेलिया का उत्तरी भाग मानसूनी जलवायु वाले देश है। यद्यपि चीन और जापान में भी मानसूनी हवाओं से ही वर्षा होती है, किन्तु ये देश इस जलवायु-विभाग में शामिल नहीं किये जाते क्योंकि एक तो ये देश उष्ण-कटिबन्ध से बाहर हैं और दूसरे इनमें सर्दी बड़ी कडाके की पड़ती है।

३४१. जलवायु—मानसूनी देशों में ग्रीष्म ऋतु में तेज़ गरमी पड़ती है। गरमी में औसत तापक्रम ८८° से ९०° फा० तक रहता है। पश्चिमी पाकिस्तान के जेकोबाबाद नगर में तापक्रम १२६° फा० तक पहुँच जाता है। जाडों में यहाँ मामूली जाड़ा पड़ता है, परन्तु देश के भीतरी भागों में तापान्तर अधिक बढ़ जाता है। वर्षा यहाँ गर्मियों में होती है। जैसा कि पहले मानसून हवाओं के वर्णन में कह आये हैं यहाँ ग्रीष्म ऋतु में स्थल के भीतरी भाग पर गरमी के कारण न्यूभार स्थापित हो जाता है। इसीलिए समुद्र की ओर से भाप से लदी हवायें चल पड़ती हैं जो वर्षा कर देती हैं। जाड़ों में स्थल पर वायुभार अधिक हो जाता है। अतः मानसून हवायें स्थल से जल की ओर चलती हैं और जाडे सूखे बीत जाते हैं। कहीं-कहीं जाड़े का मानसून समुद्र पर होता हुआ पहुँचता है और वर्षा कर देता है। मद्रास के पूर्वी तट, श्रीलंका, अनाम और फिलिपाइन्स में इसी प्रकार वर्षा होती है। कभी-कभी उष्ण-कटिबन्धीय चक्रवात (Tropical Cyclone) अराकान तट या मलाबार तट पर वर्षा करता है।

असली मानसूनी देशों में साल में तीन ऋतुयें होती हैं—ग्रीष्म ऋतु, वर्षा ऋतु और शीत ऋतु। ग्रीष्म ऋतु मार्च से जून तक रहती है। अप्रैल या मई और कहीं-कहीं पर जून भी सबसे गरम महीना होता है। जून के अन्त में वर्षा अचानक प्रारम्भ हो जाती है और वर्षा के बाद तापक्रम काफी कम हो जाता है। वर्षा ऋतु सितम्बर या अक्टूबर तक रहती है। सालभर की ८५ प्रतिशत वर्षा इसी ऋतु में हो चुकती है। अक्टूबर से मार्च तक जाड़े की ऋतु होती है।

वर्षा की मात्रा मुख्यतः धरती के उभार (Relief) और वायु की दिशा पर निर्भर होती है। जहाँ हवा को पर्वतों पर ढ़ना पड़ता है वहाँ अधिक वर्षा होती है। मैदानों में कम वर्षा होती है। उदाहरण के लिए चेरापूंजी में ५००" वर्षा वर्षा ऋतु में होती है परन्तु कलकत्ता में ६५" वर्षा होती है। इसी प्रकार भार से लदी हवा देश में जितनी भीतर घुसती है वर्षा की मात्रा उतनी ही कम होती जाती है, शिमला में ८०" वर्षा होती है किन्तु देश के भीतरी नगर लाहौर में केवल १८" वर्षा ही होती है।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	अधिकतम तापक्रम फा०	न्यूनतम तापक्रम	तापान्तर	वार्षिक वर्षा
बम्बई	३७ फीट	८५°	७५°	१०°	७४·१"
देहली	७१८ फीट	९२	५८	३४°	२७·८"
हाँगकाँग	१०८ फीट	८२°	५९°	२३°	८५·१"

३४२. वनस्पति—मानसूनी देशों में वर्षा और गरमी की, अधिकता वाले उन भागों में, जहाँ वर्षा ८०" से ज़्यादा होती है, सदा हरे रहने वाले वन पाये जाते हैं। ४०" से ८०" तक की वर्षा वाले भागों में मानसूनी जंगल ह। मानसूनी वनों में बड़े उपयोगी पेड़ हैं जिनका काटना आसान है और उनकी लकड़ी भी बहुत मज़बूत होती है। उन पेड़ों में सागौन, देवदारु और सीसम बहुत प्रसिद्ध हैं। बाँस भी बहुत होते हैं। २०" से ४०" वर्षा वाले भागों में घास और काँटेदार पेड़ होते हैं। काँटेदार पेड़ों में बबूल बहुत उपयोगी पेड़ है। २०" से कम वर्षा वाले भागों में केवल कँटीली झाड़ियाँ होती हैं।

३४३. पशु—यहाँ पर लगभग वह सभी पशु पाये जाते हैं जो सूडान टाइप में होते है। हिमालय पहाड़ का याक पशु तथा ब्रह्मा और स्याम (थाई देश) के हाथी अधिक प्रसिद्ध हैं।

३४४. आर्थिक परिस्थिति—मानसूनी जलवायु सरदी, गरमी और वर्षा की विभिन्नताओं का ऐसा विचित्र सम्मि ण उपस्थित करती है जिसकी समता नहीं हो सकती। भारतीय विद्वानों ने भारत में छः ऋतुयें मानी थीं। वर्षा भी कहीं कम और कहीं अधिक होती है। तापक्रम और वर्षा के इस विचित्र सम्मेलन के कारण यहाँ अनेकों प्रकार की फसलें पैदा होती हैं। यह जलवायु खेती के लिए सर्वोत्तम है। इसलिए यहाँ साल में दो और कहीं-कही पर तीन फसलें होती है। जिन स्थानों पर पानी की कमी मालूम पड़ी वहीं पर सिंचाई का प्रबन्ध किया गया है। भारत और मध्य अमेरिका में सिंचाई का सुन्दर प्रबन्ध है। यहाँ सिंचाई की योजनाओं के लिए करोड़ों रुपये खर्च होते हैं। इन भागों की अधिकांश जनता खेती करती है। चावल, जूट, तिलहन और चाय मानसूनी देशों की मुख्य उपज है। अधिक वर्षा में गन्ना होता है और सूखे भागों में गेहूँ और कपास पैदा होते हैं। यही कारण है कि संसार की लगभग आधी जनसंख्या एशिया के मानसूनी देशों में पाई जाती है।

इन देशों में बहुमूल्य खनिज भी मिलते है जिनका धीरे-धीरे विकास हो रहा

है। भारत देश में औद्योगिक उन्नति की दौड़ भी जारी हैं और निकट भविष्य में यह उच्चकोटि का औद्योगिक देश बन जायगा।

(४) उष्ण मरुस्थल (Hot Deserts)

३४५. स्थिति—उष्ण मरुस्थलीय भाग महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में २०° और ३०° अक्षांशों के बीच में पाये जाते हैं। मरुस्थलों का विस्तार देश की प्राकृतिक दशा पर निर्भर है। जहाँ पर महाद्वीपों का विस्तार कम है अथवा पर्वतश्रेणियाँ पश्चिमी तट के समानान्तर चली गई है, वहाँ पर मरुस्थल का क्षेत्र भी कम है और उनका विस्तार उत्तर-दक्षिण है। परन्तु जहाँ महाद्वीपों का विस्तार अधिक है वहाँ मरुस्थल का विस्तार भी अधिक हो गया है। ऐसे भाग थार, अरब, सहारा, कालाहारी, अरीजोना और कोलोरेडो, अटाकामा तथा पश्चिमी आस्ट्रेलिया हैं।

३४६. मरुस्थली जलवायु के कारण—(१) ये भाग ट्रेड हवाओं की पेटी में हैं जो ठण्डे अक्षांशों से गरम अक्षांशों की ओर चलती है अतः सूखी है। (२) हवाओं की पेटियों के खिसकने के फलस्वरूप भूमध्यरेखिक न्यूनभार अधिक-से-अधिक २०° उत्तर या दक्षिण तक पहुँचता है। दूसरी वर्षा लाने वाली पछवा हवाओं की पेटी भी जाड़ों में ३०° अक्षांश से नीचे नहीं जाती। अतः यह भाग सूखे रह जाते हैं। (३) इन भागों में हवायें ऊपर से नीचे की ओर आती हैं जो सूखी होती हैं। (४) २०° और ३०° अक्षांशों में महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में ठण्डी धारायें बहती हैं जो वर्षा के अनुकूल नहीं होतीं।

३४७. जलवायु—संक्षेप में यहाँ की जलवायु शुष्क और विषम है। यहाँ बादल शायद ही कभी होते हों। सालभर सूर्य तेज़ी से चमकता है। गरमी की ऋतु में यहाँ संसार भर में सबसे अधिक गरमी पड़ती है। यहाँ गरमी का औसत तापक्रम ९०° फा० से अधिक ही रहता है। मरुस्थलों में पानी की कमी होने से भाप बनाने में गरमी खर्च नहीं होती। अतः यहाँ ९ बजे से ही असह्य गरमी पड़ने लगती है। दोपहर से ३ बजे तक धरती से ऐसी गरम लपटें निकलती हैं जैसे गरम भाड़ से निकला करती हैं। गरम रेत में आप मज़े में चने भून सकते है। दिन का अधिकतम तापक्रम १२०° या १३०° फा० हो जाता है। रात के समय हवा इतनी स्थिर हो जाती है कि दिये की लौ भी नहीं हिल सकती। तापक्रम बड़ी जल्दी गिरने लगता है। रात का तापक्रम ७०° फा० तक पहुँच जाता है। इस प्रकार यहाँ पर दैनिक तापान्तर बहुत अधिक होता है। गरमी में भी आधी रात के समय ठण्ड के कारण लोगों की कँपकँपी बँध जाया करती है। दिन में दहकते हुए सूर्य से अपनी रक्षा करने के लिए इन भागों की सड़कें तंग और टेढ़ी-मेढ़ी होती हैं। उत्तरी अफ्रीका के कई शहरों में बाज़ारों की सड़कें ऊपर छत बनाकर पाट दी जाती हैं। दिन की भयानक गरमी के

कारण यहाँ पर धूल की आँधियाँ चला करती हैं। गरमी से हवा गरम हो जाती है और साथ में धूल भी उड़ा ले जाती है। यही न्यूनभार की आँधी बन जाती है। जाड़ों में यहाँ काफी ठण्ड रहती है। गरमी और जाड़ों के तापक्रम में ६०° फा० का अन्तर रहता है।

मरुस्थलों में वर्षा का प्रायः अभाव रहता है। दक्षिणी अमेरिका के इक्तिवे नगर में ½ इंच वर्षा होती है। सहारा की वर्षा का औसत ५" है। किसी भी मरुस्थल पर १०" से अधिक वर्षा नहीं होती है।

३४८. वनस्पति—यहाँ पर कहीं-कहीं कँटीली झाड़ियाँ होती हैं। जहाँ कहीं भूमि के नीचे पानी एकत्र होता है वहाँ नखलिस्तान बन जाते हैं जिसमें खजूर आदि पेड़ पैदा हो जाते हैं। इस भूमिगत पानी को आर्टिजन कुएँ खोदकर निकाला जाता है। यहाँ पर ऊँट, भेड़, बकरी आदि पशु पाले जाते हैं और अरब देश के घोड़े भी प्रसिद्ध हैं।

३४९. आर्थिक परिस्थिति—मरुस्थलों में मानव-जीवन कठिनाइयों से परिपूर्ण है, अतः यहाँ पर जनसंख्या बहुत कम है। शुष्क जलवायु होने के कारण यहाँ के लोग बड़े मज़बूत होते हैं। रेतीली धरती और धूलभरी आँधियों के कारण यहाँ पर सड़कें और रेलें भी नहीं बन सकतीं। यहाँ के निवासियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—

(१) कुछ पुराने असभ्य लोग खानाबदोश हैं। ये लोग शिकार करके, लूट पाट करके तथा काफ़िले लादकर जीवन निर्वाह करते हैं। इनमें कालाहारी के बुशमैन और अरब के बद्दू मुख्य हैं।

(२) नखलिस्तानों और मरुस्थलों के अन्तिम छोर पर स्थायी घर बनाकर लोग रहते हैं। ये लोग खेती करते हैं और ज्वार-बाजरा, तम्बाकू, फल आदि उगा लेते हैं। खजूर उनका मुख्य भोजन है। कुछ लोग पशुपालन भी करते हैं।

(३) अन्य देशों के सभ्य लोग यहाँ के खनिज-पदार्थों को प्राप्त करने के लालच से जा बसे हैं।

पच्चीसवां अध्याय

शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम प्रदेशों में

(५) भूमध्यसागरीय जलवायु-विभाग

३५०. स्थिति—ये प्रदेश ३०° और ४५° अक्षांशों के बीच में महाद्वीपों के पश्चिमी भाग में स्थित है। इस विभाग में भूमध्यसागर के आसपास के देश, कैलीफोर्निया का मध्यभाग, चिली का मध्यभाग, केप ऑफ़ गुड होप, न्यूज़ीलैण्ड का उत्तरी द्वीप तथा आस्ट्रेलिया का दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिणी कोना शामिल है।

३५१. जलवायु—इस विभाग में गरमी खूब पड़ती है। गरमी में औसत तापक्रम ७०° और ८०° के बीच में रहता है। आकाश साफ़ रहता है और मौसम सुहावना

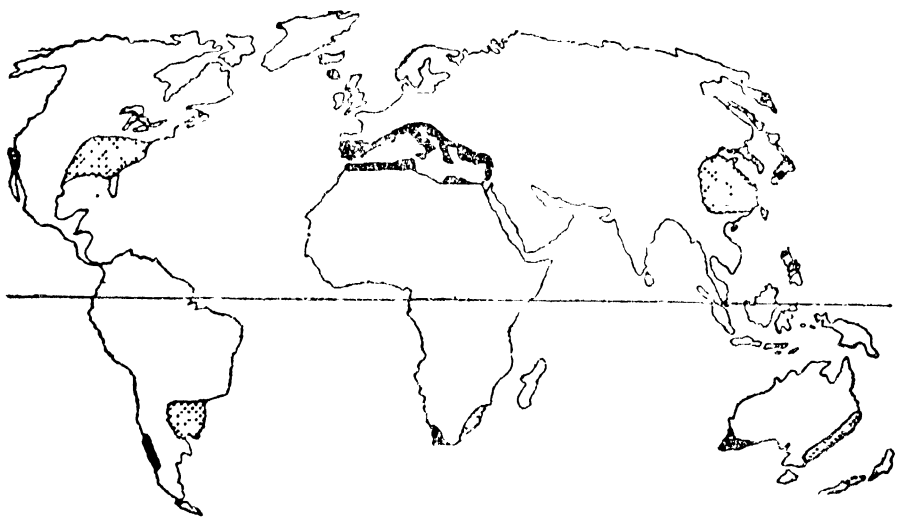

चित्र १०४. शीतोष्ण कटिबन्ध के गरम प्रदेश। काले भाग भूमध्यसागरीय प्रदेश और बिन्दुदार भाग चीन जैसी जलवायु वाला प्रदेश है।

रहता है। जाड़ों में अधिक ठण्ड नहीं होती। जाड़ों का औसत तापक्रम ४५° या ५०° के लगभग रहता है। गरमी और जाड़ों के तापक्रम में ३०° से अधिक अन्तर नहीं पड़ता।

वर्षा यहाँ पर जाड़ों में होती है। वर्षा की मात्रा पश्चिम से पूर्व की ओर तथा उत्तर से दक्षिण की ओर कम होती जाती है। औसत वर्षा २०″ से ३०″ तक होती है। वर्षा मूसलाधार होती है और जल्दी ही समाप्त हो जाती है। मूसलाधार वर्षा होने के कारण मिट्टी बह जाया करती है।

स्थान	अधिकतम तापक्रम फा०	न्यूनतम तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
रोम	७६°	४५°	३१	३२·७″
केपटाउन	७०°	५५°	१५	२५·३″

३५२. वनस्पति—इन प्रदेशों में ऐसे वृक्ष उत्पन्न होते है जो गर्मियों के सूखे समय को भी सह सकें। यहाँ के वृक्षों की पत्तियाँ और छाल मोटी और जड़ें गाँठोंदार होती है। इन पेड़ों में जैतून मुख्य है। यह पेड़ इस जलवायु विभाग का इतना विशेष पेड़ है कि इस जलवायु की उत्तरी सीमा जैतून के वृक्षों की उपज तक मानी जाती है। अन्य पेड़ों में ओक, चीड, फर, अंजीर और सैदर मुख्य हैं। आस्ट्रेलिया के इस विभाग में केरी और जर्रा पेड़ होते हैं।

कम वर्षा वाले भागों में काँटेदार झाड़ियाँ पैदा हो जाती हैं जिनमें मेंहदी आदि शामिल है। इन झाड़ियों की पत्तियों को भेड़-बकरी खा लेती है।

३५३. आर्थिक परिस्थितियाँ—इस जलवायु विभाग में फल उगाना, खेती करना और भेड़-बकरी पालना मुख्य धन्धे हैं। स्वच्छ आकाश और कड़ी गरमी में फल सुखाकर पेटियों में बन्द कर देना सुलभ है। अतः इन भागों में यह धंधा खूब पनपा है। इन विभागों की जलवायु रसदार फल उगाने के लिए आदर्श है, अतः यहाँ से रसदार तथा अन्य फल बाहर भेजे जाते हैं। रसदार फलों में सन्तरा बहुत प्रसिद्ध है। अन्य फलों में अँगूर, अंजीर, जैतून, सेव, शहतूत आदि प्रसिद्ध हैं। अँगूर को सुखाकर किशमिश और दाख बनाते हैं तथा शराब भी बनायी जाती है। शहतूत की उपज के कारण रेशम का कीड़ा पाला जाता है और रेशम उत्पन्न किया जाता है। यहाँ पर मुख्यतः गेहूँ और जौ की पैदावार सबसे अधिक होती है तथा भेड़ों से ऊन प्राप्त की जाती है।

जैतून का पेड़ यहाँ का अत्यन्त उपयोगी पेड़ है। यहाँ के लोग जैतून के तेल से रोटियाँ चुपड़कर खाते है और उसी से मिठाइयाँ बनाते हैं। इसका कारण यह कि गरमी की ऋतु में वर्षा न होने से यहाँ पर अच्छी घास नहीं होती ताकि गाय-भैंस पाल सकें। केवल पठारी भागों पर कड़ी घास या झाड़ियाँ होती है जहाँ भेड़-बकरी चर सकती हैं। फलतः यहाँ दूध-मक्खन का अभाव है। अन्य उपयोगी पेड़ ओक और कार्क हैं।

इन भागों में खनिज पदार्थों की कमी होने से लोहे और फौलाद के उद्योग नहीं बन सके हैं।

(६) गरम शीतोष्ण के मध्यवर्ती या स्टेप्स जैसी जलवायु

३५४. स्थिति—यह जलवायु ३० और ४५ अक्षांशों के बीच में महाद्वीपों में पाई जाती है। इस जलवायु विभाग में कनाड़ा और संयुक्त राज्य के प्रेरीज़, एशिया के स्टेप्स, हंगरी, अर्जेण्टाइना के पैम्पाज, दक्षिणी आस्ट्रेलिया के वेल्ड्स और आस्ट्रेलिया के डाडन्स मैदान सम्मिलित हैं।

३५५. जलवायु—महाद्वीपों के मध्यभाग में स्थित होने तथा समुद्र से दूर होने के कारण इन मैदानों की जलवायु बहुत ही विषम है। गर्मियों में यहाँ काफी तेज़ गरमी पड़ती है। गरमी का औसत तापक्रम ८०° फा० रहता है और जाड़ों में तापक्रम ३२° फा० से नीचे पहुँच जाता है जिससे यहाँ कड़ाके का जाड़ा पड़ता है। वर्षा यहाँ बसन्त और गरमी के प्रारम्भकाल में होती है तथा उसकी मात्रा बहुत कम (२० इंच से कम) है। वर्षा वाहनिक होती है।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	जौलाई का तापक्रम	जनवरी का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
बिस्मार्क	१६७४	७०	८	६२	१७·६′
बुडापेस्ट	५०९	७०·३	२८·२	४२·१	२३·१″
पोर्टआर्थर	६४४	६८·२	७·०	५५·२	२३·३″

३५६. वनस्पति—इस विभाग में मीलों तक घास ही घास पैदा होती है। यह घास सवाना घास से छोटी, मुलायम और बढ़िया होती है। जिस तरह सवाना घास के मैदानों में पेड़ पैदा हो जाते हैं उस तरह के पेड़ यहाँ बिलकुल नही हो पाते। यहाँ के शुष्क, ठण्डे जाड़े तथा गरमी मे थोड़ी-सी वर्षा और उस पर तेज़ गरमी से पानी का भाप बनना पेड़ों के जीवन के लिए विषम बाधायें है। नदी के किनारे तथा अधिक वर्षा वाले भागों में ही पेड़ पनप सकते है।

३५७. आर्थिक परिस्थितियाँ—एशिया के स्टेप्स में खिरगीज लोग पशुपालन करते है। पहले ये अपने तम्बू का घर इधर से उधर लिए फिरते थे परन्तु अब स्थिति बदल गई है। सिंचाई के उत्तम प्रबन्ध से वहाँ खेती खूब पनपने लगी है। पैम्पाज के गावचू और उत्तरी अमेरिका के रैड इण्डियन शिकार करते थे। परन्तु वहाँ अब श्वेत जाति के लोग जा बसे हैं और इन मैदानों में उत्तम खेती होती है। ये मैदान गेहूँ की उपज के लिए सारे संसार में प्रसिद्ध हैं। सूखे प्रेरीज़ में और सूखे स्टेप्स में नदियों से सिंचाई करते हैं। प्रेरी के मैदानों में मशीनों से खेती होती है तथा पशपालन के धन्धों

से चमड़ा रंगना, माँस व हड्डियो के बचे हुए भाग से तरह-तरह की चीज़ें बनाना दिनोंदिन उन्नति कर रहा है। एशिया के ये मैदान उत्तर में जंगलों तथा दक्षिण में रेगिस्तानों से घिरे होने के कारण आवागमन के उत्तम साधन रहे थे। आज भी इस भाग की ट्रान्स साइबेरियन रेलवे तथा अन्य मैदानों में रेलें बड़ी उपयोगी हैं।

(७) गरम शीतोष्ण के पूर्वीय तटवर्ती या चीन जैसी जलवायु

३५८. स्थिति—यह जलवायु विभाग समशीतोष्ण कटिबन्ध में महाद्वीपों के पूर्वी तटों पर ३०° से ४५° अक्षाशों तक पाये जाते हैं। इन विभागों को शीतोष्ण कटिबन्धीय मानसूनी विभाग (Temperate Monsoon Type) भी कहा जाता है। इस विभाग में उत्तरी और मध्य चीन, जापान, दक्षिण-पूर्वी संयुक्त राज्य, दक्षिण-पूर्वी आस्ट्रेलिया और दक्षिण-पूर्वी अफ्रीका के तटीय भाग, उरुग्वे तथा ब्राजील का दक्षिण-पूर्वी तट शामिल है। यद्यपि इस विभाग की मुख्य जलवायु सम्बन्धी विशेषतायें एक-सी हैं परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों पर स्थानीय विशेष परिस्थितियों के कारण जलवायु और वर्षा में काफ़ी अन्तर हो गया है।

३५९. जलवायु—ग्रीष्म ऋतु में यहाँ काफ़ी गरमी पड़ती है। गरमी का तापक्रम ८०° फा० तक पहुँच जाता है, परन्तु जाड़ों में यहाँ अधिक सर्दी पड़ती है। जाड़ों में मध्य एशिया से और कनाडा के उत्तरी भाग से ठण्डी हवायें चलती हैं जिससे चीन, जापान आदि देशों का तापक्रम हिमांक (Freezing Point) से भी नीचे गिर जाता है। इन हवाओं का प्रभाव एपैलेचियन पर्वतों के कारण पूर्वी संयुक्तराज्य में नहीं हो पाता, परन्तु ये हवाये दक्षिण में मैक्सिको की खाड़ी के बन्दरगाहों और फ्लोरिडा प्रायद्वीप को काफ़ी ठण्डा बना देती है।

वर्षा यहाँ पर्याप्त (३० इंच से ५० इंच तक) होती है। कुछ भागों में सालभर वर्षा होती है, परन्तु अधिकतर भागों में ग्रीष्म ऋतु में ही सारी वर्षा हो लेती है। यहाँ पर गर्मियों में समुद्र से स्थल की ओर हवायें चलती हैं जो मेह बरसाती हैं।

स्थान	समुद्रतल से ऊँचाई	जौलाई का तापक्रम फा०	जनवरी का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
शंघाई	३३ फीट	८०·४	३७·६	४२·८°	४५·८″
सिडनी	१४६ फीट	५३·०	७२·०	१९	४७·९″
सेंटलुई	५६८ फीट	७९·१	३१·०	४८·१	४०″

३६०. वनस्पति—गरम और आर्द्र गर्मियों के कारण यहाँ पर चौड़ी पत्तियों

वाले हरे-भरे पेड़ों के वन पाये जाते हैं। ये पेड़ जाड़ों में अपने पत्ते गिराकर शीत से अपनी रक्षा कर लेते है। इन वनों के पेड़ बड़े उपयोगी है। इनमें कपूर, शहतूत, बाँस आदि प्रसिद्ध है। आस्ट्रेलिया का यूकलिप्टस पेड़ बड़ा उपयोगी है।

३६१. **आर्थिक परिस्थितियाँ**—इन प्रदेशों में जलवायु खेती के बहुत अनुकूल है। अतः यहाँ का मुख्य धन्धा खेती करना है। कपास, चावल, तम्बाकू, मक्का तथा गेहूँ यहाँ पर काफी पैदा होते हैं। रेशम का धन्धा भी काफी उन्नति कर गया है। इन भागों में उद्योग-धन्धे भी पनप रहे हैं।

छब्बीसवाँ अध्याय

शीतोष्ण कटिबन्ध के शीतल भागों में

(८) पश्चिमी यूरोप जैसी जलवायु

३६२. **स्थिति**—यह जलवायु-विभाग महाद्वीपों के पश्चिमी भागों में ४५° से ६०° या ६५° अक्षांशों तक स्थित हैं। इसमें ब्रिटेन, नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेलजियम, जर्मनी, उत्तरी फ्रांस, ब्रिटिश कोलम्बिया, दक्षिणी चिली तथा न्यूज़ीलैण्ड का दक्षिणी द्वीप शामिल है।

३६३. **जलवायु**—इन देशों की जलवायु पर समुद्र का अत्यधिक प्रभाव है। अतः यहाँ ग्रीष्म ऋतु बड़ी सुहावनी होती है और जाड़ों में बहुत कम ठण्ड पड़ती है।

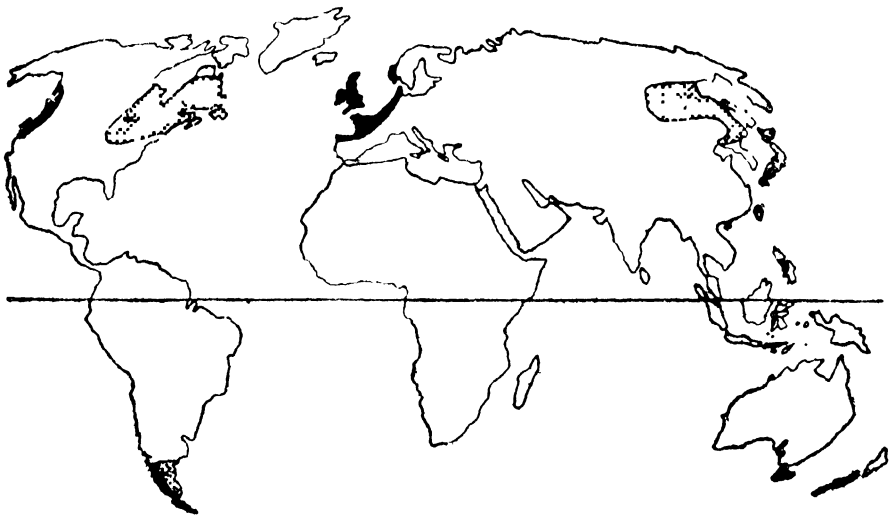

चित्र १०५. शीतोष्ण कटिबन्ध के शीतल प्रदेश। काले भाग पश्चिमी यूरोप जैसे और बिन्दुदार भाग मंचूरिया जैसे प्रदेश हैं।

इसी से यहाँ का जलवायु सम कहा जाता है। यहाँ पर गरमी का तापक्रम ६०° फा० और जाड़ों में ४०° फा० रहता है। गरमी और जाड़ों के तापक्रम का अन्तर २०° अंश के लगभग रहता है। उच्च अक्षांशों में स्थित होने पर भी यहाँ जाड़ों में इतनी कम ठण्ड पड़ती है कि तापक्रम हिमांक (३२° फा०) से नीचे नहीं जाता। इसका मुख्य कारण यहाँ की गरम धाराय हैं। उदाहरण के लिए गल्फस्ट्रीम धारा पश्चिमी यूरोप को और क्यूरीसिवो धारा ब्रिटिश कोलम्बिया को गरम बनाती है। धाराओं के अतिरिक्त पछवा हवायें भी गरम अक्षांशों से चलकर आती हैं। चक्रवात हवाओं के

मार्ग में स्थित होने के कारण इन भागों में कभी-कभी दैनिक तापान्तर बहुत अधिक हो जाता है। मौसम इतना अनिश्चित रहता है कि किसी दिन एक घण्टे में ही तापक्रम २० अंश नीचे पहुँच जाता है। एक दिन में ३० या ४० अंश गिर जाना कोई बड़ी बात नहीं है।

यह प्रदेश संसार के पर्याप्त वर्षा वाले भागों में गिने जाते है। यहाँ साल भर वर्षा होती रहती है, परन्तु जाड़ों में और पतझड़ के समय अधिक वर्षा होती है। यहाँ वर्षा का औसत ३० इंच है, परन्तु ऐसे पहाड़ी स्थानों में, जो पछवा हवाओं के मार्ग में पड़ते है, ज़्यादा वर्षा होनी है। स्नोडोनिया (वेल्स) में २००", चिली के पर्वतों पर २००" और नार्वे की पहाड़ियों पर १००" पानी बरसता है। ज्यों-ज्यों हवायें पूर्व की ओर आगे बढ़ती है, वर्षा की मात्रा भी घटती जाती है।

स्थान	जौलाई का तापक्रम	जनवरी का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
लंदन	६२·७	३८·६	२३·८	२४·५"
पेरिस	६६·५	३६·५	२६	२२·६"
वैंकोवर	६३	३६	२७	५६·८"

३६४. वनस्पति—यहाँ पर चौड़ी पत्तियों वाले पेड़ों के वन होते है। ये पेड़ जाड़ो में पत्ते गिराकर ठण्ड से अपनी रक्षा करते है। इन पेड़ों मे ओक, ऐस्पिन, बीच, ऐल्म, बर्च और वालनट मुख्य है। यूरोप में इन वनों को काटकर साफ कर दिया गया है। इस प्रदेश के पहाड़ी भागों में कोणधारी वन पाये जाते हैं जिसमें पाइन वृक्षों की अधिकता है।

३६५. आर्थिक परिस्थितियाँ—अपनी उत्तम भौगोलिक स्थिति, स्वास्थ्यप्रद जलवायु, कटी-फटी तटरेखा, उत्तम मिट्टी तथा लोहा और कोयला जैसे औद्योगिक खनिज पदार्थो के पाये जाने के कारण इस विभाग के देशों में काफी उन्नति हुई है। इस दृष्टि से पश्चिमी यूरोप अत्यन्त भाग्यशाली है। वैज्ञानिक यन्त्रों और खादों की सहायता से खेती की उपज कई गुनी अधिक बढ़ा दी है। खनिजों की सहायता से औद्योगिक उन्नति भी खूब हुई है और इसी औद्योगिक उन्नति के कारण व्यापार भी विशाल पैमाने पर होता है। यहाँ के समुद्रों में उत्तम कोटि की मछलियाँ भी पकड़ी जाती हैं। इस प्रकार यहाँ पर जनसंख्या संसार में सबसे अधिक घनी है। चिली इस विभाग का पिछड़ा हुआ देश है।

(६) शीतल शीतोष्ण महाद्वीपीय जलवायु अथवा साइबरियन टाइप

३६६. स्थिति—यह जलवायु-विभाग ४५° से ६५° अक्षांशों तक महाद्वीपों के बीच में स्थित है। इस भाग में कनाडा तथा यूरेशिया के उत्तरी भाग शामिल हैं।

३६७. जलवायु—समुद्र से दूर तथा उच्च अक्षांशों में स्थित होने के कारण यहाँ की जलवायु काफी विषम (Extreme) है। ग्रीष्म ऋतु की अवधि छोटी होती है। गरमी में दिन काफी लम्बे होते हैं, अतः गरमी काफी गरम होती है। गरमी का तापक्रम ७०° फा० तक पहुँच जाता है। परन्तु जाड़ों की ऋतु लम्बी होती है और इस ऋतु में दिन भी छोटे होते हैं। फलतः जाड़ों में कड़ाके की सर्दी पड़ती है। जाड़ों में तापक्रम प्रायः ०° फा० से नीचे ही रहता है।

वर्षा थोड़ी और वसन्त तथा गरमियों के शुरू में होती है। वर्षा का औसत लगभग २०" है। यह वर्षा प्रायः वाहनिक होती है।

३६८. वनस्पति—यह प्रदेश सदा बहार तथा नुकीले पत्तियों वाले पेड़ों से ढँके है जिन्हें कोणधारी वन कहते हैं। स्थानीय प्राकृतिक अवस्था अथवा हवाओं की दिशा के कारण तथा समुद्र से दूर स्थित होने के कारण इन वनों के दक्षिणी भाग में कहीं-कहीं पर वर्षा बहुत कम होती है जिससे वहाँ पर वृक्षों के स्थान पर घास उत्पन्न होती है। यह घास स्टेप्स-जैसे घास के मैदानों का परिवर्द्धित रूप ही मालूम पड़ती है। कनाडा के अलबर्टा प्रान्त में तथा मध्य साइबेरिया में घास इस जलवायु विभाग की प्राकृतिक उपज है। इन अपवादों को छोड़कर प्रायः जंगलों का विस्तार अटूट-सा चला गया है। इन वनों की दक्षिणी सीमा ग्रीष्म ऋतु की ५०° फा० समतापरेखा है। इन वनों में वृक्षों की कई किस्में नहीं होतीं बल्कि यहाँ मुश्किल से ७ या ८ तरह के पेड़ होते हैं। इन पेड़ों में पाइन, फर, स्प्रूस और लार्च मुख्य हैं। इन बनों में कहीं-कहीं चौड़ी पत्ती वाले बर्च, ऐस्पिन आदि पेड़ भी उत्पन्न हो जाते हैं। अन्यथा यहाँ के पेड़ों की पत्तियाँ नुकीली है। इसका कारण यह है कि तेज़ हवाओं से नमी को बचाने के लिए नुकीली पत्ती का कम अंश ही हवा के सामने रहता है। यही कारण है कि इन पेड़ों पर पत्तियाँ भी कम होती हैं। पेड़ों के नीचे बाँस आदि भी नहीं होते। एक स्थान पर एक ही किस्म के बहुत से पेड़ होने से उनका प्राप्त करना आसान है। इन वनों में आग लग जाने से बड़ी हानि होती है। इसलिए वहाँ के स्कूलों में विद्यार्थियों को वर्षों तक आग से सावधान रहने की तथा आग बुझाने की ट्रेनिंग दी जाती है। अखबारों में भी इसी सम्बन्ध की सूचनायें प्रकाशित होती रहती हैं।

३६९. आर्थिक परिस्थितियाँ—यहाँ के लोगों के मुख्य धन्धे लकड़ी काटना, समूर वाले जानवरों को पकड़ना, खानें खोदना, नदियों या झीलों से मछली पकड़ना तथा खेती करना आदि है। जाड़े के दिनों में धरती बर्फ से ढँक जाती है। अतः बर्फ के

चिकने तल पर बड़े-बड़े लट्ठे काटकर नदियों में इकट्ठे कर देते हैं। गरमियाँ आने पर लट्ठे नदियों में बहने लगते है। इन लट्ठों को तख़्ते चीरने के कारखानों के समीप निकाल लिया जाता है। इन लट्ठों के तख़्तों से पैकिंग का सामान, दियासलाई की तीलियाँ और बक्स, कागज की लुब्दी बनाई जाती है तथा लकड़ी से तारपीन का तेल और खुशबूदार धूप भी मिलती है।

समूरदार जानवर टुंड्रा की ठण्ड से घबराकर इन वनों में चले आते हैं। अतः जाड़ों में इन जानवरों को पकड़कर समूर इकट्ठी की जाती है। इन जानवरों में कई प्रकार की गिलहरियाँ, लोमड़ियाँ, बीवर आदि बड़े सुन्दर रंग के होते हैं।

जहाँ खनिज-पदार्थ मिलते है वहाँ खानें खोदी जाती हैं तथा नदियों और झीलों से मछलियाँ पकड़ी जाती हैं। जिन स्थानों पर पेड़ काट दिये गये हैं, वहाँ जौ, जई, राई आदि पैदा होते हैं। परन्तु यहाँ खेती की दशा अच्छी नहीं है क्योंकि वसन्त में बर्फ पिघलने पर भूमि दलदली हो जाती है और बाद में गरमी की ऋतु जल्दी बीत जाती है जिससे फसल को पकने का पूरा समय नहीं मिल पाता।

(१०) शीतल शीतोष्ण पूर्वीयतट या सेण्ट लॉरेंस जैसी जलवायु

३७०. स्थिति—यह जलवायु-विभाग महाद्वीपों के पूर्व में उन्ही अक्षांशों में स्थित है जिसमें पश्चिमी यूरोप जैसे जलवायु वाला भाग है। इसमें मंचूरिया और अमूर नदी की घाटी, उत्तरी जापान, पूर्वी कनाडा, उत्तरी-पूर्वी संयुक्त राज्य तथा पेटेगोनिया शामिल है। इस विभाग को मंचूरियन टाइप भी कहा जाता है।

३७१. जलवायु—इस भाग की जलवायु न तो पश्चिमी यूरोप जैसी सम (Equable) है और न मध्य भाग की तरह विषम ही है। यहाँ गर्मियों में साधारण गरमी पड़ती है। जौलाई का तापक्रम ७०° फा० हो जाता है। परन्तु जाड़ों में काफी ठण्ड पड़ती है। जाड़ों का तापक्रम हिमांक (३२° फा०) से नीचे गिर जाता है। इस विभाग के क्वेबेक शहर में जाड़े का तापक्रम १०° फा० रहता है जब कि आयरलैण्ड के वेलैन्शिया नगर में ३२° फा० से ऊँचा रहता है और मध्य कनाड़ा (साइबेरियन टाइप) के विनिपेग नगर में ०° फा० से भी नीचे गिर जाता है। वार्षिक तापान्तर ४०° फा० रहता है।

इस विभाग में वर्षा साधारण (२०-४० इंच तक) होती है। साधारणतया वर्षा गर्मियों में ही होती है। क्योंकि गरमी में ही हवायें जल से स्थल की ओर चलती हैं। परन्तु सेण्ट लॉरेंस नदी के बेसिन में चक्रवात हवाओं (Cyclones) से जाड़ों में भी वर्षा होती है। जाड़ों की वर्षा तुषारपात (Snowfall) के रूप में होती है क्योंकि यहाँ जाड़ों का तापक्रम कम होता है। एण्डीज़ पर्वतों की स्थिति के कारण पछवा हवायें पेटेगोनिया में नहीं आ पाती। अतः यहाँ १०" से भी कम

वर्षा होती है। एण्डीज पर्वतों की स्थिति के कारण ही पेटेगोनिया का तापक्रम जाड़ों में ३२° फा० से अधिक ऊँचा रहता है।

स्थान	जौलाई का तापक्रम	जनवरी का तापक्रम	वार्षिक तापान्तर	वार्षिक वर्षा
क्वेबेक	६८	९०	५८	४०·५″
व्लाडीवोस्टक	६९	५	६४	१५″
न्यूयार्क	७५	३०	४५	४२·५″

३७२. **वनस्पति**—इस विभाग के अधिकांश भाग में नुकीली पत्तियों वाले कोणधारी वन है। परन्तु इस विभाग के धुर दक्षिण-पूर्वी भागों में (सेण्ट लॉरेंस का बेसिन, उत्तर-पूर्वी संयुक्त राज्य और मंचूरिया) चौड़ी पत्तियों वाले वन है जो जाड़ों में पत्तियाँ गिरा देते है।

३७३. **आर्थिक परिस्थितियाँ**—इस विभाग में भी समूर वाले जानवर फँसाना, लकड़ी काटना, खेती करना और मछली पकड़ना मुख्य धन्धे हैं। इस विभाग में पूर्वी कनाड़ा तथा उत्तर-पूर्वी संयक्त राज्य बहुत उन्नतिशील भाग है। यहाँ लोहा, कोयला जैसे औद्योगिक खनिज पाये जाते हैं जिससे यह भाग संसार के मुख्य औद्योगिक भागों में से है।

सत्ताईसवाँ अध्याय

अधिकतम ठण्डे देशों में

(१) टुण्ड्रा प्रदेश

३७४. **स्थिति**—कनाडा और यूरेशिया के ठेठ उत्तर में उत्तरी ध्रुववृत्त (Arctic Circle) के उत्तरी भाग में फैले हुए प्रदेश को टुण्ड्रा कहते है। इन्हें ठण्डे उजाड़ प्रदेश भी कहा जाता है। इनकी दक्षिणी सीमा गरमी की ५०° फा० समताप-रेखा है।

३७५. **जलवायु**—इस प्रदेश में जाड़े की ऋतु ८ महीने की होती है। इस ऋतु में या तो सूर्य के दर्शन ही नही होते या बहुत थोड़ी देर के लिए होते है। अतः यहाँ बड़ी कड़ी सर्दी पड़ती है। झीलों का पानी काफी गहराई तक जम जाता है। तेज़ हवा के झोंके चलते रहते हैं जिसके साथ बर्फ के कण मिले रहते है। इन अंधडों को ब्लिज़ार्ड (Blizard) या बर्फ की आँधियाँ कहते है। जाड़ों का तापक्रम आम तौर से ०° फा० से नीचे रहता है। गरमी की ऋतु केवल चार महीने होती है। इस ऋतु में भी सूर्य क्षितिज से अधिक ऊँचा नहीं चढ़ता, परन्तु दिन काफी लम्बा होता है। किसी-किसी भाग में सूर्य कई महीनों तक नहीं छिपता। जौलाई में तापक्रम ५०° फा० तक रहता है। गर्मियो में बर्फ पिघल जाती है जिससे नदियों में बाढ़ आ जाती है और भूमि दलदली हो जाती है।

वर्षा यहाँ १०″ से कम होती है। अधिकतर वर्षा गर्मियों में होती है। जाड़ों में वर्षा हिम रूप में गिरती है। अधिक ठण्ड होने के कारण हिम बिलकुल नहीं पिघल पाता और हिम जमा होती रहती है। इसीलिए जाड़ों की वर्षा अधिक मालूम होती है।

३७६. **वनस्पति**—इस भाग में इतनी थोड़ी गरमी होती है कि कोई पेड़ पनपने नहीं पाता। यहाँ 'मौस' नाम की काई-जैसी चीज़ और 'लिचिन' नाम का छोटा-सा पौधा उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु दक्षिण की ओर ढाल वाले भागों में गरमी कुछ अधिक रहने से कुछ छोटे-छोटे फूलदार पौधे पैदा हो जाते हैं। इन पौधों की ऊँचाई नौ इंच के लगभग होती है और इन पर छोटे-छोटे रंग-बिरंगे और चमकीले फूल लगते हैं। जिस समय ये फूल खिलते हैं उस समय का दृश्य बड़ा ही मनभावन होता है।

३७७. **पशु**—इस भाग का मुख्य और उपयोगी पशु रेनडीयर या बारहसिंगा है। रेनडीयर बर्फ के ऊपर फिसलने वाली बिना पहिये की स्लेज गाड़ी को खींचने

के काम में आता है। इसीलिए यहाँ के निवासी इसको अधिक पालते हैं। यहाँ के कुत्ते भी स्लेज गाड़ियों को खींचते हैं। अन्य पशुओं में लोमड़ी, गिलहरी, ध्रुवीय रीछ आदि समूर वाले जानवर हैं।

३७८. आर्थिक परिस्थितियाँ—टुण्ड्रा के रहने वालों को यूरोप में लैप्स या जिन, एशिया में सैमोयाड्स और उत्तरी अमेरिका में ऐस्किमो कहते हैं। ये लोग ऐसी कठोर परिस्थितियों में रहते हैं कि इनका सभ्यता की दौड़ में उन्नति करना कठिन है। इनका मुख्य भोजन माँस है। ये लोग हारपून नामक भाले से सील मछली और वालरस का शिकार करते हैं। हारपून भाले की नोंक पर समुद्री जानवरों के तेज़ नुकीले दाँत लगा दिये जाते हैं। समूर वाले जानवरों को फँसाकर उनके समूर और बाल एकत्र करते हैं। यहाँ पर खेती सम्भव नहीं है। यहाँ के निवासियों के भोजन, कपड़े, घर, हथियार और यातायात के साधन सभी कुछ जानवरों से ही प्राप्त हो सकता है। अतः माँस के अतिरिक्त जानवरों की खाल, दाँत, हड्डियाँ, सीने के काम के लिए आँतें और जलाने के लिए चर्बी इन लोगों के बड़े काम की चीज़ें हैं। रूस का समाजवादी शासन इन लोगों के जीवन को सुखमय बनाने का भरपूर प्रयत्न कर रहा है। जौ और जई की विशेष किस्म उत्पन्न की जा रही है और नदियों के तट पर, जहाँ कहीं पेड़ उग सकते हैं, लकड़ी काटने का व्यवसाय शुरू किया जा रहा है।

(४) हिममण्डित देश

३७९. स्थिति—ग्रीनलैण्ड, एण्टार्कटिक महाद्वीप और ध्रुवीय द्वीपों में इस जलवायु का विस्तार है।

३८०. जलवायु—ये भाग सैकड़ों फीट मोटी बर्फ की तह से ढँके हैं। इनसे बर्फ की बड़ी-बड़ी चट्टानें टूटकर समुद्र में बहने लगती हैं। इन हिमशिलाओं को आइसबर्ग कहते हैं। ये शिलायें समुद्र में सैकड़ों मील तक बहती चली जाती हैं।

यहाँ पर तापक्रम हमेशा हिमांक (Freezing Point) से नीचे ही रहता है। जो कुछ भी वर्षा होती है वह हिम रूप में ही होती है। यहाँ पर प्रायः बर्फ के तूफ़ान (Blizard) चला करते हैं।

यहाँ पर समुद्री जानवर ही अधिक हैं। कुछ पक्षी भी पहुँच जाते हैं, परन्तु स्थली जीवों का अभाव-सा है। ग्रीनलैण्ड के दक्षिणी तटों पर कुछ एस्किमो लोग रहते हैं। शेष समस्त भाग एक विशाल उजाड़ खण्ड है।

खण्ड ४

अट्ठाईसवाँ अध्याय

जलमण्डल (Hydrosphere)

३८१. जल का महत्त्व—समस्त भूतल का ७१ प्रतिशत भाग जल से आवृत है। इस जल-वेष्टित भाग को जलमण्डल कहते हैं। जिस समय हमारी पृथ्वी अपने जनक सौर महापिण्ड से अलग हुई तो उस समय कल्पनातीत गरमी के कारण सारे तत्त्व वायव्य (गैस की) अवस्था में रहे होंगे। लाखों वर्षों बाद कहीं हाइड्रोजन और आक्सीजन तत्त्वों को परस्पर रसायनिक सम्बन्ध जोड़ने को सुयोग मिला होगा और तभी जल का वाष्प रूप में जन्म हुआ होगा। अभी तक पृथ्वी भीषण महाताप से धधक रही होगी। अतः ज्योंही जलवाष्प ठण्डी होकर जलरूप में पृथ्वीतल पर गिरती होगी त्योंही पृथ्वी की गरमी से पुनः जलवाष्प में बदलकर वायुमण्डल में मिल जाती होगी। साथ ही इस क्रिया से पृथ्वीतल के ठण्डे होने में पर्याप्त सहायता मिली होगी। करोड़ों वर्षों के पश्चात् पृथ्वी के ऊपरी तल के ठण्डे हो जाने पर यह सम्भव हुआ होगा कि भाप का जल बनकर भूतल के गड्ढों में भर सके। पृथ्वीतल से बहकर गड्ढों को भरते समय जल में बहुत से नमक घुलकर मिल जाते होंगे। इसी प्रकार पृथ्वी के क्षार निरंतर लाखों वर्षों तक उन्हीं गड्ढों में जमा होते रहे होंगे। ऐसी दशा में महासागरों का जल खारी हो गया है तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है! खारी जल से अपूर्ण पृथ्वीतल के गड्ढे ही आज महासागरों के नाम से विख्यात है। यों तो भूतल पर जल का एक ही विशाल परत फैला हुआ है, परन्तु मनुष्य ने अपनी सुविधा के विचार से इसको कई भागों में विभक्त कर दिया है। इन भागों में पाँच बड़े-बड़े भाग प्रशान्त महासागर, अटलाण्टिक महासागर, हिन्द महासागर, उत्तरी हिम महासागर और दक्षिणी महासागर के नाम से विख्यात हैं। छोटे-छोटे भाग सागर, खाड़ी आदि कहलाते हैं। सम्पूर्ण धरातल के लगभग तीन-चौथाई भाग पर जल का आवरण देखकर ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि स्थल की अपेक्षा जल की मात्रा अधिक है। परन्तु प्राणी और वनस्पति के विकास के लिए जल और स्थल का यह अनुपात अत्यन्त आवश्यक है। विभिन्न प्राणियों और वनस्पतियों के शरीर में पानी प्रचुर परिमाण में रहता है। मानव-शरीर में अवस्था के अनुसार ६० से ८० प्रतिशत तक, पशुओं में ४० से ५० प्रतिशत तक, पक्षियों में ७५ प्रतिशत तक, जलजीवों में ८० प्रतिशत तथा वनस्पतियों में ६० से ९८ प्रतिशत तक जल का अंश विद्यमान रहता है। ताज़ा लकड़ी में भी ५

प्रतिशत जल होता है। दूसरे जलवायु की विषमता को दूर करने के लिए भी जल का इतना अनुपात आवश्यक है।

इससे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि जीवन के विकास के लिए जल कितने महत्त्व की चीज़ है। पृथ्वीतल के विभिन्न भागों पर जल का वितरण इन्हीं महासागरों के विशाल भण्डार से हुआ करता है। यदि वितरण की प्राकृतिक व्यवस्था कुछ समय के लिए बन्द हो जाय, तो कुएँ, झरने, झील, नदी आदि स्थल के सभी जल-भण्डार सूखकर समाप्त हो जायँ।

गहरे जल से आवृत्त होने के कारण समुद्र का गर्भप्रदेश बहुत दिनों तक मनुष्य के लिए रहस्यमय बना रहा। इन रहस्यों का उद्घाटन करने की जिज्ञासा से प्रेरित होकर मनुष्य ने जल-आवरण के भीतर झाँकने के अनेकों साहसपूर्ण प्रयत्न किये हैं। जिन लोगों ने समुद्र के भीतरी रहस्यों का पता लगाया है उनमें डॉ० बीब का नाम उल्लेखनीय है। डॉ० बीब ने अद्भुत बाथीस्फीअर या फौलादी पनडुब्बे गोले की सहायता से समुद्र की काफी गहरी सैर करके वहाँ के रहस्यों का पता चलाया है।

समुद्रों का गहराई

३८२. गहराई की नाप—समुद्र की गहराई सब जगह एक-सी नहीं है। स्थल-तल के समान ही समुद्रों की तली में अनेकों पहाड़ियाँ, घाटियाँ, मैदान और गड्ढे हैं। समुद्र की गहराई फैदमों (Fathoms) में नापते है। एक फैदम ६फीट का होता है। गहराई नापने की दो विधियाँ है। छिछले पानी में गहराई नापने के लिए किसी रस्सी के एक सिरे पर भारी बोझ बाँध देते है और तब तक उसको नीचे की ओर लटकाते जाते है जब तक वह बोझ तली पर जाकर टिक न जाय। फिर रस्सी की लम्बाई नाप ली जाती है। गहरे समुद्रों में फैदमो-मीटर नामक यन्त्र से गहराई नापते हैं। इस यन्त्र में एक ढोल लगा होता है जिसे समुद्रजल के पास बजाते है। ढोल से उत्पन्न ध्वनि-लहरें नीचे तली तक जाती है और वहाँ पर टकराकर ऊपर लौट आती हैं। ऊपर उन लहरों को हाइड्रोफोन (Hydrophone) से पकड़ लिया जाता है। परीक्षण से पता चला है कि ध्वनि-लहरें जल के भीतर ४,८४० फीट प्रति सैकिण्ड की गति से चलती है। इन लहरों के वापिप पहुँचने तक का समय ज्ञात करके गहराई का पता चलाया जाता है। गहराई के अनुसार समुद्र की तली को चार भागों में बाँट सकते है—(क) महाद्वीपीय निमग्न तट, (ख) महाद्वीपीय ढाल, (ग) अगाध सागरीय तल और (घ) सागर-गर्त।

३८३. महाद्वीपीय निमग्न तट (Continental Shelf)—किनारे के पास जो भूमिभाग जलमग्न रहता है उसे महाद्वीपीय निमग्न तट कहते हैं। जैसा कि नाम से प्रकट होता है यह भाग महाद्वीप का जल में डूबा हुआ तट है। यह भाग

उसी प्रकार जलमग्न रहता है जैसे नाव का कुछ भाग जल में डूबा रहता है। अन्तर्जात कारणों से यदि यह भाग जल से ऊँचा उठ जाय तो तट के पास स्थल के विस्तार में वृद्धि हो जायगी। तटीय भूमि की प्राकृतिक बनावट के अनुसार निमग्न तट का विस्तार न्यूनाधिक होता है। यदि तट के समीप समतल मैदान है जिसका ढाल क्रमिक (Gradual) है, तो निमग्न तट का विस्तार अधिक होगा। परन्तु यदि तटीय भाग की बनावट पर्वतीय है, तो निमग्न तट का विस्तार कम होगा। निमग्न तट की गहराई १०० फैदम (६०० फीट) तक होती है जिससे इनके ऊपर समुद्र छिछला होता है। इतनी गहराई तक सूर्य की किरणें प्रवेश कर जाती हैं। अतः इस भाग पर वनस्पति उत्पन्न हो सकती है और जीवो की उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। नदियों द्वारा लाई हुई काँप (Debsis) अधिकांशतः इसी भाग पर जमा होती है। यही कारण है कि निमग्न तटों पर सामुद्रिक जीव बहुतायत से पाये जाते हैं। मनुष्य के लिए इनका सबसे बड़ा उपयोग यह है कि यह भाग संसार के सबसे बड़े मछली पकड़ने के स्थान हैं। न्यूफाउण्डलैण्ड के समीप ग्राण्डबैंक और ब्रिटिश द्वीपों के समीप डागर बैंक इसके अच्छे उदाहरण हैं।

३८४. महाद्वीपीय ढाल (Continental Slope)—निमग्न तट के पश्चात् निमग्न ढाल शुरू होता है। इसकी गहराई १०० फैदम से २,००० फैदम तक समझी जाती है। निमग्न ढाल एकदम गहरा होने लगता है और अगाध सागरीय तल (Deep Sea Plain) तक इसका विस्तार होता है। इसका विस्तार अपेक्षाकृत कम होता है। नदियों द्वारा लाई हुई काँप के अत्यन्त सूक्ष्म कण इस भाग तक पहुँच जाते हैं। परन्तु इन कणों से ढाल की गहराई कम नहीं हो पाती।

३८५. अगाध सागरीय तल (Deep Sea Plain)—महाद्वीपीय ढाल के समाप्त हो जाने पर अगाध सागरीय तल मिलता है। पृथ्वी के जलमग्न धरातल का

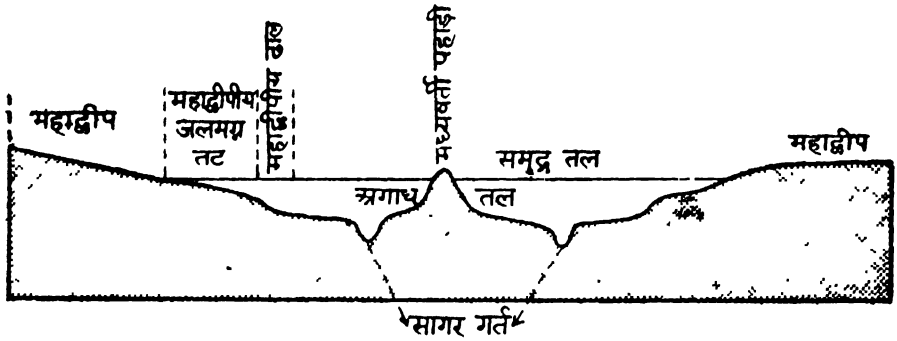

चित्र १०६. अटलाण्टिक महासागर की तली।

अधिकांश भाग अगाध सागरीय तल का ही भाग है। यह अगाध तल ऊँचा-नीचा तो अवश्य होता है, परन्तु ऊँचे भाग इतने कम होते हैं कि इसको मैदान की भाँति समतल

माना जा सकता है। इसका ढाल भी क्रमिक होता है। स्थलखण्ड से नदियों द्वारा लाई हुई मिट्टी यहाँ तक नहीं पहुँच पाती। अतः इसके ऊपर सामुद्रिक जीवों के अवशेष और लाल मिट्टी बिछी हुई पाई गई है। अनुमान है कि ज्वालामुखी की राख हवाओं द्वारा उड़ाकर यहाँ फेंक दी गई होगी। इसकी गहराई २,००० से ३,००० फैदम तक है।

३८६. सागर-गर्त (Ocean Deeps)—समुद्र के अगाध तल में कहीं-कहीं पर अधिक गहरे गड्ढे या गर्त हैं जिन्हें सागर-गर्त कहते हैं। इनका क्षेत्र बहुत सीमित है तथा इनका ढाल प्रपाती होता है। इनके सम्बन्ध में विशेष बात यह है कि ये गर्त अगाध तल के बीच में स्थित नहीं हैं किन्तु कुछ तट के अधिक समीप होते हैं। संसार का सबसे बड़ा सागर-गर्त प्रशान्त महासागर में फिलीपाइन्स द्वीपसमूह के समीप है। इसकी गहराई लगभग ३५,४०० फीट है। कुछ लोग कहते हैं कि इसी स्थान से चन्द्रमा उपग्रह टूट गया है जिससे इतना बड़ा गड्ढा बन गया।

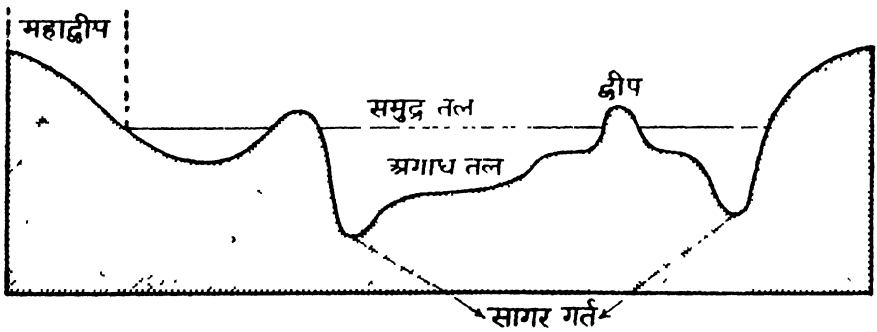

चित्र १०७. प्रशान्त महासागर की तली।

३८७. समुद्र का खारापन (Salinity of the Sea)—जैसा कि पहले बताया जा चुका है समुद्र के खारापन का मुख्य कारण नदियाँ हैं। नदियाँ अपने प्रवाह-क्षेत्र से प्रतिवर्ष अपने साथ कई प्रकार के क्षार बहाकर लाती हैं और समुद्र में डालती रहती हैं। समुद्र का पानी भाप बनकर उड़ता रहता है और क्षार समुद्र में रह जाता है। भाप फिर स्थल-भागों पर बरसकर पृथ्वी का क्षार घुलाकर नदियों के साथ समुद्र में डालती है। यह कार्यक्रम लाखों वर्षों से होता आया है और समुद्र में नमक की मात्रा निरन्तर बढ़ती रहती है, परन्तु कम होने का कोई उपाय नहीं है। इसी कारण समुद्र का खारीपन नित्यप्रति बढ़ता जाता है। समुद्र में खारापन का औसत ३½ अंश प्रतिशत पाया जाता है। परन्तु विभिन्न भागों में समुद्र का खारापन न्यूनाधिक होता है। इसके दो कारण हैं--(१) गरमी के कारण भाप बनने की तेज़ी, और (२) समुद्र में मिलने वाले ताज़ा पानी की मात्रा।

कर्क और मकर रेखाओं के समीप सबसे अधिक गरमी रहती है क्योंकि यहाँ पर साल के बहुत कम भाग में आकाश मेघाच्छादित रहता है। अतः यहाँ पर पानी जलवाष्प

के रूप में बदलता रहता है और क्षार समुद्र ही में रह जाते हैं। यहाँ पर वर्षा भी कम होती है। बल्कि यहाँ पर बनी हुई भाप कहीं अन्यत्र जाकर वर्षा के रूप में परिणित

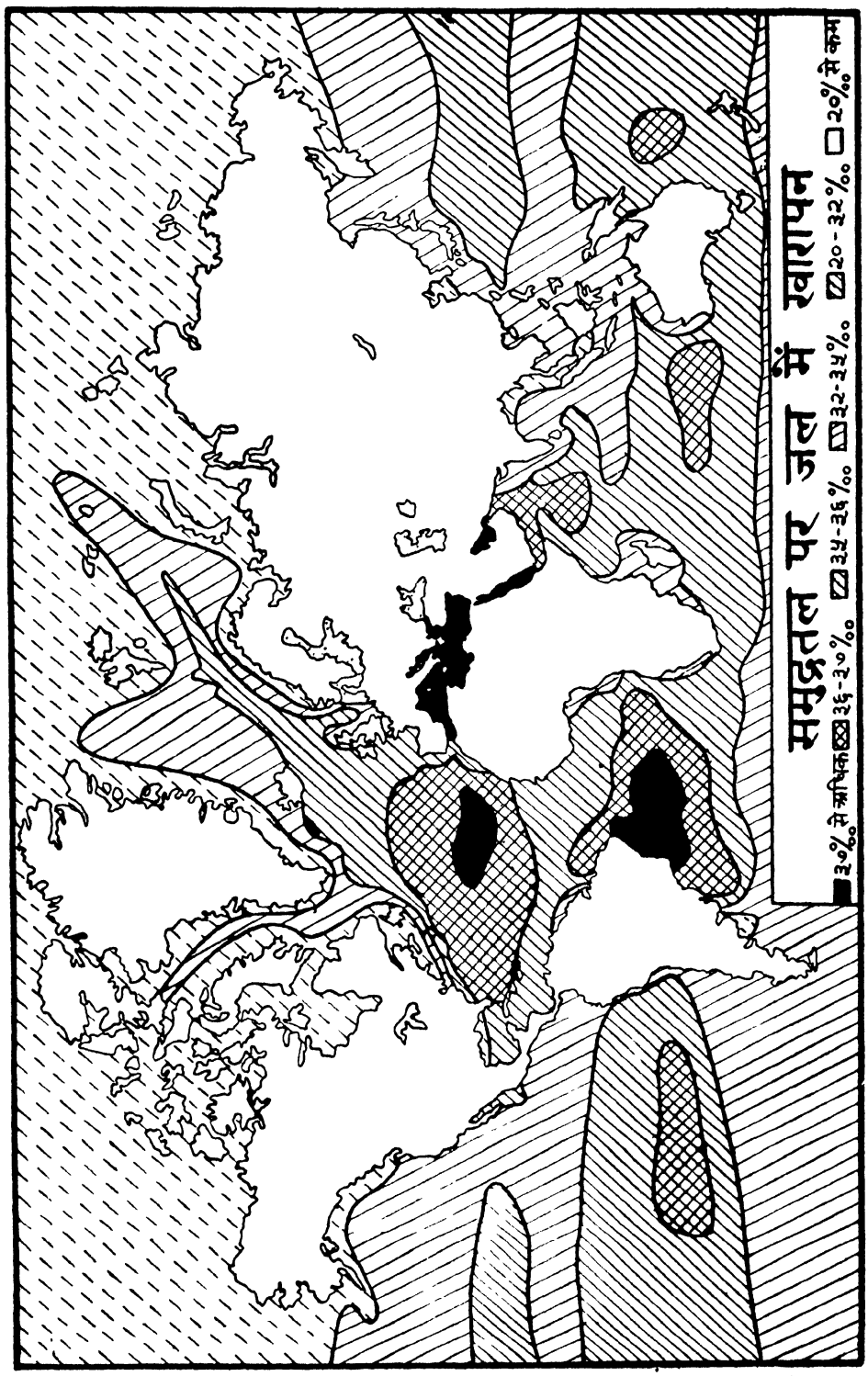

चित्र १०८.

होती है। इसी से इन स्थानों के समुद्र अत्यधिक खारी हैं। यहाँ के समुद्र जल के

प्रति सहस्र अंशों में ३६ अंश विविध नमकों के होते हैं।

भूमध्यरेखा के आस-पास गरमी तो खूब पड़ती है, परन्तु साल के अधिकांश भाग में आकाश पर बादल छाये रहते हैं जिससे सूर्य की सीधी किरणों के मार्ग में बाधा उपस्थित होती है। इस कारण यहाँ भाप अपेक्षाकृत कम बनती है। दूसरे वाहनिक वर्षा के फलस्वरूप वर्षा का जल सीधा समुद्र में मिलता है। यहाँ नदियाँ भी अपरिमित जलभण्डार समुद्र में उँडेलती रहती हैं। अतः यहाँ समुद्रजल के हज़ार अंशों में ३४ अंश नमक के होते हैं।

ध्रुवों के आसपास समुद्रों में भाप कम बनती है। साथ ही हिमखण्डों का कुछ भाग पिघलकर समुद्रजल में मिलता है। अतः यहाँ पर भी खारापन ३४% होता है।

विभिन्न जलखण्डों में परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण खारीपन में अन्तर पड़ जाता है। भूखण्डों से घिरे होने के कारण लालसागर का खारापन ३७% से ४१% तक, फारस की खाड़ी का ३८% और भूमध्यसागर का ३७% से ३९% तक होता है।

खारीपन के कारण पानी का घनत्व बढ़ जाता है अर्थात् पानी जितना अधिक खारा होगा उतना ही अधिक भारी होगा। खारीपन का पानी के तापक्रम पर भी प्रभाव पड़ता है। जहाँ पर पानी अधिक खारी होता है वहाँ पर जल का तापक्रम भी अधिक रहता है। किन्तु जहाँ नमक कम होता है वहाँ तापक्रम कम रहता है। इसीलिए खारी पानी को जमने के लिए तापक्रम हिमांक से नीचा होना चाहिए।

समुद्रजल का तापक्रम

३८८. जलतापक्रम की विशेषता—समुद्रजल के तापक्रम में अक्षांश, गहराई और खारीपन के अनुसार भिन्नता पाई जाती है। समुद्री जल के ऊपरी भाग का तापक्रम सूर्य की गरमी अर्थात् अक्षांश के अनुसार बदल जाता है। भूमध्यरेखा के निकट समुद्र की ऊपरी सतह का तापक्रम साधारणतया ८०° फा० रहता है। भूमध्य-रेखा से हम ज्यों-ज्यों ध्रुवों की ओर जाते हैं, यह तापक्रम कम हो जाता है। ध्रुवों के समीप तापक्रम २८° फा० के आसपास रहता है। इतने कम तापक्रम के होने पर भी खारीपन के कारण पानी जमता नहीं है। कर्क और मकर रेखाओं के समीप जल का तापक्रम वायु के ताप से कम रहता है। इस सम्बन्ध में हमें जल की गरमी ग्रहण करने की विशेषता का ध्यान रखना चाहिए। **तापक्रम में कुछ वृद्धि करने के लिए पानी को हाइड्रोजन के अतिरिक्त अन्य सभी से अधिक गरमी चाहिए।** अर्थात् पानी में ताप ग्रहण करने की शक्ति लगभग सबसे अधिक है। इसीलिए अन्य वस्तुओं की अपेक्षा पानी देर में गरम और देर में ठण्डा होता है। इसी गुण या विशेषता के

कारण महासागर वायुमण्डल के तापक्रम में अधिक विषमता नहीं होने देते। इसीलिए

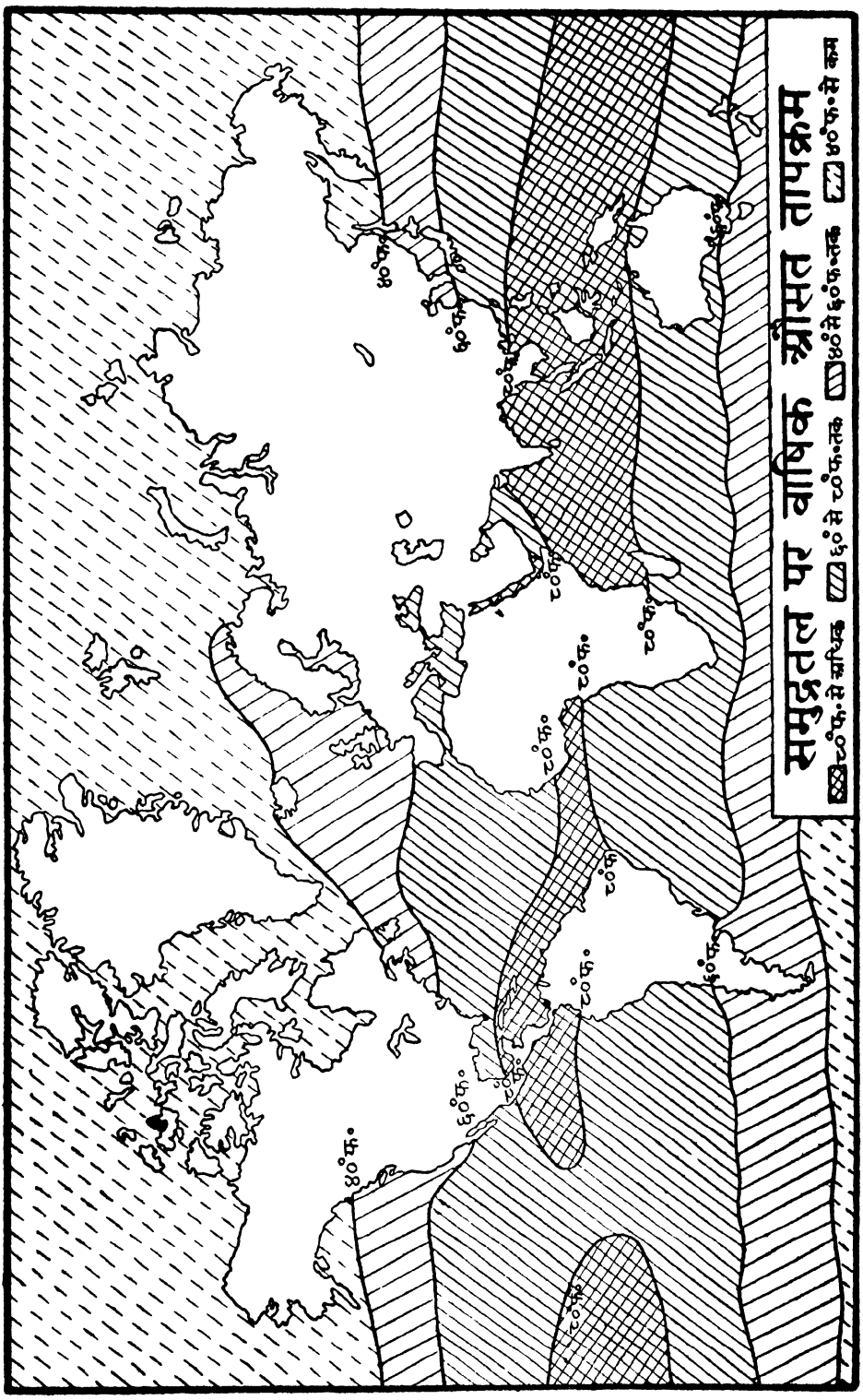

चित्र १०६.

समुद्र के निकटस्थ स्थानों की जलवायु सम रहती है। अपनी इसी विशेषता के कारण

४०° अक्षांश से ध्रुवों तक का समुद्रजल वायु के ताप से अधिक गरम रहता है। यह विशेषता ४०° अक्षांश से ध्रुवों तक स्थित भूमि-भागों को बहुत लाभ पहुँचाती है। **जाड़े में समुद्रजल वायु की अपेक्षा सभी स्थानों पर अधिक गरम रहता है।**

३८९. समुद्र के तापक्रम का स्थान परिवर्तन—समुद्रों की सतह के तापक्रम पर प्रचलित हवाओं, धाराओं तथा स्थलखण्डों में समुद्र की स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है। जब नियमित हवायें लगातार समुद्र की सतह पर चलती हैं, तो जल की ऊपरी परत को हटाती रहती है। जहाँ से जल का ऊपरी परत हट जाता है वहाँ उसके स्थान पर नीचे का ठण्डा पानी आ जाता है। फलतः उस स्थान पर सतह का तापक्रम कम रहता है। हवा जिस दिशा में बहती है उधर गरम पानी की परत पहुँचकर सतह का तापक्रम ऊँचा बना देती है। इसी कारण पछवा हवायें जिन भागों में चलती हैं उनके समुद्रों की सतह को गरम बना देती हैं।

जो जलधारायें भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर चलती हैं उनका तापक्रम अधिक रहता है। अतः जो जलभाग इन धाराओं के सम्पर्क में आते हैं उनका तापक्रम कुछ ऊँचा हो जाता है। इसके प्रतिकूल जो धारायें ध्रुवों से भूमध्यरेखा की ओर चलती हैं उनका तापक्रम कम होता है। अतः इनके सम्पर्क मे आने वाले भाग अपेक्षाकृत ठण्डे हो जाते हैं।

जो जलखण्ड भूमिभागों से घिरे रहते हैं उनका तापक्रम खुले सागरों की अपेक्षा उष्ण कटिबन्ध में अधिक तथा शीत कटिबन्ध में कम रहता है। भूमध्यरेखा पर समुद्री सतह का तापक्रम ८०° फा० के लगभग रहता है। परन्तु स्थल भागों से घिरे लालसागर में यह तापक्रम ९६° फा० और फारस की खाड़ी में ९४° फा० तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार जब उत्तरी सागर साल भर खुला रहता है तो उन्हीं अक्षांशों में स्थित बाल्टिक समुद्र जाड़ों में जम जाता है।

समुद्रों की सतह के तापक्रम पर दिन-रात तथा जाड़े-गरमी का भी प्रभाव पड़ता है। भूमध्यरेखा पर दैनिक तापक्रम में १०° फा० का अन्तर पड़ता है। शीतोष्ण कटिबन्धों के समुद्रों में दैनिक तापक्रम तो अधिक नहीं बदलता परन्तु जाड़े और गरमी के तापक्रम में २०° फा० तक का अन्तर हो जाता है।

३९०. गहराई के अनुसार समुद्र का तापक्रम—समुद्रजल का तापक्रम गहराई के साथ कम होता जाता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है सूर्य की किरणों का प्रभाव लगभग १०० फैदम या ६०० फीट की गहराई तक रहता है इससे नीचे के जल का तापक्रम एकदम कम होता जाता है। भूमध्यरेखा पर, जहाँ सतह का तापक्रम ८०° फा० होता है, ३,६०० फीट नीचे पहुँचने पर ४०° फा० ही रह जाता है। इससे अधिक गहराई पर तापक्रम धीरे-धीरे कम होता है। ६,००० फीट की गहराई पर तापक्रम ३६° फा०

और १२,००० फीट पर ३४° फा० अर्थात् हिमांक से कुछ ही अधिक रहता है। १२,००० फीट से नीचे तापक्रम ३४° फा० से कम नहीं होता। इसी से गहरे समुद्रों में सदैव शीत का अखण्ड राज्य रहता है। यहाँ हमें पानी की दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता याद रखनी चाहिए। **३४° फा० के तापक्रम की अवस्था में खारी पानी का घनत्व सबसे अधिक होता है**। दूसरे शब्दों में ३४° फा० से तापक्रम कम या अधिक होने पर पानी का घनत्व कम होने लगता है। बर्फ जम जाने पर तो पानी का घनत्व इतना कम हो जाता है कि बर्फ पानी पर तैरने लगती है। यह प्राकृतिक नियम जीवन-विकास के लिए अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुआ है। यदि बर्फ पानी से घनत्व में कम न होती, तो सारे समुद्र में नीचे से ऊपर लगभग सतह तक बर्फ ही बर्फ भरी होती। उस दशा में जलचारी जीवन असम्भव होता। फिर प्राणि-जीवन विकसित होता या नहीं यह कहना कठिन है। मनुष्य को सस्ता एवं सुलभ भोजन (मछली) कहाँ मिल पाता ? हमारी जलयात्रा भी असम्भव ही होती। ऐसी दशा की कल्पना भी भयंकर प्रतीत होती है।

उन्तीसवाँ अध्याय

समुद्र के जल में गतियाँ (१)

लहरें और धारायें

समुद्र में सदैव कुछ-न-कुछ उपद्रव होते रहते हैं। इन उपद्रवों में नदियों का गिरना और हवाओं का चलना मुख्य है। इन उपद्रवों के कारण समुद्र का पानी कभी स्थिर नहीं रहता और उसमें विशेष प्रकार की गतियाँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। इन गतियों के तीन भेद हैं—

(१) लहरें (Waves), (२) धारायें (Currents) और (३) ज्वार-भाटा (Tides)।

३९१. लहरें (Waves)—हवाओं के चलने से समुद्र की सतह पर पानी ऊँचा-नीचा हुआ करता है। पानी के इसी उतार-चढ़ाव को लहर या तरंग कहते हैं। आम तौर से लहरों के उठने पर समुद्र का पानी ऊँचा या नीचा तो होता रहता है, परन्तु बहकर अन्यत्र नहीं जाता। हाँ, यह अवश्य है कि सतह के ऊपर का थोड़ा-सा पानी हवा का धक्का खाकर हवा की दिशा में थोड़ी दूर तक बहा चला जाता है।

३९२. लहर बनने का कारण—तेज़ हवा के ज़ोरदार धक्के से समुद्र की सतह पर एक स्थान का पानी कुछ नीचे की ओर धँस जाता है। यह नीचे धँसा हुआ पानी धक्के के जोर से उसी दिशा की तरफ कुछ ऊँचा उठता है जिस ओर को धक्का चल रहा है। इस प्रकार लहर बन जाती है। लहर के नीचे दबे हुए या धँसे हुए भाग को द्रोणी (Trough) कहते हैं और उसके ऊँचे उठे हुए भाग को शिखिर (Crest) कहते हैं।

३९३. लहरों का आकार—समुद्र-तल पर उठने वाली लहरों को नापा भी जाता है। लहर के एक शिखिर (Crest) से दूसरी शिखिर तक की दरी को लहर का लम्बाई कहते हैं। द्रोणी से शिखिर तक की ऊँचाई को लहर की ऊँचाई कहते हैं। हवा के तेज़ या धीमी होने पर लहर का आकार भी छोटा या बड़ा हो सकता है। महासागरों में लहरों की लम्बाई ३००-६०० फीट तक और ऊँचाई २५-५० फीट तक होती है। प्रचण्ड आँधियों के कारण लहरों का कम्पन अधिक ऊँचा-नीचा होता है। लहर

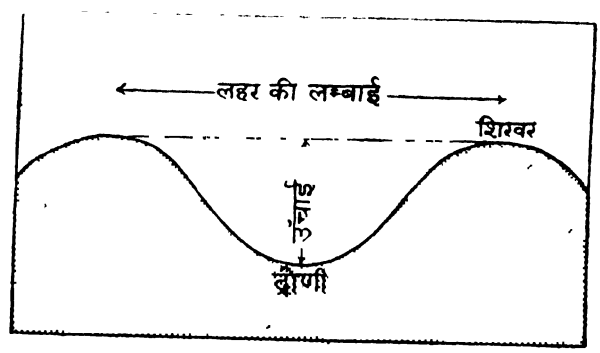

चित्र ११०. लहर का आकार।

का शिखिर जितना ही आगे बढ़ता है, द्रोणी उतनी ही पीछे को हटती है। तूफ़ान का वेग जितना अधिक होता है, लहरें उतनी ही ऊँची उठती है। जब लहरें तट के समीप पहुँचती है तो द्रोणी की गति नीचे धरती से टकराकर धीमी हो जाती है और शिखिर टूटकर फुहारों के रूप में बिखर जाती है। टूटी हुई शिखिर की चोट तट की चट्टानों पर पड़ती है जिससे चट्टानें चकनाचूर होती रहती है। कभी-कभी विपरीत दिशाओं में चलने वाली दो हवाओं के मिलने पर हवा में एक भँवर या बवण्डर उत्पन्न हो जाता है। इस बवण्डर के कारण जल से एक विशाल फौवारा-सा ऊँचा उठता है। यदि ऐसे समय लहरों की गति भी तीव्र हो तो जल का फौवारा बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ता है। जब कभी कोई जीव-जन्तु या नाव आदि इस फौवारे के बीच में पड़ जाते है तो उनका तुरन्त ही चूर्ण-सा बन जाता है। इस फौवारे को साक्षात् यमराज का अवतार ही मानना चाहिए।

धारायें (Currents)

३६४. धारायें क्या है ?—समुद्र के जल में नित्यप्रति नीचे-ऊपर की गति और हवा के झकोरों से तरंगें तो उत्पन्न होती ही रहती है। परन्तु इनके अतिरिक्त नियमित रूप से, निरन्तर और निश्चित दिशा में वेग के साथ सामुद्रिक धारायें भी बहा करती है। सागर के विशाल एवं विस्तृत वक्षस्थल पर ऐसी धाराये स्पष्ट मालूम पड़ती है और उनके दोनों किनारे भी साफ दिखाई देते है। इन सामुद्रिक धाराओं का प्रवाह-वेग स्थल की धाराओं से अधिक तीव्र होता है। कुछ मन्द धारायें तो २ मील प्रति घण्टा की गति से बहती हैं, परन्तु अधिकांश सामुद्रिक धारायें लगभग ६ मील प्रति घण्टे की गति से प्रवाहित होती हैं। इनकी गहराई और चौड़ाई भी स्थल की धाराओं से कई गुनी अधिक होती है।

३६५. धाराओं के उत्पन्न होने के कारण—इन धाराओं के उत्पन्न होने का प्रधान कारण सनातन हवाओं का चलना है। विभिन्न स्थलों पर पानी के घनत्व की विभिन्नता भी धाराओं को उत्पन्न करने का कारण बन जाती है। घनत्व की इस विभिन्नता के दो कारण होते है—(क) स्थान-स्थान पर समुद्र-जल के तापक्रम की असमानता; और (ख) स्थलखण्डों से घिरे हुए समुद्रों में खारीपन की विभिन्नता।

(क) सनातन हवाओं का प्रभाव—महासागरों में धाराओं के जन्म का प्रधान कारण सनातन हवायें है। हिन्द महासागर की धाराओं के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उत्तरी हिन्द महासागर में हवाये ग्रीष्म ऋतु में दक्षिण-पश्चिम से और शीत ऋतु में उत्तर-पूर्व से चला करती है। हिन्द महासागर के उत्तरी भाग की धारायें भी हवाओं के अनुसार अपनी प्रवाह-दिशा में परिवर्तन कर लेती है। उष्ण कटिबन्ध में व्यापारिक हवायें पूर्वी दिशा से पश्चिमी दिशा की ओर चलती है। अतः

महासागर का ऊपरी जल भी उसी दिशा में बहने लगता है। शीतोष्ण कटिबन्ध मे पछवा हवायें सतह के जल को पूर्व की ओर बहा ले जाती है।

(ख) घनत्व में विभिन्नता—(१)भूमध्यरेखा के समीप अधिक गरमी पड़ने के कारण जल गरम हो जाता है। गरम जल का घनत्व ठण्डे पानी से कम होता है। अतः ज्यों-ज्यों पानी अधिक गरम होता जाता है, वह अधिकाधिक हल्का होता है और ऊपर की ओर फैलता जाता है। इसके प्रतिकूल ध्रुव प्रदेशों में काफी ठण्ड रहती है। अतः वहाँ पर पानी का घनत्व अधिक होता है। फलस्वरूप कम घनत्व वाले पानी की सतह अधिक घनत्व वाले पानी की सतह से ऊँची रहती है और हल्का पानी भारी पानी की ओर प्रवाहित होता है। जब हल्का पानी ऊपर के तल से इधर-उधर चला जाता है, तो नीचे का पानी ऊपर आ जाता है और फिर वह गरम होकर उसी दिशा में बहता है। इस प्रकार भूमध्यरेखा के निकट जल की कमी हो जाती है, तो भारी पानी तली-ही-तली में ध्रुवप्रदेश से भूमध्यरेखा की ओर दौड़ने लगता है।

(२) जल जितना ही अधिक खारी होता है उतना ही अधिक भारी होता है। जैसा पहले बताया जा चुका है, भूमध्यरेखा के समीप जल कम खारा होता है अतः हल्का होता है। अधिक खारी पानी तली में बैठता है। फलतः खारी पानी की सतह नीची रहती है। जहाँ पर दो विभिन्न घनत्व वाले समुद्र मिलते है वहाँ दोनों के बीच धारायें चलने लगती हैं। ऊपरी तल पर कम खारी जल वाले सागर से अधिक खारी पानी वाले सागर की ओर धारा चलती है। पानी की इस कमी को दूर करने के लिए निम्न तल में अधिक खारी जल नीचे ही नीचे कम खारी पानी की ओर चलता है। स्थल से आबद्ध भूमध्यसागर अटलाण्टिक महासागर से अधिक खारी है। अतः अटलाण्टिक से एक जलधारा जिब्राल्टर में भूमध्यसागर की ओर जाती है। इस पानी के आ जाने से भूमध्यसागर का अधिक भारी पानी नीचे बैठ जाता है और नीचे ही-नीचे फिर अटलाण्टिक की ओर बहता है। इसी प्रकार की धारायें भूमध्यसागर के तल से अधिक खारी कालेसागर में तथा हिन्द महासागर से लालसागर में चलती हैं। फिर निम्न तल में कालेसागर से भूमध्यसागर को तथा लालसागर से हिन्द महासागर को नीचे-ही-नीचे धारायें समघनत्व स्थापित करने के लिए बहती हैं।

३९६. धाराओं की प्रवाह-दिशा में परिवर्तन—धाराओं के उत्पन्न हो जाने के बाद उनके प्रवाह की दिशा में बहुत से परिबर्तन हो जाते है। प्रवाह की दिशा बदलने के निम्न कारणों में से एक या अधिक कारण हो सकते हैं—

(१) पृथ्वी का आवर्तन, (२) तटरेखा की बनावट, (३) जलमग्न बाधायें, तथा (४) समुद्र की तली की बनावट।

फैरल के नियम के अनुसार पृथ्वी का आवर्तन सामुद्रिक धाराओं की दिशा

उत्तरी गोलार्द्ध में दाहिनी ओर तथा दक्षिणी गोलार्द्ध में बायीं ओर बदल देता है। यदि धारा के प्रवाह-मार्ग में कोई जलमग्न बाधा आ जाती है अथवा तटरेखा ही घुमाव दार हो तो धारा उस मार्ग से आगे नहीं बढ़ पाती, परन्तु उसे घूमना पड़ता है या

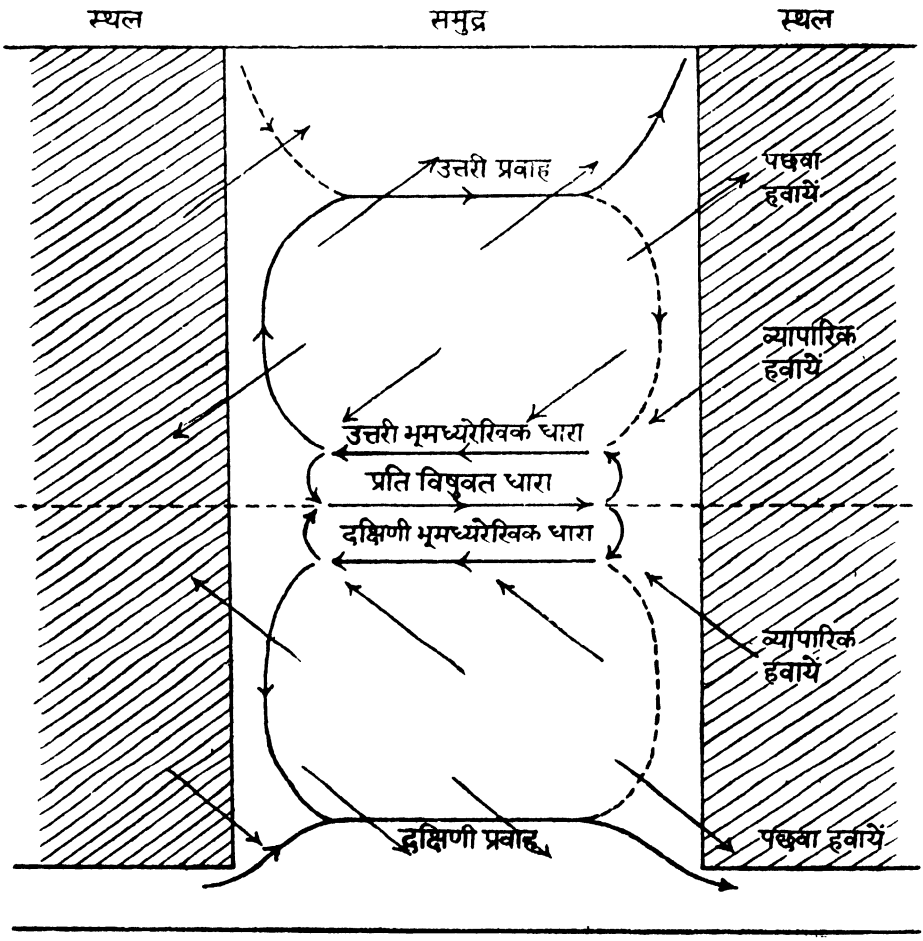

चित्र १११. धारायें।

धारा दो भागों में विभक्त हो जाती है। समुद्र की तली की आकृति के अनुसार भी धाराओं को घूमना पड़ता है।

३९७. अटलाण्टिक महासागर की जलधारायें—व्यापारिक हवाओं के बहने से अटलाण्टिक महासागर में भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण में दो धारायें उत्पन्न होती हैं जो पूर्व से पश्चिम की ओर बहती हैं। इनको क्रमशः 'उत्तरी विषुवत धारा' तथा 'दक्षिणी विषुवत धारा' कहते हैं। पश्चिम की ओर अधिक जल एकत्र हो जाने से इन धाराओं के बीच में पश्चिम से पूर्व की ओर एक धारा बहती है जिसे 'प्रति विषुवत धारा' कहते हैं। यह गिनी की खाड़ी के पास पहुँचकर दक्षिण को मुड़ जाती है और फिर दक्षिणी विषुवत धारा में मिल जाती है।

दक्षिणी विषुवत धारा दक्षिणी अमेरिका के पर्वी भाग से टकराकर दो भागों में बँट जाती है। एक ब्राजील धारा के नाम से दक्षिण की ओर प्रवाहित होती है और दूसरी उत्तर की ओर मेक्सिको की खाड़ी में जाती है। उत्तरी विषुवतरेखीय धारा पश्चिमी द्वीपसमूह के पास आकर दो भागो में बँट जाती है। इसका अधिकांश भाग उत्तर की ओर चला जाता है। दूसरा भाग पश्चिमी द्वीपो के बीच में होकर मेक्सिको की खाड़ी में चला जाता है।

मेक्सको की खाड़ी मे निरन्तर अपार जलराशि जमा होती रहती है। एक तो विषुवत धारा का जल यहाँ आता है। दूसरे मिसीसिपी आदि नदियाँ भी अपना जलभण्डार यहीं उँडेलती रहती है। यह जलपुंज फ्लोरिडा के सकीर्ण जलडमरूमध्य से बाहर को निकलता है जिससे **गल्फस्ट्रीम** का जन्म होता है। फ्लोरिडा प्रायद्वीप और क्यूबा द्वीप के बीच मे गल्फस्ट्रीम १०० मील चौड़ी और काफी गहरी होती है

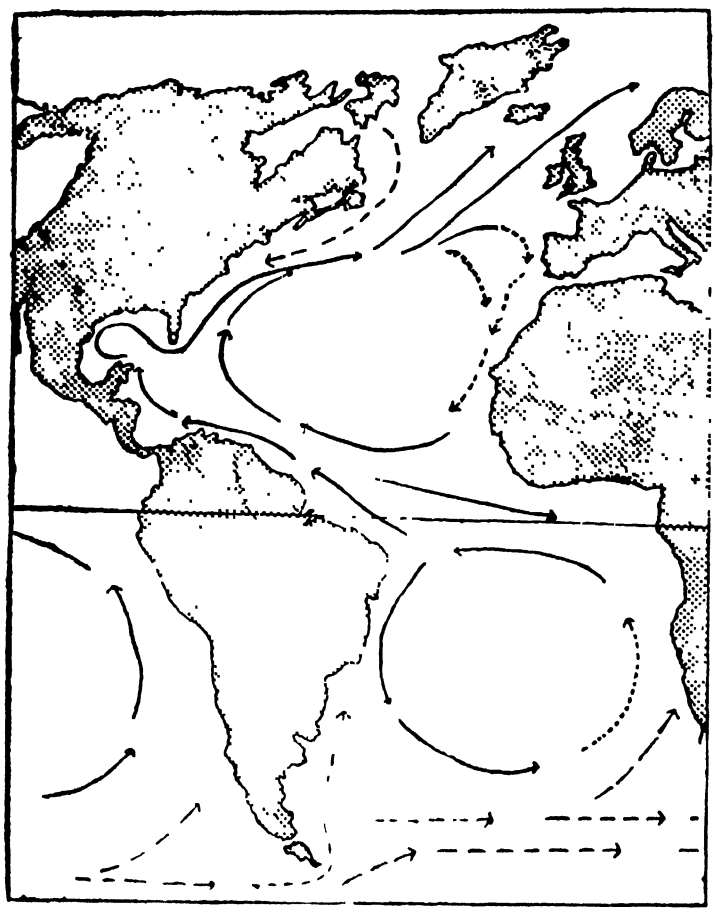

चित्र ११२. अटलाण्टिक की धारायें।

तथा इसका प्रवाह-वेग लगभग ५ मील प्रति घण्टा है। फ्लोरिडा जलडमरूमध्य से आगे बढ़ने पर यह धारा पश्चिमी द्वीपसमूह के उत्तर में होकर बहने वाली शाखा से

मिल जाती है। हेटरास अन्तरीप से यह दाहिनी ओर मुड़ने लगती है। नोवास्कोशिया प्रायद्वीप के दक्षिण से यह धारा अमेरिका के तट को छोड़कर पूर्व की ओर घूम जाती है और अटलाण्टिक महासागर में फैल जाती है। अटलाण्टिक में फैलने से धारा का जल कुछ ठण्डा और छिछला हो जाता है। अब इसको पछवा हवायें बहा ले जाती हैं और इसका नाम **उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह** (North Atlantic Drift) पड़ जाता है। स्पेन के बराबर आने पर इसके दो भाग हो जाते हैं। एक शाखा उत्तर की ओर जाती है। यह शाखा ब्रिटिश द्वीपसमूह का चक्कर काटकर नार्वे के तट को छूती हुई हिमसागर तक पहुँचती है। दूसरी शाखा दक्षिण की ओर घूम जाती है और स्पेन तथा अफ्रीका के उत्तर-पश्चिमी तट को छूती हुई कनारी द्वीपों से कुछ आगे 'उत्तर विषुवत धारा' में मिल जाती है। अफ्रीका के तट के समीप इस शाखा का नाम 'कनारी जलधारा' पड़ जाता है। इस प्रकार उत्तरी अटलाण्टिक में पानी के प्रवाह का एक बड़ा वृत्त बन जाता है जिसकी प्रवाह-दिशा घड़ी की सुइयों के घूमने की दिशा में होती है। बीच के शांत भाग में समुद्री घास उग आती है। अतः उसका नाम सारगोसा समुद्र पड़ गया है।

गल्फस्ट्रीम और उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह बड़ी महत्त्वपूर्ण धारायें हैं। इनके द्वारा अटलाण्टिक महासागर के उष्ण प्रदेशों की गरमी यूरोप के ठण्डे देशों को मिल जाती है। यूरोप के समीपस्थ स्थानीय सागरों और गरम जल के इस असीम स्रोत के तापक्रम में बड़ा अन्तर रहता है। गरमी के दिनों में तो यह अन्तर ६° फा० के आस-पास होता है परन्तु जाड़ों में २०° से ३०° फा० तक होता है। तापक्रम के इस भारी अन्तर के कारण पश्चिमी यूरोप का शीत काफी हल्का हो जाता है। यद्यपि इसका गरम पानी स्वयं यूरोपीय तट को नहीं छूता, परन्तु पछवा हवायें इसकी गरमी पर्याप्त मात्रा में यूरोप में पहुँचा देती हैं।

गल्फस्ट्रीम और उत्तरी अटलाण्टिक प्रवाह अटलाण्टिक से गरम जल ले जाकर निरन्तर हिमसागर (Arctic Ocean) में पहुँचाती रहती हैं। इस गरम पानी के रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए आर्कटिक सागर से ठण्डी जलधारा आती है जो ग्रीन-लैण्ड द्वीप के दोनों तरफ होकर दक्षिण की तरफ बहती है। बेफिन की खाड़ी के मार्ग से आने वाली धारा का नाम लैब्रेडर धारा है। यह ठण्डी धारा लैब्रेडर तट को छूती हुई उत्तरी अमेरिका के पूर्वी तट और गल्फस्ट्रीम के मध्य में बहती है तथा हेटरास द्वीप के समीप लुप्त हो जाती है। यह धारा ग्रीनलैण्ड तथा अन्य ध्रुव प्रदेशों से टूटकर आई हुई हिमशिलाओं (Iceberg) को बहा लाती है। कई-कई हिमशिलायें मीलों लम्बी होती हैं। उत्तरी अटलाण्टिक में चलने वाले कई जहाज इनसे टकराकर टूट चुके हैं। न्यू फाउण्डलैण्ड के समीप गल्फस्ट्रीम धारा की निकटता के

कारण यह धारा घना कुहरा उत्पन्न करती है। इसी धारा के कारण सेण्ट लॉरेंस नदी में कई महीनों तक बर्फ जमी रहती है। इसके प्रभाव से धरती पर भी बर्फ बिछी रहती है जिससे जाड़ों भर खेत बिना बोये पड़े रहते हैं।

दक्षिणी अटलाण्टिक में ब्राजील के सेंटराक अन्तरीप से दक्षिणी विषुवत धारा का एक भाग दक्षिण की ओर मुड़ जाता है। इसका नाम ब्राजील धारा है। प्लेट नदी के मुहाने के पास यह धारा पछवा हवाओं के प्रभाव-क्षेत्र में आती है और दक्षिण-पूर्व की ओर बहने लगती है। दक्षिणी अफ्रीका के पश्चिमी तट के पास अण्टार्कटिक सागर के पानी से मिलकर यह धारा उत्तर को घूम जाती है। यहाँ धारा ठण्डे पानी से मिलने के कारण ठण्डी हो जाती है। इसका नाम बेंगुला धारा है। आगे चलकर यह गरम होकर दक्षिणी विषुवत धारा से मिल जाती है और पूरा वृत्त बनाती है। इस चक्कर के बीच का समुद्र शांत रहता है।

लैब्रेडर ठण्डी धारा के समान ही दक्षिणी हिम महासागर से एक ठण्डी धारा फाकलैण्ड द्वीप के पास से आती है। इसका नाम फाकलैण्ड जलधारा है। दक्षिणी अमेरिका के पूर्वी तट पर यह धारा कुछ दूर तक तट और ब्राजील धारा के बीच में बहती है। आगे चलकर भारी होने के कारण सतह के नीचे बहने लगती है और धीरे-धीरे लुप्त हो जाती है।

३६८. प्रशान्त महासागर की धारायें—प्रशान्त महासागर की धारायें अटलाण्टिक महासागर की धाराओं के समान ही बहती हैं। महाद्वीपों के तट की बनावट अथवा जलमग्न बाधाओं के कारण उनकी दिशा में कुछ स्थानीय परिवर्तन हो गये हैं। यहाँ पर भी भूमध्यरेखा के उत्तर और दक्षिण में क्रमशः उत्तरी विषुवत धारा और दक्षिणी विषुवत धारा बहती है। भूमध्यरेखा के शान्त क्षेत्र में हवायें इतनी प्रबल नहीं रहतीं कि वे धाराओं के एकत्रित जल को पश्चिम की ओर बहाती रहें। अतः उत्तरी विषुवत एवं दक्षिणी विषुवत धाराओं के बीच में प्रति विषुवत धारा बहती है। यह धारा कुछ निर्बल होती है और पूर्व की ओर चलती है।

उत्तरी विषुवत धारा फिलिपाइन्स द्वीपों के समीप उत्तर को मुड़ती है। जापान के पास इसका नाम क्यूरोसिवो धारा है। ४५° उत्तरी अक्षांश से पछवा हवाओं के क्षेत्र में आकर पश्चिम को घूम जाती है तथा प्रशान्त महासागर को पार कर उत्तरी अमेरिका के पश्चिमी तट को गरम करती है। बेंकोवर द्वीप के सामने इसके दो भाग हो जाते है—एक शाखा उत्तर की ओर जाती है और अलास्का के सहारे चलकर वापिस मुड़ जाती है तथा दूसरी शाखा दक्षिण को लौटती है। इसका नाम कैलीफोर्निया धारा है। यह धारा दक्षिण की ओर बहती हुई पश्चिम को घूम-कर उत्तरी विषुवत धारा में मिल जाती है।

दक्षिणी प्रशान्त महासागर में द्वीपों की संख्या अधिक है। अतः दक्षिणी विषुवत धारा कई शाखाओं में बँट जाती है। एक गरम शाखा आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट को गरम बनाती है। ये शाखायें दक्षिण की ओर बहती है। पछव. हवाओं के प्रवाह-क्षेत्र में आकर ये पूर्व को घूम जाती है। दक्षिणी अमेरिका के तट के पास पहुँचकर ये उत्तर की ओर घूमती हैं। यहाँ पर ठण्डे अक्षांशो के प्रभाव से तथा दक्षिणी हिम महासागर का जल मिल जाने से यह ठण्डी हो जाती है। यहाँ इसका नाम ठण्डी हम्बोल्ट धारा या पेरू की धारा पड़ गया है। इसके पश्चात् दक्षिणी विषवत धारा में मिलकर पूरा वृत्त बनाती है।

लेब्रेडर धारा की तरह प्रशान्त में भी उत्तरी हिम महासागर से बेहरिंग जलडमरूमध्य में होती हुई एशिया के तट के सहारे बहती है। इस धारा का नाम कमचटका जलधारा है। इसके साथ भी हिमशिलायें बहती है। इसी से अमूर नदी में कई महीनों तक बर्फ जमी रहती है। ब्लाडीवोस्टक नामक बन्दरगाह बर्फ के कारण बहुत दिनों तक बन्द रहता है। एशिया के पूर्वी तट और क्यूरोसिवो के मध्य में कुछ दूर बहकर यह धारा लुप्त हो जाती है।

दक्षिणी हिम महासागर से भी दक्षिणी प्रशान्त में ठण्डी धारा आती है जो तस्मानिया और न्यूज़ीलैण्ड के बीच में होकर बहती है। परन्तु दक्षिणी प्रशान्त के इस भाग में स्थलभाग कम है अतः इस धारा का अधिक विस्तार नहीं हो पाता।

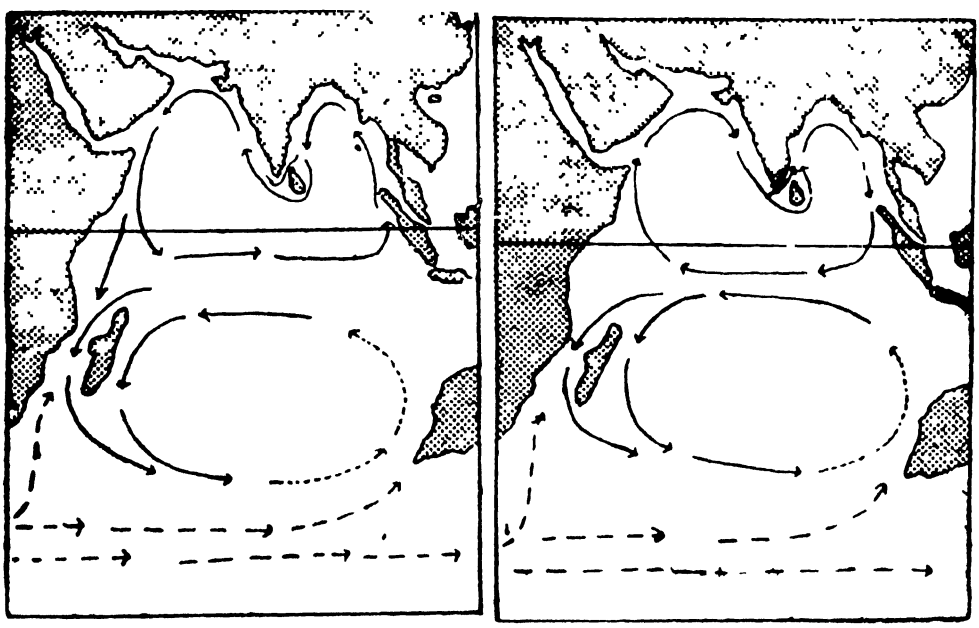

चित्र ११३. जाड़ा और ग्रीष्म।

३९९. हिन्द महासागर की धारायें—हिन्द महासागर की धाराओं पर हवाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। जब उत्तरी गोलार्द्ध में शीत ऋतु होती है, उस

समय भूमध्यरेखा के उत्तर में उत्तर-पूर्वी मानसून चलता है। इसके प्रभाव से बंगाल की खाड़ी में दक्षिण-पश्चिम की ओर जलधारा बहती है। यह धारा भारत के पश्चिमी तट के सहारे-सहारे बहकर तट की बाधा से पश्चिम को मुड़ती है और अफ्रीका के समीप पहुँचकर दक्षिण को बहने लगती है। इसके पश्चात् दक्षिणी धाराओं के प्रवाह में मिल जाती है। प्रति विषुवत धारा पश्चिम से पूर्व की ओर ही बहती है।

किन्तु जब उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु होती है, उस समय भूमध्यरेखा के उत्तर में दक्षिण-पश्चिमी मानसून चलती है। इसके प्रभाव से धारा की प्रवाह-दिशा बिलकुल विपरीत हो जाती है। अब धारा पूर्व की ओर बहती है। यह धारा अफ्रीका के पूर्वीतट से फारस की खाड़ी के समीप होती हुई भारतीय प्रायद्वीप की परिक्रमा करती है। प्राचीन काल में भारत को आने वाले जहाज़ इसी धारा की मदद से अफ्रीका से भारत को आते थे। इस ऋतु में प्रति विषुवत धारा नहीं बनती।

विषुवत रेखा के दक्षिण में हवाओं की दिशा में ऋतुओं के अनुसार विशेष अन्तर नहीं पड़ता। अतः वहाँ धारायें दक्षिणी अटलाण्टिक की तरह ही चलती हैं। दक्षिणी विषुवत धारा पश्चिम को बहकर दक्षिणी अफ्रीका के पूर्वी तट के समीप दक्षिण को मुड़ती है और मैडागास्कर द्वीप के दोनों ओर बहती है। यहाँ पर इस धारा का नाम मोजम्बिक जलधारा है। यह धारा दक्षिणी अफ्रीका के पूर्वी तट को गरम बनाती है। आस्ट्रेलिया के पश्चिमी तट पर यह ठण्डी हो जाती है और यहाँ इसका नाम पश्चिमी आस्ट्रेलियन धारा है।

तीसवां अध्याय

समुद्र के जल में गतियाँ (२)

ज्वार-भाटा (Tides)

४००. ज्वार-भाटा क्या है ?—प्रत्येक समुद्र का जल नित्य नियमित रूप से अपनी सतह या तल से ऊँचा उठ जाता है और फिर नियमानुसार नीचे उतर जाता है। जलमण्डल की इस बाढ़ या ऊँचे चढ़ने को 'ज्वार' तथा उतार या नीचे गिर जाने को 'भाटा' कहते है।

४०१. ज्वार-भाटा और चन्द्रमा का आकर्षण—ज्वारभाटा मुख्यतया चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति के कारण ही आया करते हैं। सूर्य की आकर्षण-शक्ति भी ज्वार-भाटे पर प्रभाव डालती है, परन्तु चन्द्रमा के प्रभाव की तुलना में उसका प्रभाव नगण्य ही है। यह सचमुच आश्चर्यजनक है कि चन्द्रमा से २६० लाख गुना भारी सूर्य का प्रभाव चन्द्रमा के प्रभाव की तुलना में नगण्य ठहरे। आकर्षण-शक्ति के आविष्कारक महान् न्यूटन ने बताया था कि सृष्टि के प्रत्येक अणु में आकर्षण पाया जाता है तथा इस ब्रह्माण्ड की कोई वस्तु जितनी अधिक बड़ी होगी, उतनी ही अधिक उसकी आकर्षण-शक्ति होगी। इस हिसाब से सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति चन्द्रमा से २६० लाख गुनी होगी। परन्तु फिर भी इसके अधिक प्रभावोत्पादक न होने के निम्न कारण हैं :—

(क) यद्यपि चन्द्रमा सूर्य से बहुत छोटा है, तथापि वह सूर्य की अपेक्षा पृथ्वी के अधिक निकट है। चन्द्रमा पृथ्वी से लगभग २½ लाख मील दूर और सूर्य नौ करोड़ तीस लाख मील दूर है। इस प्रकार पृथ्वी से सूर्य की दूरी चन्द्रमा की दूरी से ३७२ गुनी अधिक है। इस सम्बन्ध में न्यूटन का नियम यह है कि आकर्षण-शक्ति का प्रभाव दो स्थानों की दूरी के वर्ग के विलोम के अनुसार होता है। इस नियम के अनुसार सूर्य पृथ्वी को चन्द्रमा की अपेक्षा केवल १७५ गुनी अधिक शक्ति से खींचता है।

(ख) ज्वार-भाटे की उत्पत्ति का मुख्य कारण चन्द्रमा से पृथ्वी के केन्द्र तथा उसके धरातल की दूरियों का अन्तर है। पृथ्वी के केन्द्र और धरातल में ४,००० मील का अन्तर है। अतः सूर्य अथवा चन्द्रमा से पृथ्वी के ठीक सामने का स्थान उसके केन्द्र की अपेक्षा ४,००० मील अधिक समीप रहता है। सूर्य और पृथ्वी के बीच में ९,३०,००,००० मील का अन्तर है। इस विशाल दूरी में ४,००० मील का अन्तर कोई अर्थ नहीं रखता। अतः सूर्य का खिचाव पृथ्वी के केन्द्र तथा सामने वाले स्थान पर लगभग एक समान ही होता है। चन्द्रमा और पृथ्वी के बीच २½ लाख मील से भी

कम अन्तर है। इस दूरी में ४,००० मील का कुछ प्रभाव होता है। अतः चन्द्रमा का खिचाव प्रभावशाली होता है और सूर्य के खिचाव से २½ गुना अधिक होता है।

चन्द्रमा पृथ्वी को अपनी आकर्षण-शक्ति से खींचता है, परन्तु पृथ्वी पर सर्वत्र जल-ही-जल नहीं है। इसके लगभग एक-तिहाई भाग पर स्थल है। स्थल-भाग ठोस है। ठोस के कण एक दूसरे से पूरे तौर से सटे रहते है। उनके अन्दर आपस की एक ज़बर्दस्त आकर्षण-शक्ति काम करती है जो एक कण को दूसरे से बाँधे रहती है। अतः स्थल पर खिचाव का प्रभाव दृष्टिगोचर नहीं होता। परन्तु द्रव के कण इस प्रकार एक दूसरे से गुँथे हुए नहीं रहते। वे फिसलकर भागने का प्रयत्न करते हैं। अतः जलमण्डल पर आकर्षण का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

४०२. ज्वार-भाटा कैसे उत्पन्न होता है ?—जैसा कि पहले कहा जा चुका है पृथ्वी के केन्द्र और धरातल में ४,००० मील का अन्तर है। अतः पृथ्वी का जो भाग चन्द्रमा के सामने पड़ता है वह पृथ्वी के केन्द्र की अपेक्षा चन्द्रमा से ४,००० मील अधिक समीप होता है और यहाँ खिचाव सबसे अधिक होता है। इस खिचाव के कारण जल इधर-उधर से खिचकर ऊँचा उठता है और आसपास के तल से काफी ऊँचा हो जाता है। इस प्रकार चन्द्रमा के सामने वाले स्थान पर ज्वार उत्पन्न हो जाता है। चन्द्रमा का आकर्षण प्रत्यक्ष रूप से इस ज्वार को उत्पन्न करता है।

पृथ्वी का वह भाग जो चन्द्रमा से विपरीत दिशा में होता है पृथ्वी के केन्द्र की अपेक्षा चन्द्रमा से ४,००० मील दूर होता है। चूँकि पृथ्वी ठोस है, अतः चन्द्रमा के आकर्षण का प्रभाव सम्पूर्ण पृथ्वी-पिण्ड पर पड़ता है। इस आकर्षण के कारण चन्द्रमा के विपरीत दिशा का स्थल चन्द्रमा की ओर खिच जाता है और जल पीछे रह जाता है जिससे वहाँ पर भी जल आसपास के तल से ऊँचा उठ जाता है। इस प्रकार पृथ्वी पर चन्द्रमा की विपरीत दिशा में दूसरा ज्वार उत्पन्न होता है। यह ज्वार जल के सीधे खिचाव से नहीं होता, परन्तु खिचाव उसका अप्रत्यक्ष कारण होता है।

इस प्रकार एक ही समय में पृथ्वीतल पर दो ज्वार उत्पन्न होते हैं—**एक ठीक चन्द्रमा के सामने और दूसरा उससे विपरीत दिशा में**। पृथ्वी के आवर्तन (Rotation) के कारण उसका प्रत्येक स्थान दिन-रात में एक बार चन्द्रमा के सम्मुख जाता है और एक बार उससे विपरीत दिशा में होता है। अतः प्रत्येक स्थान पर दिन-रात में दो बार ज्वार आता है।

चन्द्रमा के सामने और विपरीत इन दो स्थानों के बीच में पृथ्वीतल पर दो स्थान ऐसे होते है जहाँ पर चन्द्रमा क्षितिज पर होता है। इन दोनों स्थानों की स्थिति ऐसी होती है कि चन्द्रमा से पृथ्वी का केन्द्र और इन स्थानों की दूरी बराबर होती है।

फलतः इन स्थानों पर खिचाव केन्द्र के समान ही होती है। इस कारण जल और पृथ्वी दोनों ही अपने स्थानों पर रहते है। केवल यहाँ का जल खिचकर ज्वार वाले स्थानों की ओर चला जाता है। अतः इन दोनों स्थानों पर भाटा आता है। पृथ्वी के आवर्तन के कारण प्रत्येक स्थान २४ घण्टों में इन दोनों स्थितियों में पहुँचता है। अतः दिन-रात में दो बार भाटा प्रत्येक स्थान पर आता है।

चूंकि पृथ्वी २४ घण्टे में अपनी धुरी पर एक चक्कर लगाती है, इसलिए प्रत्येक स्थान पर छः-छः घण्टे के पश्चात् ज्वार और भाटा आना चाहिए। परन्तु ज्वार और भाटे के बीच में छः घण्टे तेरह मिनट का अन्तर होता है। इसका कारण यह है कि चन्द्रमा एक ही स्थान पर स्थिर नही रहता, बल्कि लगभग २८ दिन में पृथ्वी की परिक्रमा करता है। इस कारण एक दिन में चन्द्रमा अपने स्थान से कुछ आगे बढ़ जाता है। फलस्वरूप किसी स्थान को चन्द्रमा के सामने की स्थिति से दोबारा उसके सामने पहुँचने में २४ घण्टे और ५२ मिनट लगते हैं। इस बीच में उस स्थान पर दो बार ज्वार आ लेता है। अतः दो ज्वारों के बीच में १२ घण्टे २५ मिनट का अन्तर होगा तथा ज्वार और भाटे में ६ घण्टे १३ मिनट का अन्तर होगा।

यदि पृथ्वी स्थिर होती अथवा बहुत ही मन्द गति से घूमती होती, तो चन्द्रमा के ठीक सामने वाले जल मे ही ज्वार सबसे ऊँची होती। परन्तु पृथ्वी के तीव्र गति से नाचते रहने के कारण चन्द्रमा के ठीक सामने वाले स्थान पर सबसे ऊँची ज्वार नहीं आती। उस स्थिति के कई घण्टे बाद जब चन्द्रमा कुछ नीचा दिखाई देता है तब सर्वोच्च ज्वार होता है। ज्वार की यह लहर चन्द्रमा के साथ प्रत्येक स्थान पर पहुँचती है।

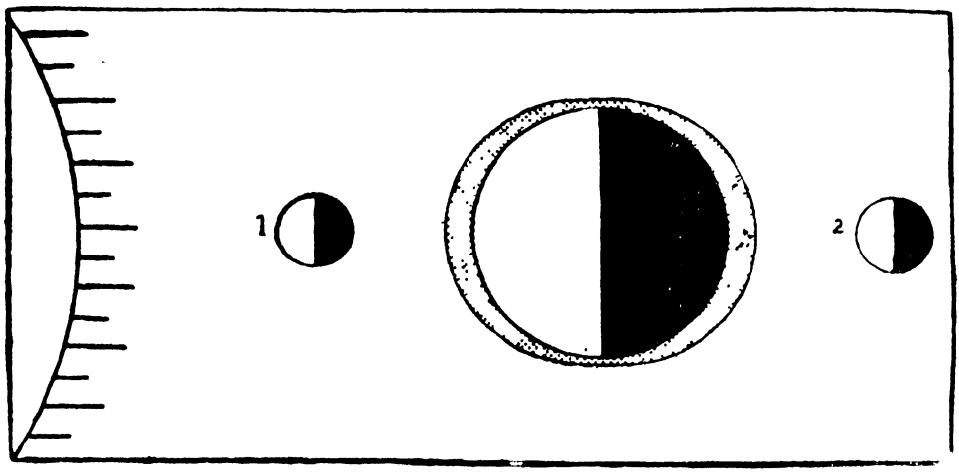

चित्र ११४. बृहत् ज्वार।

४०३. बृहत् ज्वार और लघु ज्वार (Spring Tide and Neap Tide)—ज्वार-भाटे के उत्पन्न होने में चन्द्रमा की आकर्षण-शक्ति ही मुख्य होती है। परन्तु

सूर्य की आकर्षण-शक्ति ज्वार-भाटे के वेग पर प्रभाव डालती है। अमावस्या (New Moon) और पूर्णिमा (Full Moon) के दिन चन्द्रमा, सूर्य और पृथ्वी तीनों एक ही सीधी रेखा में होते हैं। अतः इन तिथियों को दोनों की आकर्षण-शक्तियों का संयुक्त प्रभाव पृथ्वी पर पड़ता है। फलस्वरूप इन तिथियों को ज्वार अन्य दिनों की अपेक्षा अधिक ऊँचा उठता है। इसे बृहत ज्वार या सबसे अधिक ऊँचा ज्वार कहते हैं।

इसके विपरीत शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष की अष्टमी को चन्द्रमा और सूर्य की स्थिति पृथ्वी के केन्द्र से समकोण पर होती है जिससे दोनों पिण्डों की आकर्षण-

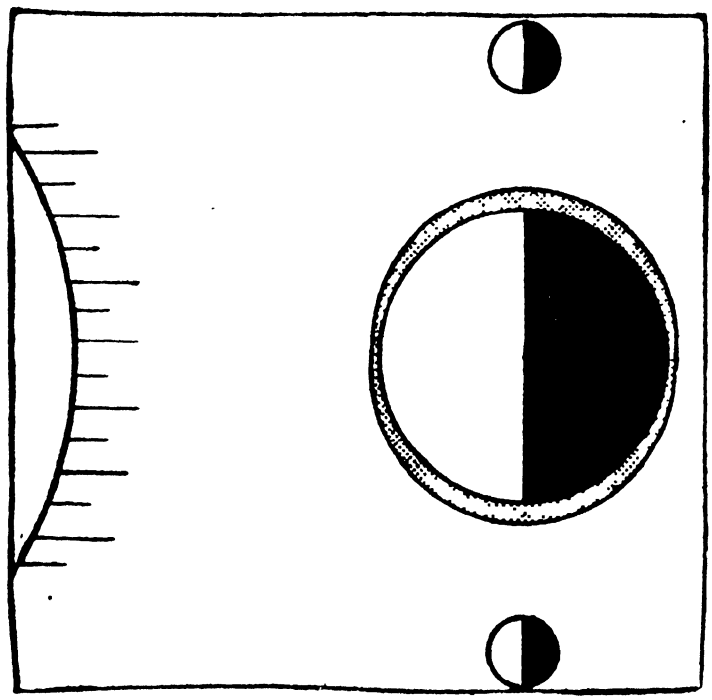

चित्र ११५. लघु ज्वार।

शक्तियाँ एक दूसरे के विरुद्ध प्रभाव डालती हैं। फलतः चन्द्रमा के सामने वाले स्थान पर कम ऊँचा ज्वार आता है जिसे लघु ज्वार कहते है।

४०४. **ज्वार की ऊँचाई**—यदि सम्पूर्ण पृथ्वीतल के ऊपर जल-ही-जल होता तो उपर्युक्त सिद्धान्तों के अनुसार ज्वार की लहर चन्द्रमा के साथ १२ घण्टे २५ मिनट के बाद सब स्थानों पर पहुँच जाती। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। ज्वार की ऊँचाई और दो ज्वारों के बीच का समय विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग पाया गया है। इसके कई कारण है जिनमें मुख्य कारण निम्न हैं :—

(क) पृथ्वी के जलभाग महाद्वीपों के बीच में आ जाने से एक-दूसरे से अलग किये हुए है। अतः ज्वार अलग-अलग समुद्रों में उठते हैं। ज्वार की लहर खुले महासागरों में ५ फीट से १० फीट ऊँची उठती है। परन्तु भूमध्यसागर और बाल्टिक

सागर जैसे स्थल के घिरे हुए समुद्रों में ज्वार बहुत ही कम ऊँचा उठता है। मैक्सिको की खाड़ी में २ फीट ऊँची लहर उठती है। बड़ी झीलों में बहुत ही हल्का ज्वार होता है। मिशिगन झील में २ इंच ऊँचा ज्वार आया करता है। छोटी झीलों में तो ज्वार का प्रभाव मालूम भी नहीं होता।

(ख) उथले तटीय सागरों की ओर जब ज्वार बढ़ता है, तो जलमग्न तट उसके मार्ग में बाधा डालता है, किन्तु पीछे से ज्वार की शक्ति इसको आगे धकेलती है। फलतः ज्वार की लम्बाई तो घट जाती है, परन्तु उसकी ऊँचाई बढ़ जाती है। साथ ही ज्वार के बढ़ने के वेग में कमी हो जाती है। अटलाण्टिक महासागर में विषुवत रेखा के पास लगभग ३ फीट ऊँची ज्वार होती है जो लगभग ५०० मील प्रति घण्टा के हिसाब से आगे बढ़ती है। यह ज्वार १४ घण्टों में भूमध्यरेखा के पास से दक्षिण-पश्चिम यूरोप तक पहुँच जाती है। यहाँ पर जल उथला होने के कारण ज्वार की गति मन्द हो जाती है और समुद्र की तली की बनावट के अनुसार कई भागों में विभक्त हो जाती है। आयरलैण्ड के छिछले सागर में ज्वार का वेग लगभग १०० मील प्रति घण्टा रह जाता है परन्तु उसकी ऊँचाई लगभग ४० फीट हो जाती है।

(ग) तट की बनावट में यदि टेढ़ा-मेढ़ापन होता है और उसमें कटानें अधिक होती हैं तो ज्वार के मार्ग की दिशा और ऊँचाई पर गहरा प्रभाव पड़ता है। स्थल से आबद्ध संकीर्ण खाड़ियों में यह प्रभाव स्पष्ट मालूम पड़ता है। जिन खाडियों का मुँह चौड़ा होता है और भीतर की ओर संकीर्ण होने लगता है उनमें पानी अधिक चौड़े भाग से प्रवेश कर कम चौडे भाग की तरफ एकत्र होने लगता है। फलतः ज्वार की ऊँचाई बढ़ने लगती है। लिवरपूल की खाड़ी में २९ फीट ऊँची ज्वार आती है। नोवांस्कोशिया के पास फण्डी की खाड़ी मे, जिसकी बनावट फनल के समान मुँह पर चौड़ी और ४२ फीट ऊँची होती है, परन्तु बृहत् ज्वार के समय इसकी ऊँचाई ५० मील तक हो जाती है।

४०५. **ज्वार का समय**—जिस प्रकार विभिन्न तटों पर ज्वार की ऊँचाई में अन्तर होता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न तटों पर ज्वार-भाटे के आने का समय भी भिन्न होता है। यहाँ यह बात भलीभाँति समझ लेनी चाहिए कि प्रत्येक स्थान पर ज्वार और भाटा के आने का जो निश्चित समय होता है उसमें बिलकुल अन्तर नहीं होता। किनारे का साधारण निवासी भी जानता है कि ज्वार किस समय आयेगा और कितनी दूर तक पानी चढ़ेगा। हाँ, पानी के चढ़ाव-उतार के समय के अन्तर में स्थान-स्थान पर फर्क पड़ेगा। इसके कई कारण हैं जिनमें ज्वार की गति मुख्य है। ज्वार की गति भी कई बातों के अनुसार कम या अधिक होती है। परन्तु जल की गहराई और

स्थल की दूरी उस पर विशेष प्रभाव डालती है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, गहरे जल में ज्वार की गति अधिक होती है और उथले समुद्रों में बाधा आ जाने से कम होती है। फिर स्थलभाग की बनावट और उसकी दूरी का भी ज्वार की गति पर प्रभाव पड़ता है। स्थल के तट की बनावट के कारण ज्वार के बढ़ने की दिशा में भी परिवर्तन हो जाता है, अतः उसकी गति मन्द हो जाती है।

उपर्युक्त कारणों से ज्वार भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न समय पर पहुँचता है तथा उनके आने के समय में फर्क पड़ जाता है। उदाहरण के लिए ब्रिटिश द्वीपसमूह की बनावट के कारण अटलाण्टिक से आने वाले ज्वार की कई शाखायें हो जाती हैं। आयरलैण्ड द्वीप से एक शाखा उत्तर की ओर जाती है और दूसरे दक्षिण को। उत्तर की ओर जाने वाली शाखा ब्रिटिश द्वीपसमूह की परिक्रमा करती हुई १९ घण्टे बाद टेम्स नदी के मुहाने पर पहुँचती है। दूसरी दक्षिण की ओर जाने वाली शाखा के मार्ग में वाइट द्वीप पड़ता है जिससे साउथैम्पटन बन्दरगाह पर ज्वार दो मार्गों से जाता है। एक तो सोलेंट होते हुए पश्चिमी मार्ग से और दूसरी स्पिटहैड होते हुए पूर्वी मार्ग से। अतः साउथैम्पटन के पास एक दिन और रात में चार बार ज्वार आता है। पश्चिमी मार्ग के आने वाले ज्वार के दो घण्टे बाद ही पूर्वी ज्वार का पानी चढ़ने लगता है। अतः खाड़ी में पहले ज्वार का पानी उतरने ही नहीं पाता कि दूसरा ज्वार प्रारम्भ हो जाता है जिससे इस खाड़ी में ज्वार का जल अधिक समय तक रुका रहता है।

इसके विपरीत ताहिती द्वीप चारों ओर से सोसायटी द्वीप-पुंज, तुआमोटो द्वीपों, आस्ट्रल द्वीपों और कुक द्वीपों से घिरा है तथा यहाँ समुद्र की तली की बनावट इस प्रकार की है कि चन्द्रमा द्वारा यहाँ ज्वार उत्पन्न नहीं होता। केवल सूर्य के आकर्षण से नगण्य-सा ज्वार होता है जो १२ घण्टों के बाद आता है।

स्थल-भागों से घिरे हुए कुछ तटों पर दिनरात में एक बार ही ज्वार आता है। इसका कारण यह है कि पृथ्वी अपनी कीली पर पश्चिम से पूर्व की ओर दौड़ रही है। अतः चन्द्रमा हमें पूर्व से पश्चिम को चलता हुआ प्रतीत होता है। चन्द्रमा की इस गति से ज्वार भी वास्तव में पूर्व से पश्चिम की ओर चलता है। ज्वार का पूर्व से पश्चिम को प्रवाह हमें दक्षिणी गोलार्द्ध में, जहाँ जल की अधिकता है, स्पष्ट मालूम पड़ता है। उत्तरी गोलार्द्ध में स्थलखण्डों के आ जाने से ज्वार का पूर्व से पश्चिम को प्रवाह नहीं मालूम होता किन्तु अटलाण्टिक महासागर में अफ्रीका के दक्षिणी तट से टकराकर दक्षिण से उत्तर की ओर हो जाता है। इसी प्रकार दक्षिणी अमेरिका के दक्षिणी अन्तरीप केप हार्न से टकराकर प्रशान्त महासागर में भी ज्वार का प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर हो जाता है। चूंकि ज्वार का वेग दक्षिण से उत्तर की ओर रहता है, अतः इन दोनों महासागरों के पश्चिमी भाग पर स्थल से

घिरे हुए समुद्रों में ज्वार का ज़ोर कम होता है। अटलाण्टिक महासागर के पश्चिमी भाग में स्थल से घिरे हुए कैरेबियन सागर और मेक्सिको की खाड़ी में ज्वार का एक बार ही प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार प्रशान्त महासागर में दक्षिणी एशिया के कुछ भागों में ज्वार एक बार ही आता है।

४०६. **नदियों में ज्वार का प्रभाव**—जिन नदियो का मुहाना खुला और चौड़ा होता है उनमें ज्वार की लहर मुहाने से नदियों के भीतर की ओर बढ़ने लगती है। नदी के पानी का बहाव समुद्र की ओर होता है, परन्तु ज्वार की बढ़ती हुई लहर उसे पीछे को धकेलती है। अत: पानी की ऊँचाई बढ़ जाती है और उसका बहाव उल्टा हो जाता है। पानी की इस ऊँची दीवाल को बोर (Tidal Bore) कहते है। हुगली नदी में इस प्रकार की ऊँची बोर सदैव नियमित समय पर आया करती है जिससे बड़े-बड़े समुद्री जहाज कलकत्ता तक चले जाते है। इस प्रकार की ज्वार बोर याँगटिसीक्याँग, अमेजन, सेण्ट लॉरेंस, हडसन आदि बहुत-सी नदियों में आती है। ब्रिटेन की सेवर्न नदी में जल की ९ फीट ऊँची दीवाल उठ जाती है। याँगटिसीक्याँग नदी में बोर के समय यदि चक्रवात हवाओं के झकोरे भी उठ रहे हो तो जल की दीवार की ऊँचाई २५ फीट तक हो जाती है। इस बोर का वेग इतना अधिक होता है कि जहाज़ के लंगर के मोटे-मोटे रस्से कच्चे धागे की तरह टूट जाते है और बोर की शक्ति से जहाज़ नष्ट हो जाता है। इसी कारण बोर आने के समय जहाज़ के लंगर की रस्सियाँ ढीली रखी जाती है।

४०७. **ज्वार-भाटे का मानव-जीवन पर प्रभाव**—(क) ज्वार-भाटे से उथले समुद्रो, खाड़ियों तथा नदी के मुहानो पर स्थित बन्दरगाहो का अत्यधिक लाभ पहुँचता है। बड़े-बड़े समुद्री जहाज़ उथले जल वाले बन्दरगाहो के पास तक नही पहुँच पाते और बन्दरगाहों से दूर पर ही लंगर डाले खडे रहते है। ज्वार आने पर जो जल-वृद्धि होती है उससे ये जहाज़ सुगमता से बन्दरगाहो तक पहुँच जाते है और सामान उतार तथा चढ़ाकर भाटे के साथ वापिस चले आते हैं। कलकत्ता और लन्दन आदि शहर समुद्र से दूर नदियो के किनारे पर स्थित है, परन्तु ज्वार-भाटे के प्रभाव से जहाज़ों के वहाँ तक पहुँच जाने के कारण बन्दरगाह कहलाते है। ज्वार के साथ जाने तथा भाटे के साथ लौटने से जहाज़ों और नावों को शक्ति पैदा करने में कोयला आदि खर्च नहीं करना पड़ता।

(ख) भाटे के साथ नदियों के मुहाने की मिट्टी बही चली जाती है जिससे नदियों का मुहाना हमेशा धुलता रहता है और बन्दरगाह हमेशा खुला रहता है।

(ग) ज्वार की लहर में काफी शक्ति होती है। कुछ स्थानो पर इस जल को एकत्र करने के लिए बाँध बना दिये है। ज्वार से इन बाँधों के भीतर जल भर जाता है और उससे बिजली बनाई जाती है

इकतीसवाँ अध्याय

प्रवाल-द्वीप (Coral Islands)

४०८. **प्रवाल क्या है ?**—गर्म समुद्रो मे प्रवाल नाम के कीडो ने असख्य द्वीपो की रचना कर डाली है। इन द्वीपो को प्रवाल-द्वीप कहते है। इन द्वीपो के बनने की कहानी अत्यन्त मनोरंजक है। यह तो हम जानते ही है कि समस्त प्रकार की जीवन-लीलाओं का केन्द्र **जीवनमूल** (Protoplasm) है। सुप्रसिद्ध तत्वज्ञानी हक्सले का मत है कि जीवनमूल ही जीवन का भौतिक आधार है। जीवनमूल सामान्यतया **३५° फा० से लेकर ९५° फा० तक** की गरमी मे जीवित रहता है। स्पष्ट है कि कम तापक्रम वाले गहरे महासागरो मे जीवनमूल नही पनपता। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि समुद्र के जीव-जन्तु प्राय. गरम और छिछले समुद्रो में ही अधिक संख्या में पाये जा सकते है।

४०९. **प्रवाल कीड़े कहाँ पाये जाते है**—अस्तु, प्रवाल कीड़ा भी ६८° फा० से कम तापक्रम वाले जल मे जीवित नही रह सकता। यह कीड़े अधिकतर उन्हीं स्थानों में पाये जाते है जहाँ जल का तापक्रम ६८° से ऊपर है और गहराई भी १५०फीट से अधिक नही है। प्रवाल कीड़ा मीठे और गँदले जल म भी जीवित नही रह सकता। अतः नदियों के मुहाने के समीप भी प्रवाल-द्वीप नही बन सकते और जितनी दूर तक नदियों के ताज़ा जल की पहुँच हो जाती है उतनी दूर तक प्रवाल कीड़ा द्वीपों का निर्माण नही करता। आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट पर बनी हुई मूगे की दीवार तटभूमि से १० मील दूर है और जहाँ-जहाँ यह दीवार नदियों के मुहाने के सामने पड़ती है, उन्ही स्थानों पर यह टूटी हुई है। इन टूटे भागों में होकर ही समुद्री जहाज़ भीतरी तटभूमि तक पहुँचते हैं।

नक्शे मे प्रवाह-द्वीपों के विन्यास की ओर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि ये द्वीप ३०° उत्तरी अक्षांश से ३०° दक्षिणी अक्षांश तक स्थित है तथा प्रशान्त और हिन्द महासागरों में इनकी अधिकता है। इससे ज्ञात होता है कि इन स्थानों पर परिस्थितियाँ प्रवाल कीड के लिए बहुत अनुकूल है। मूगे के कीड़े के लिए सर्वश्रेष्ठ तापक्रम ७३° फा० से ८५° फा० तक होता है। इतना तापक्रम उष्ण कटिबन्ध में महाद्वीपों के पूर्वी तट पर होता है क्योंकि व्यापारिक हवाये समुद्र के ऊपरी गरम जल को छूती हुई आती है। स्थलखण्डों के पश्चिमी तट पर हवायें स्थल से चलकर आती है, अतः इस ओर तापक्रम पूर्वी तट की अपेक्षा कम होता है। यही कारण है कि महाद्वीपो के पश्चिमी तट पर प्रवाल-द्वीपों की संख्या बहुत कम है। संभवतः अमेजन, ओरिनिको और मिसीसिपी आदि नदियों द्वारा लाई हुई

मीठे पानी की अपार जलराशि अटलाण्टिक महासागर में मूंगे से द्वीप-निर्माण में बाधक होती हो।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रवाल द्वीपों के निर्माण के लिए तीन बातों की आवश्यकता होती है—

(क) जल का **तापक्रम ७०° फा०** के आसपास या कुछ अधिक हो, (ख) समुद्र की **गहराई २०० फीट** के आसपास हो, तथा (ग) द्वीप का स्थान नदियों के **मीठे और गँदले जल के प्रभाव से पर्याप्त दूर हो**।

४१०. **प्रवाल चट्टान कैसे बनती है**—प्रवाल कीड़े की अनेक जातियाँ होती हैं। ये कीड़े मुख्यतः कैलशियम कार्बोनेट खाते हैं जो समुद्र-जल में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। यही कारण है कि इस कीड़े के शरीर में चूने की मात्रा अधिक होती है। यह कीड़ा अपने शरीर से एक द्रव पदार्थ निकालकर अपने निचले भाग के चारों ओर एक आवरण-सा बना लेता है। यह आवरण बड़ी जल्दी सख्त हो जाता है और इस ढाँचे के अन्दर कीड़ा बड़े आराम से रहता है। कुछ समय बाद इस बाहिरी ढाँचे में से अंकुर निकलते हैं। इन नये अंकुरों में नये प्रवाल कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं और वे भी अपने इस नवीन आवरण में सुरक्षित रूप से बन्द रहते हैं। नये कीड़ों के विकसित होजाने पर उनके बाहिरी आवरणों में से भी नये-नये अंकुर फूटते रहते हैं। इस प्रकार यह ढाँचा बर्र के छत्तों के समान बढता जाता है। मरे हुए कीड़ों के ढाँचे समुद्र की तली पर गिर जाते हैं और नवीन ढाँचा उनके ऊपर बढ़ता जाता है। यह क्रम शताब्दियों तक चलता रहता है। मरे हुए कीड़ो मे ढाँचे जमकर चट्टान के रूप में बदलते जाते हैं और इस तरह मूँगे की चट्टान धीरे-धीरे ऊँची होती जाती है। जब यह मूँगे का टीला इतना ऊँचा पहुँच जाता है कि भाटे की लहर आने पर जल से कुछ बाहर हो जाय, तो ऊपर की ओर बढ़ना बन्द हो जाता है। जब प्रवाली (चट्टान) समुद्रतल से कुछ नीची रह जाती है, तो समुद्र की लहरें इसके ऊपर बालू, मिट्टी आदि बिछाती रहती हैं। धीरे-धीरे स्थल का एक चबूतरा-सा बन जाता है। लहरों द्वारा लाये हुए बीजों से इनमें पेड़ उग आते हैं। यही प्रवाल-द्वीप की संक्षिप्त कहानी है।

४११. **भेद**—स्थिति और आकार के आधार पर इन द्वीपों को तीन श्रेणियों में बाँटा जाता है। (क) अनुतट प्रवाल श्रेणी, (ख) परातट प्रवाल श्रेणी और (ग) वलयाकार प्रवाल श्रेणी।

(क) **अनुतट प्रवाली** (Fringing Reefs)—जब प्रवाली (मूँगे की चट्टान) किसी महाद्वीप या द्वीप के तट से सटकर बनी होती है, तो उसे अनुतट प्रवाली कहते हैं। अनुतट प्रवाली जब ऊपर की ओर बढ़ती जाती है तभी उसके साथ ही बाहर की ओर भी बढ़ती रहती है। बाहर समुद्र की ओर कीड़े को भोजन-सामग्री

प्रचुर परिणाम में मिल सकती है। बाह्य भाग समुद्रतल के पास जल्दी पहुँच जाता है। बहुत से प्रदेशों में इसका बाहिरी भाग तट से थोड़ी दूर पर ऊँचा उठा हुआ दिखाई देता है और बीच में लम्बी और संकीर्ण लैगून (खाई) रहती है जिसकी तली मूँगे की चट्टान की बनी होती है। लैगून बहुत कम गहरी होती है।

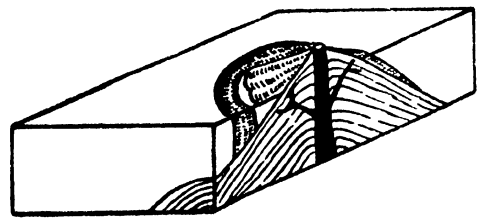

चित्र ११६. अनुतट प्रवाली।

(ख) **परातट प्रवाली** (Barrier Reefs)—जैसा कि नाम से प्रकट होता है, परातट प्रवाली समुद्रतट से कुछ दूरी पर तट के समानान्तर दीवार की तरह उठी हुई होती है। तट और प्रवाली के बीच की लैगून (खाई) काफी चौड़ी और अधिक गहरी होती है। इस प्रकार की विश्व की सबसे बड़ी मूँगे की दीवार आस्ट्रेलिया के पूर्वी तट के समानान्तर बनी हुई है। इस दीवार की लम्बाई लगभग १,२०० मील है। यह कई स्थानों पर खण्डित है। इसकी चौड़ाई १० मील से ९० मील तक है। इसका अधिकांश भाग जलमग्न है, परन्तु कहीं-कहीं जल के बाहर स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। महाद्वीप के तट से इसकी दूरी २० मील से १५० मील तक है।

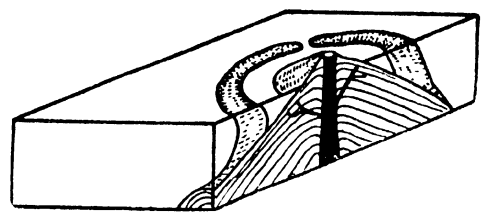

चित्र ११७. परातट प्रवाली।

(ग) **वलयाकार प्रवाली** (Atoll)—जिन प्रवाल द्वीपों की आकृति गोल अथवा घोड़े के नाल के आकार जैसी होती है उन्हें वलयाकार प्रवाली कहते हैं। इनके बीच में खारे पानी की छिछली झील होती है। नाल के खुले हुए भाग द्वारा अथवा गोल द्वीप में किसी खण्डित भाग द्वारा इस झील का खुले समुद्र से सम्बन्ध रहता है जिसमें होकर जल प्रवेश पा सके। ऐसे द्वीप दक्षिणी प्रशान्त महासागर में अधिक संख्या में पाये जाते हैं। किसी तट से कुछ सम्बन्ध न होने के कारण इनकी रचना का कोई स्पष्ट कारण समझ में नहीं आता। इनके निर्माण के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत हैं जिनका नीचे निरूपण किया जा रहा है।

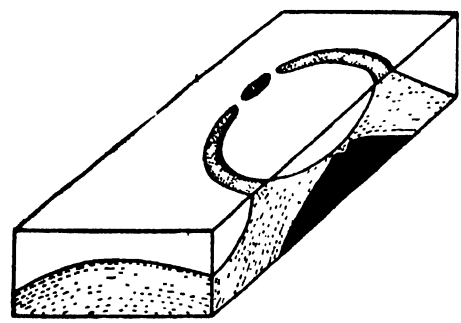

चित्र ११८. वलयाकार प्रवाली।

चार्ल्स डार्विन के मतानुसार वलयाकार प्रवाली प्रारम्भ में किसी ज्वालामुखी पर्वत की चोटी के चारों ओर अनुतट अथवा परातट प्रवाली के रूप में बनी होगी। इस पर्वत चोटी के नीचे धँस जाने से या समुद्र का

तल ऊँचा हो जाने से उसका नवीन रूप अस्तित्व में आया होगा। ज्यों-ज्यों पर्वत नीचे को धँसता गया, त्यों-त्यों मूँगे के कीड़े बाहर की ओर उसका निर्माण करते गये और बीच में झील की गहराई बढ़ती गई।

इस मत के विपरीत सर जान मरे, अगासीज, सैम्पर प्रभृति विद्वानों का मत है कि मूँगे के द्वीप किसी पर्वत अथवा भूभाग के जलमग्न होने से नहीं बने। किन्तु समुद्र के भीतर जलमग्न पर्वतों, पठारों अथवा अन्य ऊँचे भूभागों के ऊपर ही मूँगे के कीड़ों ने प्रवाल-द्वीपों का निर्माण आरम्भ किया।

इन विभिन्न प्रतिपादित मतों में दोनों ही सत्य प्रतीत होते हैं। संभवतया कुछ द्वीप पर्वत या पठार आदि के जलमग्न होने से बने होंगे तथा कुछ ऐसे भी होंगे जिनका निर्माण अदृश्य पर्वतों के ऊपर प्रारम्भ हुआ होगा।

अनुक्रमणिका

अ

अगाध सागरीय तल २९०
अग्रदेश १७०
अनुतटीय बाधक श्रेणी १८६
अन्तःप्रवाह १७९
अन्तर्राष्ट्रीय तिथिरेखा १८
अपचयन की शक्तियाँ ७४
अपरदन (घिसाव) १०९
अवरोधी पर्वत ८२, १७३
अप्रधान गर्तचक्र २५९
अक्षांश १५

आ

आकस्मिक घटनायें ७५
आधारतल १२०
आयनमण्डल १९७
आर्द्रता २३५
आर्द्रता (प्रकेवल) २३६
आर्द्रता (सापेक्ष) २३६
आवर्तन १०, ७३
आश्चुताश्म ११५

उ

उत्तरायण १२
उनीले मेघ २४१
उद्वाष्पन (वाष्पीभवन) २३७
उन्नत कगार (लेवीज़) १२९, १५९
उन्मग्न पहाड़ी तट १८७
उन्मग्न मैदानी तट १८५
उल्कापिण्डों की नीहारिका का सिद्धान्त ३
उषःकल्प ५४
उष्ण मरुस्थल २७४

ऐ

ऐश्चुअरी १५९, १८३

ओ

ओला २४५
ओषोण मण्डल १९६
ओसबिन्दु २३८

क

कन्दरास्तम्भ ११५
कक्षा १२
कालक्षेत्र १८
कार्स्ट स्थानवृत्त ११४, १५६
काँप के ऊँचे मैदान १२८, १६२
कुहरा २४१
कुँज मेघ २४२
कुँतल मेघ २४१
केनयान १२५, १७९

ख

खनिज ६३

ग

गरम वृताँश २५५
गरम सीमान्त २५५
गर्तचक्र का समाप्त होना २५२, २५८
गिरिश्रृंग १३९
गीसर ९२
गुप्त ताप २३४
ग्रहण २१
ग्रहीय परिवाह सिद्धान्त ७७
ग्रीवाखण्ड ८४, १७०

ग्रीवा क्षेत्र १६६

घ

घाटी निर्माण ११८
घाटी (ऊपरी) १२०
घाटी (मध्य) १२१
घाटी (निम्न) १२१
घुमावदार मार्ग (नदी) १६१
घोड़े का अक्षांश २२६

च

चक्रवात २५१
चटकन ८१
चट्टान ६२
चट्टान आग्नेय ६४
चट्टान आग्नेय पातालीय ६५
चट्टान आग्नेय बाह्य ६५
चट्टान आग्नेय मध्यवर्ती (डाइक) ६५, ८६
चट्टान प्रस्तरीभूत ६६
चट्टान रूपान्तरित ७०
चट्टान भेद्य-अभेद्य १११
चतुष्फलक सिद्धान्त ४३
चन्द्रमा २०
चन्द्रकलायें २०
चन्द्रग्रहण २२
चीन-जैसी जलवायु २७६

ज

जलप्रपात १२६
जलरेखा १११
जलवायु १६६
जलविभाजक १२६
जलस्रोत ११२
जलीकरण १०७
जारण १०७
ज्वारभाटा ३०६
ज्वार वाला सिद्धान्त ४
ज्वालामुख ८५
ज्वालामुखी ८५
ज्वालामुखी चक्र ८६
ज्वालामुखी जाग्रत ६५
ज्वालामुखी प्रसुप्त ६५
ज्वालामुखी शान्त ६६

झ

झरना ११३
झील १६०

ट

टुण्ड्रा टाइप २८६

ड

डेल्टा १२६, १५६
डोलड्रम्स २२७

ढ

ढाल के अनुरूप नदी १२१
ढाल के अनुरूप उपधारा १२१
ढाल के अनुरूप सहायक उपधारा १२२

त

तटरेखा १८२
तनाव ५०, ८०
तापक्रम २०१
तापक्रम में दैनिक परिवर्तन २०६
तापक्रम में ऋतु-अनुसार परिवर्तन २१०
तापक्रम की विलोमता २१२
तापज चक्रवात २५६
तापीय चक्र ४६, ७७
तापीय संकोचन ७५
तुषार १३१, १३२

द

दरार ८१
दरारी घाटी ८२
दक्षिणायन १३
दीर्घकालिक घटनायें ७३
देशान्तर १७
दोआब १६१

ध

धनुषाकार झील १६२, १६३
धारायें २६८
धुंआरे ६२
धुंआरे (गन्धकीय) ६३
ध्रुवीय सीमान्त २५३

न

नदी का घाटी चक्र १२४
नदी की नवीन अवस्था १२४
नदी की मध्य अवस्था १२६
नदी की जीर्णावस्था १२७
नदी में नवजीवन १२८
नदी तट १८३
नवकल्प ५८
निर्बल क्षेत्र १७०
निश्चुताश्म ११५
निक्षेप (रचनात्मक कार्य) ११०

प

परतीले मेघ २४१
परिवर्तमण्डल १६६
परिवहन १०६
पर्वत (ज्वालामुखी) १७३
पर्वत (घिसाव द्वारा निर्मित) १७३
पर्वत (अवरोधी) १७३
पठार जलीय १७५
पठार वायव्य १७६
पठार हिम्य १७६
पठार उत्स्यन्द १७७
पठार मिश्रित १७७
पठार अन्तरापर्वतीय १७७
पठार प्रान्ती १७८
पठार महाद्वीपीय १७८
पठार शुष्क १७६
पठार आर्द्र १७६
पठार हिम्य १८०
पवन २२६
पवन (जलस्थल) २३२
पश्चिमी यूरोप जैसी जलवायु २८१
पहाड़ी प्रदेश १८०
पाताल तोड़ कुयें ११३
पानी हड़पना (नदी) १२२
पाषाण वृक्ष ११६
पुराकल्प ५४
पूर्व आरोपित प्रवाह १२३
पृष्ठदेश १७०
पोताश्रय १८८
पंक ज्वालामुखी ६३
प्रकाशवृत्त ११, २०३
प्रतिचक्रवात २६२
प्रतिनति ८३, १७२
प्रवाह प्रणाली (नदी) १२१
प्रवाह-प्रदेश ११७
प्रवाली अनुतट ३१४
प्रवाली परातट ३१५
प्रवाली वलयाकार ३१५
प्राकृतिक पिरामिड १४७, १८७
प्रामाणिक समय १८

प्रांगारीयण १०७

फ

फियोर्ड १८४
फैरल का नियम २२६

ब

बट ८७
वर्षा वाहनिक २४२
वर्षा पार्वत्य २४३
वर्षा चक्रवातीय २४४
बालु का स्तूप १५७
बैरोमीटर का ज्वारभाटा २२२

भ

भिचाव ८०, ८२
भू-आकार ७३
भूकम्प ९८
भूकम्प उत्पत्ति-स्थान १०१
भूकम्प-केन्द्र १०१
भूकम्प तरंग २८, १०१
भूमध्यरेखिक जलवायु २६७
भूमध्यसागरीय जलवायु २७६
भूमि आवरण ७१
भूमि का उठाव ११८
भूमिगत जल (पातालजल) ११०, १११
भूम्युत्थान चक्र ७४
भू-संनति १६०
भौगर्भिक शक्तियाँ ७३
भँवर १२६
भ्रंश क्षेत्र ८१

म

मध्य कल्प ५६
मध्यपिण्ड १७१
महाद्वीपीय प्रवाह (वेगनर) ४७, ७६
महाद्वीपीय निमग्नतट २८९
महाद्वीपीय ढाल २९०
मानसून हवायें २३१
मानसून टाइप जलवायु २७१
मेषशिलायें १४०
मैदान-नदी घर्षित अन्तरास्थलीय १५५
मैदान हिमानी घर्षित अन्तरास्थलीय १५६
मैदान तरग घर्षित १८४
मैदान पर्वत प्रान्ती १२८, १६२
मैदान बाढ निर्मि १२८त, १६०
मैदान हिमानी निर्मित १६२
मैदान हवा निर्मित १६३
मैदान तटीय १६३
मोरेन १४२
मौसम १९९
मौसमी क्षति १०७

य

यथापूर्व प्रवाह १२३
यथास्थानीय पट्टी ८३, १६७
यू-घाटी १३९

ल

लटकती घाटी १४०
लहरें १४४, २७९
लावा आल ९०
लावा पैठिक ९१
लैकोलिथ ८७
लैगून झील १८६
लोयस १५३

व

वायुभार २२०
वायुधारा २२५
वायु विरचित पाषाणखण्ड १४९

वारिपथ (तलैटी) ११६
वितोदन ८४, १६७
विलयन १०८
विषम मोड़ ८३
वृष्टिच्छाया २४३
वेला द्वार १८६
वेला धावन १८६

स

समतलस्थापक शक्तियाँ ७३, ७४
समतापमण्डल १६६
समतुलन का सिद्धान्त ३४, ७६
समतोलत तल ३७
समवृष्टि रेखायें २४६
समार्हनिश १५
समुद्रजल का खारापन २६१
समुद्रजल में तापक्रम २६३
साइक्लोन २६१
साइबेरियन टाइव २८३
सागरगर्त २६१
सिग्राल २६, ३१
सिग्राल का छिन्न-भिन्न होना ४५
सिमा २६, ३०, ३१
सीमान्त गर्तचक्र २५१
सूर्य ५
सूर्यग्रहण २३
सूर्यताप २०१
सूडान टाइप जलवायु २७०
सौरमण्डल १, ५
संघनन (घनीभवन) २३८
संधिस्थान (जोड़) ८१
संनति ८३, १७२
संपात (ग्रीष्म और शरद) १४
संपृक्त वायु २३६
संरचना द्वार १६६
संवाहन-परिवाह सिद्धान्त ५१
सेंट लारेंस टाइप २८४
स्तर भ्रंश ८०
स्तर का मुडाव ८१, ८२
स्टेप टाइप २७८
स्थली अंकुश १८४

श

शिला चूर्णन १०८
शीत वृत्तांश २५५
शीत सीमान्त २५५
शंकु डेल्टा १२८

ह

हवायें २२६
हवायें व्यापारिक २२८
हवायें पछवा २२६
हिम खड्ड १३६
हिमरेखा १३१
हिमक्षेत्र १३१
हिममण्डित प्रदेश २८७
हिमागार १३८
हिमानी १३८
हिमानी महाद्वीपीय १३३
हिमानी पर्वतीय १३४
हिमावरण १३३
हँसियाकार टीला १८४

हमारे साहित्यिक प्रकाशन

साहित्यिक निबंध

समीक्षण	कन्हैयालाल सहल	३)
आलोचना के पथ पर	,, ,,	४)
दृष्टिकोण	,, ,,	१।।)
साहित्य-जिज्ञासा	ललिताप्रसाद शुक्ल	३)
कला और सौन्दर्य	रामकृष्ण शुक्ल	३।।।)
गतिवाद की रूपरेखा	मन्मथनाथ गुप्त	७)
तुलनात्मक अध्ययन	कृष्णचन्द शर्मा, देवीशरण रस्तोगी	४)
प्रबन्ध-सागर	यज्ञदत्त शर्मा	५।।)
संतुलन	भाकर माचवे	४)

आलोचनात्मक

आलोचक रामचन्द्र शुक्ल	गुलाबराय, वजेन्द्र स्नातक	६)
महादेवी वर्मा	शचीरानी गुर्टू	६)
सुमित्रानन्दन पंत	,, ,,	६)
प्रेमचंद : जीवन और कृतित्व	हंसराज रहबर	६।।)
प्रसाद : जीवन और साहित्य	रामरत्न भटनागर	४)
कबीर-साहित्य और सिद्धान्त	यज्ञदत्त शर्मा	२।।)
महाकवि सूरदास	नन्ददुलारे वाजपेयी	४)
हिन्दी निबन्धकार	जयनाथ नलिन	६)
हिन्दी के नाटककार	,, ,,	५)
हिन्दी के कहानीकार	मोहनलाल जिज्ञासु	३)
काव्य-विमर्श	गुलाबराय	३।।)
मध्यकालीन हिन्दी क वयित्रियाँ	सावित्री सिन्हा	७)
साहित्य-विवेचन	क्षेमचन्द्र सुमन, योगेन्द्र मलिक	७।।)
काव्य के रूप	गुलाबराय	४।।।)
सिद्धान्त और अध्ययन	,,	६)
साहित्य-समीक्षा	,,	१।।।)

आत्माराम एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली